



कालिदास के सुभाषित

भगवतशरण उपाध्याय

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—६३

प्रयाग चतुर्वेदी

कालिदासके सुभाषित

भगवत शरण उपाध्याय

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए०

प्रथम संस्करण • १९५९ • मूल्य पाँच रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

*

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

कालिदासके सुभाषित

श्री ए० पी० दीक्षित जी आई० ए० एस० के द्वारा प्रदत्त।

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥

—अ० शा०, ६ ,४

बृहद्वयो बृहते तुभ्यमग्ने धियाजुरो मिथुनासः सचन्त ।

——पुत्रवधू स्नेह और पुत्र ओंकारनाथको,

उनके विवाह (२० मई १९५६ ई०) की

तीसरी वर्ष-तिथि पर——

• विषय-क्रम •

•

दो शब्द

कालिदासका सौन्दर्य उनका-सा सहृदय ही परख सकता है। न मैं कवि हूँ न पारखी, जिज्ञासु मात्र हूँ। जिज्ञासाने ही मेरे भीतर उस महाकविके प्रति लौ लगाई है। मैंने तो केवल मणिहार-की तरह मणियोंको गूँथ भर दिया है। उनकी पहचान तो जान-कार ही करेंगे।

संस्कृतके प्रति संसारकी बढ़ती हुई आस्थाने मुझे कालिदासके सुभाषित एकत्र करनेको बाध्य किया। मुझे सदा लगता रहा है कि बिना संस्कृत साहित्यसे परिचित हुए आजका शिष्ट अनेक अंशों-में अपूर्ण रह जायगा, और कि उस साहित्यकी सुरुचिका सुमेरु-कालिदासने रचा है, सो जिसने उसे न जाना वह निश्चय अभागा है। अनेक सहृदय पाठक अभिज्ञ हैं, अधिकारी साहित्यकार भी हैं, पर संस्कृतसे परिचित न होनेके कारण वे सहज ही उसके अनंत अक्षय गरिम आनन्दसे वंचित रह जाते हैं। उन्हींमें मेरे पुत्र और पुत्रवधू भी हैं जिनके ज्ञान और सुखके लिए मैंने कालिदासके ये सुभाषित संकलित किये हूँ। उन्हींको ये समर्पित भी हैं। यदि उनके साथ ही अन्य सहृदयोंका भी मनोरंजन इनसे हुआ तो मैं अपना श्रम सफल मानूँगा।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है कालिदासके सुभाषितोंका कोई संकलन अबतक प्रकाशित नहीं है। इसी विचारसे विशेष प्रेरित होकर मैंने

यह ग्रंथ प्रायः तीन वर्ष पहले आरंभ किया था और चाहा था कि अपने पुत्र और पुत्रवधूके विवाहके अवसर पर ही इसे समाप्त कर दूँ परन्तु अन्यत्र व्यस्त रहनेके कारण इसमें अवकाशमें ही हाथ लगा सका। त्रुटियाँ इसमें अनेक होंगी पर आशा करता हूँ, विज्ञ पाठक इन्हें सही कर लेंगे और मुझे भी उनके प्रति सजग कर अनुग्रहीत करेंगे। ग्रंथकी पांडुलिपि मेरे मित्र श्री मंगलाप्रसाद पांडेयने प्रस्तुत की है। उनका कृतज्ञ हूँ। हमारे प्रकाशकके प्रेस 'सन्मति-मुद्रणालय' ने जिस लगन और गतिसे इस पुस्तकको छापा है उसने मुझे उसका चिरकृतज्ञ बना दिया है। इस अवसर पर उसके प्रति अपना आभार प्रगट किये बिना नहीं रह सकता।

काशी,
१६-१०-१९५८

—भगवतशरण उपाध्याय

कालिदासके सुभाषित

भूमिका

संस्कृतकी भारतीका उदय हज़ारों साल पहले हुआ। निसर्गको देख मानव नाचा। उसने निसर्गको अपनी आँखों नाप लिया। प्रकृतिकी छटा उसके अन्तराकाशमें छा गई। वेदोंकी गेय भारती उसपर बरस पड़ी। उसने शुक्लवसना रजतरथचारिणी मोहिनी उषाको पुकारा—

विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः।
पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्त्तस्य देवी जरयन्त्यायुः॥

उस निसर्गप्रिय गायकने इन्द्राणीको उसकी दृप्त वाणी दी—

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी—

वही वाणी वागम्भृणीके कण्ठसे दृप्ततर फूटी—

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥

संस्कृतकी व्यापक मधुर भाषामें ऋषियोंसे पहले भी मानव गाता था, उनसे पीछे भी गाता रहा। प्रकृतिके एकान्तिक सान्निध्यमें वाल्मीकिका काव्य पला और मानवका शक्तिमान् पौरुष आदिम वनोंको आसमुद्र लाँघ चला। व्यासने वेदोंका प्रवहमान रस छाना, मानवको निसर्गका नायक मान उसकी सत्ता केन्द्रित की, उसकी श्रेष्ठताकी घोषणा की—

गुह्यं तदिदं ब्रह्म ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

दर्शनकी भाषामें लिपटी गीताकी मधुर वाणी शीघ्र दर्शनकी परिधिको लाँघ काव्यकी कायामें पैठी और उसने सावधि कविगायनको प्रेरणा दी। अश्वघोषने दार्शनिक भिक्षु होते भी 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' के कमनीय काव्य-कलेवर 'रामायण' और 'महाभारत' के प्रबन्धानुकरणमें रचे। जीवन, दर्शनकी लौहशृङ्खलामें घुटता भी, नये स्रोतसे अभिराम फूटा—

नाहं यियासोर्गुरुदर्शनार्थमर्हामि कर्तुं तव धर्मपीडाम्।
गच्छार्यपुत्रेह च शीघ्रमेव विशेषको यावदयं न शुष्कः॥
सा तं प्रयान्तं रमणं प्रदध्यौ प्रध्यानशून्यस्थितनिश्चलाक्षी।
स्थितोच्चकर्णा व्यपविद्धशष्पा भ्रान्तं मृगं भ्रान्तमुखी मृगीव॥

फिर सुबन्धु और भास, सौमिल्ल और कविपुत्र आये, आर्यसूर और अवदानोंके रचयिता आये, और अन्तमें कविकुलगुरु कालिदास। युगोंका गुना ज्ञान, गायी गाथा, आचरित चरित, आलोकित प्रसाधित शृङ्गार, आर्द्र तरल सर्वस्पर्शी दिगन्तव्यापी मानवीयता उनकी मेधामें समायी, गठी, अन्तरमें उमड़ी-घुमड़ी और कण्ठसे फूट पड़ी, लेखनीसे बरस पड़ी। संसार उस मधुर भारतीकी घूंट पी फूला न समाया, छक चला। गिराने कविमालामें सुमेरु जड़ा।

काल और जीवन

कालिदास अपने यशके विस्तार और व्यक्तित्वकी निकटताके कारण देशकालातीत हो गये हैं। इसीसे उनकी जन्मतिथि और जन्मस्थानके सम्बन्धमें कुछ निश्चित निर्णय दे सकना कठिन है। स्वयं कविने भारतकी शिष्ट परम्पराके अनुसार ही अपना नाम-ग्राम नहीं दिया, न उन्होंने अपने कालका ही प्रत्यक्ष उल्लेख किया। और कवियोंकी भाँति उन्होंने अपने कुल और पूर्वजों तककी बात नहीं लिखी। परिणामतः हमें कविके ग्रन्थोंसे ही सामग्री निचोड़कर निष्कर्ष अनुमानतः प्राप्त करना पड़ता है।

पहिले काल। कालिदासका समय ई० पू० दूसरी सदी और ईसवी छठी सदीके बीच विविध युगोंमें विद्वानोंने आँका है। इन दोनों सीमाओं-को फिर भी कविकी अपनी ही आन्तरिक सामग्रीसे पर्याप्त संकुचित किया जा सकता है। इनमेंसे पहली सीमा प्राचीनताकी दिशामें अन्तिम इस कारण हो जाती है कि कविने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में पुष्यमित्र शुंगके बेटे राजा अग्निमित्रको नायक बनाया है, और महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिका समकालीन वह सेनापति पुष्यमित्र शुंग ईसा पूर्वकी दूसरी सदीमें हुआ था। कालिदास पतञ्जलिके प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् हैं और उनके संकेतोंसे स्पष्ट है कि मुनिको वे प्राचीन मानते हैं। यदि हम उन्हें अग्निमित्रका समकालीन मानें तो मुनिका भी समकालीन मानना पड़ता है, जो सम्भव नहीं।

दूसरा अनुमान कालिदास और विक्रमादित्यके समकालीन होनेका है और उस विक्रमादित्यको पहली सदी ई० पू० में रक्खा जाता है। कालि-दासका यह सम्बन्ध विक्रमादित्यके नवरत्नोंमेंसे होनेके कारण ही अधिकतर माना जाता है। पर यह परम्परा पूर्णतः सत्यके रूपमें नहीं स्वीकार की जा सकती। जो ऐतिहासिक आभास इसमें तर्कसंमत होनेका प्रयत्न करता है वह वस्तुतः अभी सिद्ध नहीं मात्र साध्य है। नवरत्नोंके व्यक्तित्व परस्पर समकालीन नहीं, अनेक एक दूसरेसे सदियों दूर भी है। फिर इससे भी कठिन समस्या विक्रमादित्यको पहिचाननेमें है। विक्रमादित्योंकी संख्या अनेक है और यह कह सकना असम्भव है कि पहली सदी ई० पू० में कौन-सा विक्रमादित्य हुआ। कुछ अजब नहीं जो प्रयत्न करनेसे यह प्रमाणित किया जा सके कि नवरत्नोंमेंसे अनेक विविध विक्रमादित्योंके आश्रय या दरबारमें रहे थे। फिर भी परम्परया यह सत्य जान पड़ता है कि कालिदास किसी विक्रमादित्यसे संबन्धित थे। विक्रमादित्योंकी परम्परामें दो विशेष प्रसिद्ध हुए हैं—एक ईसासे ५६–५७ साल पहले विक्रम संवत्का प्रतिष्ठाता था, दूसरा पाँचवीं सदीका गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त था। इनमेंसे

पहला साहित्य और ऐतिहासिक परम्परामें निर्दिष्ट अवश्य हुआ है परन्तु सामग्रीकी कमीके कारण हम उसके संबन्धमें स्पष्टतः न कुछ विशेष जानते हैं, न कह सकते हैं। उसके बाद बस एक ही विक्रमादित्य गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त रह जाता है जिसका समकालीन होना कविके लिए सम्भव जान पड़ता है। चन्दगुप्तके बादका विक्रमादित्य उसीका पोता स्कन्दगुप्त था जिसका सम्भव है जन्म तो कालिदासने देखा हो पर अन्त उसका उन्होंने निश्चय नहीं देखा। कारण कि, पहले तो, जिस शान्ति और समृद्धिका कविके ग्रन्थोंसे परिचय मिलता है वह हूणोंकी भारतविजयसे उत्पन्न उथल-पुथलके पहले गुप्त साम्राज्यकी संरक्षामें ही सम्भव हो सकता था। और हूणों द्वारा भारतकी वह विजय लगभग ४५० ई० में हुई थी। दूसरे कालिदासने अपने रघु द्वारा हूणोंका पराभव वंक्षु या आमू दरियाके तीर कराया है। इतिहास द्वारा यह प्रमाणित है कि ४५० ई० से काफी पहले उस दरियाके तीर बदख्शाँमें हूण जा बसे थे। अतः कालिदासको ४५० ई० से पहले मानना होगा।

कविके ग्रन्थोंको जो जितनी ही गम्भीरतासे पढ़ता है, जितनी ही बार पढ़ता है, उतनी ही बार इतिहासके उस जानकार पाठकको उन ग्रन्थों पर गुप्तोंकी छाया स्पष्ट दीखती है। काव्योंके अनेक स्थल गुप्त सम्राटोंकी प्रशस्तियोंसे सर्वथा मिल जाते हैं। गुप्त सिक्कों पर जो कविता पंक्ति-खंडमें अंकित मिलती है उसका सादृश्य भी कविके श्लोक-चरणोंसे असाधारण है। उस कालकी समूची विश्वास-परम्परा, धार्मिक आस्था और पौराणिक जनविश्वास कालिदासके ग्रंथोंमें खुल पड़े हैं। पुराणोंके बहुसंख्यक देवी-देवताओंका प्रतिबिम्ब कविके वर्णनोंपर भरपूर पड़ा है। पुराणोंका वर्त्तमान संस्करण प्रायः गुप्तकालमें ही सम्पन्न हुआ था। समकालीन चित्रकला और मूर्तिकला तथा पृष्ठभूमिके कुषाणकालीन वास्तु और तक्षणकी ओर कविने पद-पद पर संकेत किया है। कुषाणकालीन स्तंभोंकी यक्षी मूर्तियोंका तो कालिदासने परित्यक्ता अयोध्याकी दयनीय दशाके

संबंधमें वर्णन किया ही है उस कालके जनविश्वासमें प्रेमको विशेष रूप से साधनेवाले यक्षोंमें रसिक यक्षको ही कविने अपने अभिराम खंड-काव्य 'मेघदूत'का नायक भी बनाया है। गुप्तकालीन मूर्तिकलाके कुछ ऐसे प्रतीकोंकी ओर भी कालिदासने संकेत किया है जो न तो गुप्तोंके पहिले की कलामें थे, न पीछेकी कलामें, मात्र गुप्तोंकी कलामें ही सिरजे गये। इससे कालिदासको गुप्त सम्राटोंका ही समकालीन मानना मुनासिब जान पड़ता है।

यदि हम कालिदासके समयको युगोंकी जानी हुई सीमाओंमें समझना चाहें तो साधारणतः कह सकते हैं कि कवि समुद्रगुप्तके शासनकालमें जन्म लेकर स्कन्दगुप्त विक्रमादित्यके जन्मकाल तक जीवित रहा था और उसमें अपने ग्रन्थोंकी रचना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समूचे और कुमार-गप्त शक्रादित्यके अधिकतर राज्यकालमें की थी। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि पुष्यमित्रोंके विद्रोह और हूणोंके युद्धके पहले ही कविका निधन हो गया था। हूणोंके युद्धकी तिथि लगभग ४५० ई० है। इस प्रकार ३६५ ई० के लगभग कविका जन्म और ४४५ ई० के लगभग उसका निधन माना जा सकता है। और यदि उसने ३९० ई० के लगभग २५ वर्षकी आयुमें काव्य रचना आरम्भ किया हो और अन्त तक लिखता रहा हो, जो उसकी रचनाओंकी विविधता और कोमलताओंसे सिद्ध है, तो निश्चय उसकी रचनाओंका काल-प्रसार प्रायः आधी सदी रहा होगा।

कविके प्रति देशके सहृदयों और आलोचकोंका इतना मोह रहा है कि लोगोंने उसे उड़ीसा और बंगालसे लेकर मालवा और कश्मीर तकका निवासी होनेका अनुमान किया है। इस अनुमानको इससे और भी पुष्टि मिली है कि कविने स्थानीय पशु-पक्षियों, फूल-पौधों, स्थितियों और ऋतुओंका आँखों देखा और निकटतः वर्णन किया है। पूर्व समुद्रसे पश्चिम समुद्र तक और गोदावरीसे कराकोरम तक जो कालिदासके जन्म-स्थान माने गये हैं उनमें दो ही स्थान संभाव्य जान पड़ते हैं—मालवा

और कश्मीर। निःसन्देह मालवाकी भूमि अनेक प्रकारसे उर्वर है पर साहित्यिक परम्पराकी दृष्टिसे कश्मीर अधिक ऋद्ध रहा है। कैयट, मम्मट, रुद्रट, बिल्हण, जल्हण, अभिनवगुप्त, दामोदरगुप्त, क्षेमेंद्र, श्रीहर्ष, बल्लभ आदिकी परम्परा भारतीय प्रांतोंकी साहित्य-परम्पराओंमें असाधारण है। यह स्वयं निःसन्देह कोई प्रमाण नहीं फिर भी यह वातावरण उसकी पृष्ठभूमि निश्चय प्रस्तुत कर सकता है।

मालवासे कालिदासका सम्बन्ध विशेषकर उनके विक्रमादित्यके नवरत्नोंसे सम्बन्धके कारण है। ऊपर लिखा जा चुका है कि पहली सदी ई० पू० में किसी विक्रमादित्यका मालवामें होना आजकी ऐतिहासिक सामग्रीसे अभी स्पष्टतः प्रमाणित नहीं है और जैसा पहले लिखा जा चुका है, कमसे कम नवरत्नोंके 'रत्नों'के परस्पर समकालीन न होनेसे इतिहासतः वह परम्परा भी कमज़ोर हो जाती है, सिवा इसके कि कालिदास किसी विक्रमादित्यके मान्य हो सकते हैं। वह विक्रमादित्य गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्तके होनेकी भी संभावना प्रस्तुत की जा चुकी है। चंद्रगुप्तकी सभा प्रधानतः पाटलिपुत्रमें थी यद्यपि मालवाके साम्राज्यमें आने-जाने पर उज्जयिनीको दूसरी राजधानी बनाकर गुप्त सम्राट्का वहाँ दरबार करना संभाव्य और तर्कसंमत है। पर इससे मालवासे कविका संबन्ध मात्र स्थापित हो सकता है, उसके जन्मस्थानका निर्णय नहीं हो सकता। प्रवासित यक्षके रामगिरि (रामटेक) में रहनेकी बात मालवा के पक्षमें कम कश्मीरके पक्षमें अधिक लगती है क्योंकि रामगिरि मालवासे निकट है कश्मीरसे दूर। फिर यक्षोंकी परम्परासे मालवाका कोई संपर्क नहीं, कश्मीरका प्रभूत है। इससे कालिदासका मालवाका निवासी होना सिद्ध नहीं होता।

इसके विपरीत कश्मीरके पक्षमें यह कहा जा सकता है कि कविका संकेत उसकी ओर अधिक है। हिमालयके प्रति उसका विशेष पक्षपात

है। बार-बार वह उसकी श्रेणियों-शृङ्खलाओं, रत्नौषधिसंपदा, जीवजन्तुओं, जनविश्वासोंकी चर्चा करता है। 'कुमारसंभव'की समूची कथा और 'मेघदूत'का कमसे कम समूचा उत्तर भाग हिमालयसे ही सम्बन्धित है, पूर्व-मेघमें भी आरम्भसे अन्त तक एक ही साथ ध्वनित हुई है, अलका पहुँचने की। अलका हिमालयकी कैलासगत उन ऊँचाइयोंमें है जहाँ खिड़कियोंसे पैठकर घन भवनके चित्रोंको अपने जलसे गीला कर आते हैं। 'विक्रमोर्वशीय'का चौथा और 'शाकुन्तल'का सातवाँ अंक हिमालयसे ही संपर्क रखते हैं। इसी प्रकार 'रघुवंश'के पहले, चौथे और सातवें सर्ग भी उसी पर्वतमालाके दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

यदि 'मेघदूत'के यक्षकी विरह-तड़पन किसी अंशमें भी कविकी आत्मानुभूति है तो निश्चय ही यक्षकी प्रेरणा-भूमि हिमालयाञ्चलीय अलका है और तब कालिदासका जन्मस्थान उसी दिशामें होना संभाव्य प्रतीत होता है। एक बार हिमालयकी परिधिमें उस जन्मस्थानके आजाने पर कश्मीरको अपने आप उसका श्रेय मिल जायगा। फिर अनेक प्रमाण उस दिशामें स्वतन्त्र रूप से भी संकेत करते हैं। कालिदास अनायास कश्मीरके उत्तरी भागका, और तर्कतः कश्मीरका भी, सविस्तर वर्णन करते हैं। सिन्धको घाटी (कर्राकोरम) उन्हें विशेष प्रिय है। कश्मीरकी कथाओं, स्थानों और दृश्योंका वर्णन कविके काव्य-भण्डारमें अपने आप खुल पड़ा है। कश्मीरकी प्रथाओं, विश्वासों और सामाजिक रीतियोंका जो वर्णन हुआ है वह कुछ ऐसा है जिससे स्वदेश-प्रेमकी महक आती है, जिसे कश्मीरका निवासी ही कर सकता था। उनके प्रति कविकी सजग आत्मीयता ऐसी है कि लगता है वह उनके बीच ही पला हो। पण्डितोंका मत है कि कालिदासका निजी धर्म-विश्वास उस प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में है जिसका दूसरा नाम कश्मीरी शैव-धर्म है, इसलिए कि उसका आरम्भ और विस्तार कश्मीरमें ही हुआ था और कविके कालमें कश्मीरके बाहर अभी उसका प्रचार नहीं हो सका था। नवीं सदीमें सोमानन्दके प्रयाससे

उस धर्म-दर्शनका प्रचार कश्मीरसे बाहर हुआ। कालिदासने अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तल'में इस प्रत्यभिज्ञाका अप्रत्यक्ष रूपसे संकेत किया है। 'मेघदूत'का यक्ष कश्मीरकी ओर विशेष रूपसे देखता है। यक्षोंका देश दैवी योनिके रूपमें, चाहे कैलास रहा हो, परन्तु उसके मानव परिवार कश्मीरमें ही सदा बसते रहे हैं और आज भी एक जातिके कश्मीरी पण्डितोंकी उपाधि 'यख' है।

इन सब कारणोंसे प्रकट होता है कि कालिदासके कश्मीरमें उत्पन्न होने की संभावना अन्यत्र कहींकी संभावनासे प्रबलतर है। और जबतक अकाट्य प्रमाण उसके अन्यत्रके होनेके न मिल जायँ कविको कश्मीरी शैव ब्राह्मण ही मानना मुनासिब होगा। इस सम्बन्धमें यह कह देना नामुनासिब न होगा कि अनेक कश्मीरी पण्डितोंने आजकी ही तरह पहले भी अपना अधिकतर जीवन कश्मीरकी घाटीके बाहर भारतके अन्य प्रान्तोंमें बिताया है, कुछ अजब नहीं जो कालिदासने भी अपने जीवनका अधिकतर भाग कश्मीरके बाहर ही बिताया हो। मालवासे भी उनका सम्बन्ध गहरा और लम्बा प्रतीत होता है। अन्यत्रकी बातें भी उनके काव्योंमें इस प्रकार खुलकर आती हैं कि उनसे अधिकतर उनका वैयक्तिक परिचय जान पड़ता है। प्रगट है कि वे असाधारण पर्यटक थे और उन्होंने देशका पर्याप्त भ्रमण किया था। जिस स्पष्ट सजीवतासे उन्होंने लंकासे अयोध्या और रामगिरिसे कैलास तकका वर्णन किया है उसके प्रत्यक्ष-दर्शनका प्रमाण मिलता है। महाकवि का प्रकृत देश कश्मीर ही जान पड़ता है।

एक परम्परा कालिदासके लंका जाकर वेश्याके विषसे मरने पर उनके मित्र कुमारदास द्वारा उनके शवके चितारोहणके साथ ही उस चितामें जल मरनेका उल्लेख करती है, पर उसके लिए कोई प्रमाण नहीं। दोनोंके कालकी दूरी भी उनकी पारस्परिक समकालीनता असिद्ध कर देती है। साथ ही उस किंवदन्तीकी सच्चाईका भी प्रमाण नहीं कि कालिदास पहले मूर्ख थे और जिस डाली पर बैठे थे उसीको काट रहे थे, और कि विदुषी पत्नीके तानोंसे घर छोड़कर काली और सरस्वतीकी आराधनासे विदग्ध

और विचक्षण हुए । उनकी असाधारण प्रतिभा और उनके सम्बन्धमें जानकारीकी कभीने ही अनेक किंवदन्तियों और परम्पराओंका सम्बन्ध उनके जीवनसे कालान्तरमें कर दिया है । (मेरी पुस्तक 'कालिदास: जीवन और साहित्य' के आधार पर । कालिदासके कालके विस्तृत विवेचनके लिए देखिए मेरी 'इण्डिया इन कालिदास' और 'कालिदासका भारत') ।

कालिदासका साहित्य

कालिदासका साहित्य अत्यन्त समृद्ध है, उनकी रचनाओंके भीतर प्रतिबिम्बित होने वाला उनका जाना-पढ़ा साहित्य भी, और अपना रचा भी । उनके अपने रचे साहित्यकी सूक्तियोंका स्वाद तो आगेके अध्यायोंमें मिलेगा ही, यहाँ संक्षेपमें उनकी कृतियोंका उल्लेख फिर भी कर देना समीचीन होगा, विशेषत: इस कारण भी कि इस ग्रन्थमें अन्यत्र कहीं उनकी संबद्ध चर्चा नहीं है ।

कालिदासकी लोकप्रियताने अनुश्रुतियों-किंवदंतियों द्वारा कोड़ियों काव्यों और ग्रन्थोंकी रचनाका उन्हें श्रेय दिया है । पीछेकी सदियोंमें तो अनेक ऐसे कवि हुए जिन्होंने 'कालिदास' नामसे ही कविता भी की और परिणामत: उनकी रचनाएँ भी कालान्तरमें समर्थगामी न्यायके अनुसार प्रकृत कालिदासके नामसे सम्बद्ध हो गईं । फलत: कालिदासकी परम्परासे सम्बन्धित ग्रन्थोंके विषय काव्यसे ज्योतिष तकके हैं । इन परम्पराओंको शक्ति इससे भी मिल गई है कि कविका पाण्डित्य असाधारण है और उसके काव्योंसे प्रमाणित है कि अनेकानेक विषयों पर उसका अधिकार विशेषज्ञका-सा था ।

पर वस्तुत: जैसा मल्लिनाथ आदि प्राचीन समीक्षकों और काव्य-जिज्ञासुओंके प्रमाणोंसे प्रमाणित है, कालिदासकी अपनी कुल सात ही कृतियाँ हैं, तीन नाटक और चार काव्य । वे निम्नलिखित हैं—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, और अभिज्ञान शाकुन्तल, और ऋतुसंहार, मेघदूत, रघुवंश तथा कुमारसम्भव । 'कुन्तलेश्वरदौत्य' काव्यका रचयिता भी कालिदासको

ही कश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्रने अपनी 'औचित्य-विचारचर्चा' में माना है। पर अभी तक वह कृति उपलब्ध न हो सकी । 'ऋतुसंहार' को उसकी साधारणता और सादगीके कारण कुछ विद्वानोंने कालिदासकी रचना माननेमें आपत्ति की है। पर इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वह कविकी प्रारंभिक और अप्रौढ़ कृति है । वैसे उसमें भी अनेक चमत्कारी स्थल हैं और उसकी अनेक पद-शब्दावलियाँ कालिदासकी प्रौढ़तम कृतियोंमें भी कविकी आत्मीय वरीयताओंकी-सी प्रयुक्त हुई हैं । फिर कविके प्रौढ़तर काव्योंके मुकाबिले 'ऋतुसंहार' अगर हल्का पड़ता है तो उसी तरह जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की अपेक्षा 'मालविकाग्निमित्र' हल्का है, पर जैसे यह नाटक, इसमें कालिदासका नाम लिखा होनेसे भी, कविका सर्वसम्मतिसे माना जाता है, 'ऋतुसंहार' को भी कालिदासकी ही रचना माननेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए । फिर उसकी अदम्य मानवीयता, प्रकृतिके साथ मानवका विलास, ऋतुओंके बदलते स्वरूपका शक्तिम वर्णन साधारण कविके बसकी बात भी न थी । 'कुमार-सम्भव' की बात और है । वह आठवें सर्ग तक ही प्रामाणिक है । शेष ग्यारह सर्ग उसमें पीछे जोड़ दिये गये हैं । ग्यारह सर्ग काव्यकी प्राचीन हस्तलिपियोंमें नहीं मिलते, फिर कालिदासके प्रधान और अनन्यमेधावी टीकाकार मल्लिनाथने भी उनकी उपेक्षा कर केवल पहले आठ सर्गोंकी ही व्याख्या की है ।

कालिदासकी रचनाओंका काल-क्रम काव्यकारिता और भाव-प्रौढ़ताकी दृष्टिसे इस प्रकार स्थित करना शायद अनुचित न होगा—काव्योंमें—ऋतु-संहार, मेघदूत, रघुवंश, कुमारसम्भव, और—नाटकोंमें—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल । ये रचनाएँ सभी दृष्टिसे उत्तरोत्तर प्रौढ़ और विकास-क्रममें शीर्षस्थ होती गई हैं । 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' की परस्पर तुलना और परिणामतः श्रेष्ठताका निष्कर्ष प्रायः असम्भव होगा । पर 'कुमारसम्भव' के कविकी अन्तिम रचना होनेमें शायद यह प्रमाण है कि संभवतः वह उसे समाप्त नहीं कर सका । कुमार, स्कन्द, के

जन्मके पूर्व ही वह काव्य समाप्त हो जाता है, जहाँ काव्यके नामसे ही जन्मके सम्भावित वर्णनकी प्रतिज्ञा है ।

नीचे काव्यों और नाटकोंमें वर्णित विषयका संक्षेपमें उल्लेख कर देना समीचीन होगा ।

'ऋतुसंहार' छः सर्गोंमें समाप्त अत्यन्त छोटा और सादा काव्य है । जैसा नामसे ही ज़ाहिर है, उसमें छहों ऋतुओंका, उनकी गर्मी-सर्दीका, उनमें फूलने वालों पौधों-पेड़ोंका, विचरने वाले जीव-जन्तुओंका, मौसमके साथ निरन्तर बदलते जाने वाले मनुष्य और दूसरे प्राणियोंकी मानसिक प्रवृत्तियोंका बड़ा भावुक और मधुर वर्णन है । आदमी और वनके प्राणी, फल-पौधे और पशु-पक्षी, कोयल, भौंरे और बीरबहूटियाँ तक, सभी एक साथ जैसे साँस लेते हैं, एक जान जैसे एक साथ बसते हैं ।

काव्यका आरम्भ गर्मीके जेठ और आषाढ़ महीनोंके वर्णनसे होता है, जब लोग सूरजकी धूपसे भागकर ठंडे घरों और चन्दनकी शरण लेते हैं, चाँदनीमें छतों पर सोते हैं और जब ऊपरकी धूप और नीचेकी आँचसे विह्वल प्रकृत वैरी साँप और मोर, सिंह और भैंसे आपसी वैर छोड़ समान वैरी गर्मीसे अभिभूत हो जाते हैं । बाद वर्षाके सावन-भादोंके मेघ और झरनोंका वर्णन है, अंकुरोंसे भरी ज़मीनका, मानसरोवरको जानेवाले हंसोंका । फिर शरद्के महीनेका और कार्तिकका ज़िक्र है । जब आकाश निर्मल हो जाता है, ठंडी भीनी बयार चलती है, काशसे ज़मीन ढँक जाती है, धानके खेत लहलहा उठते हैं । अगले महीने अगहन और पूसके, हेमन्तके हैं, जब पहाड़ोंमें बर्फ़ गिरती है, सरोवरोंमें कमल जल जाते हैं, कदम्ब फूलने लगते हैं, लोग बंद कमरोंमें चले जाते हैं, शरीर पर मोटे वस्त्र धारण करते हैं । फिर धान पकानेवाले, ईख लहलहानेवाले, सारसोंकी बोली और सूर्यकी किरणोंवाले शिशिरके मास आते हैं, माघ और फाल्गुन । और तब आता है वसंत, चैत और बैशाखमें गूँजते

भौंरों, कूकती कोयलोंके साथ, जब जल कमलोंसे ढँक जाते हैं, परागभरा पवन रसता है, आम बौरा जाते हैं।

'मेघदूत'का खण्ड-काव्य सहृदयोंको अत्यन्त प्रिय है। उसकी कथा पूर्व और उत्तर दो भागोंमें बँटी है। पहलेमें यक्ष मेघको दूत बनाकर अलकाकी राह बताता हुआ उसे अपने देश भेजता है, दूसरेमें उसकी प्रोषितपतिका पत्नी विरहिणी यक्षिणीके विरहमें काटे दिनोंका करुण वर्णन और यक्षके भेजे संदेशका ज़िक्र है। समूचा काव्य बस एक छंद मन्दाक्रान्तामें लिखा गया है, संसारके खंडकाव्योंमें सर्वथा बेजोड़ है। काव्य यह इतना लोकप्रिय हुआ कि संस्कृतमें तो अनेकानेक कवियोंने उसकी अनुकृतिमें काव्य रचे ही, दूरके विदेशी कवियोंने भी उसका अनुकरण किया। जर्मनीके रोमान्टिक मधुर कवि शिलरने अपने 'मारिया-स्टुअर्ट'में मेघको ही दूत बनाकर उसके देश स्काटलैंड भेजा।

'मेघदूत'की कहानी इस प्रकार है—अलकापुरीका नवविवाहित यक्ष यक्षराज कुबेरका अनुचर मादक पत्नीके सहवाससे अलसा कर स्वामीकी परिचर्यामें चूक कर बैठता है और परिणामतः उसके शापका भागी बन दूर दक्खिन रामगिरि (रामटेक) पर सालभर निवास करता है। कुछ मास तो विरहमें जैसे-तैसे काट देता है पर आषाढ़के आरम्भमें जब पहाड़की चोटीपर बादल घुमड़ने लगते हैं तब दूर देशमें छूटी प्रियाकी सुधि उसे विकल कर देती है। तब वह अंजलिमें टटके फूल भर मेघके सामने खड़े होकर उससे प्रियाके पास संदेश लेजानेकी आर्त प्रार्थना करता है। पहले वह मालवाके सुरभित खेतोंके पार बेतवा, निर्विंध्या और कालीसिन्धुके पार, अमरकण्टकके पार, उज्जयिनीको भेजता है फिर चंबल और मंदसौरकी राह कुरुक्षेत्रको। मेघकी राह आगे कनखल होकर हिमालयपर चढ़ जाती है। और आगे सिद्ध-ललनाओंका दर्पण सरीखा बर्फ़से ढका कैलास है। वहीं यक्षोंकी पुरी अलका है जहाँ विरहिणी यक्षिणी पतिकी प्रतीक्षामें अनेक तरीकोंसे असह्य विरहके कठिन दिन काट रही

है। वहीं शंख और पद्मसे चित्रित इन्द्रधनुषके तोरणवाले वापी और क्रीडा-शैलसे युक्त नज़रबाग वाले भवनमें यक्षिणी कभी पालतू मोरोंको ताली बजा-बजा थिरकाती है, सारिकासे पतिकी बात पूछती है, उन्निद्रामें प्रियके सपने देखती है, गोदमें वीणा रख यक्षके बनाये गीत गानेका असफल प्रयत्न करती हैं। उसी प्रियाको यक्ष मेघसे संदेश भेजता है—कहना, शापकी अवधि समाप्त होते ही आऊँगा। और उपकृत यक्ष द्वारा मेघके प्रति आशीर्वादसे काव्य समाप्त हो जाता है।

'रघुवंश' में सूर्यवंशका इतिहास प्रबन्ध रूपमें लिखा गया है। परन्तु उसमें कविकी इच्छा वश कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं। काव्य १९ सर्गोंमें रचा गया है और शास्त्रीय महाकाव्यके प्रायः सभी लक्षणोंसे युक्त है। उसकी कथा इस प्रकार है—

पहले सर्गमें पुत्रहीन राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणाका वर्णन है। राजा निःसन्तान होनेसे दुखी होकर पत्नीके साथ गुरु वसिष्ठके आश्रममें जाते हैं। और उनके बतानेसे कि किस प्रकार कामधेनुकी उपेक्षा कर जानेसे उनकी यह स्थिति हुई है और किस प्रकार उसकी कन्या नन्दिनीकी पूजासे उन्हें संतति प्राप्त हो सकती है दिलीप गोव्रतका संकल्प करते हैं। दूसरे सर्गमें उसी धेनु-सेवाका वर्णन है जिससे प्रसन्न होकर गाय राजाको पुत्रका वरदान देती है। तीसरेमें पुत्र रघुके जन्म और विद्या प्राप्तिका और चौथेमें रघुकी दिग्विजयका विशद और नितान्त सफल वर्णन है। पाँचवें सर्गमें वरतन्तुके शिष्यको कुबेरको डराकर रघु उससे अनन्त धन दिलाते हैं और रघुके पुत्र अज इन्दुमतीके स्वयंवरमें शामिल होने विदर्भ जाते हैं। छठेमें स्वयंवरका अद्भुत वर्णन है और सातवेंमें इन्दुमती-अजके विवाहका। आठवें सर्गमें नगरके बाहरके उद्यानमें अजके साथ रमण करती हुई इन्दुमतीकी नारदकी वीणासे गिरी मालाके स्पर्शसे मृत्यु हो जाती है और अज अत्यन्त करुण विलाप कर उठते हैं। नवें सर्गमें राजा होकर दशरथ शिकार करते हैं और हाथीके धोखेसे अन्धमुनिके पुत्रको मार डालते हैं।

दसवेंमें दशरथकी रानियोंके राम आदि चार पुत्र होते हैं और ग्यारहवेंमें राम राक्षसोंको मारकर विश्वामित्रके आश्रमको निरापद बनाते हैं, और स्वयंवरमें शिवका धनुष तोड़ सीताको ब्याहते हैं। अगले सर्गमें रामको युवराजके पदके बदले चौदह वर्षका वनवास लेना पड़ता है। उसी सर्गमें रावण सीताको हर ले जाता है और राम लंका पर आक्रमण कर रावणको मार डालते हैं। तेरहवें सर्गमें पुष्पकविमानसे राम सीताको राह दिखाते हुए अयोध्या पहुँचते हैं। चौदहवेंमें रामका माताओंसे संयोग और जनश्रुतिके फलस्वरूप सीतात्याग वर्णित है। बड़ा ही करुण है यह सर्ग। पन्द्रहवें सर्गमें राम भाइयोंके साथ राक्षसोंका नाश करते हैं। सीताके लव-कुश दो पुत्र होते हैं। उनसे और उनकी मातासे रामकी भेंट होती है और सीता अपमानसे दुखी पृथ्वीमें समा जाती हैं। राम भी स्वर्गीय रथ पर अदृश्य हो जाते हैं। सोलहवें सर्गमें कुशावतीको राजधानी बनाकर बसने वाले राजा कुशसे जब परित्यक्ता अयोध्याकी राजलक्ष्मी उसकी उजड़ी दीन दशाका वर्णन करती है तब उसके अनुरोधसे कुश लौटकर अयोध्याका फिरसे निर्माण करते हैं और वहीं बस जाते हैं। अगले सर्गोंमें सूर्यवंशके राजाओंका संतुलित और त्वरित वर्णन है। उन्नीसवाँ काव्यका अन्तिम सर्ग है जिसमें कामुक अग्निवर्णका बड़ा प्राणवान चित्रण है। क्षयसे उसके मर जानेके साथ ही रघुवंशकी कथा समाप्त हो जाती है।

'कुमारसंभव', संभवतः कालिदासका अन्तिम काव्य है, अनेक लोगोंकी रायमें सुन्दरतम। कविके लिखे तो इसमें आठ ही सर्ग हैं पर ग्यारह सर्ग और जोड़कर काव्यकी संभावित कथा पूरी कर दी गई है। आठ सर्गोंमें ही कालिदासने गजबकी सफलता प्राप्त की है। 'कुमारसंभव'की कथा इस प्रकार है—

पहले सर्गमें हिमालय और उसकी उपत्यकाओंका वर्णन है, किन्नर और किन्नरियोंका, उनके हास-विलासका। वहीं कैलासमें शिवका निवास है। दूसरे सर्गमें तारकासुरसे हारकर देवता उपायके लिए ब्रह्माकी स्तुति करते

हैं जो उन्हें कामदेवकी मददसे शिवसे पुत्र उत्पन्न करानेकी सलाह देते हैं। तीसरे सर्गमें काम समाधिस्थ शिव पर कुसुम-बाण छोड़ता है और उमाके सौंदर्यसे जब उनकी समाधि भंग हो जाती है तब वे अपना तीसरा नेत्र खोल कामदेवको भस्म कर देते हैं। चौथे सर्गमें पत्नीके प्रति अजके विलापकी ही भाँति पतिके लिए रतिका अत्यन्त करुण विलाप है। चितारोहणके लिए उद्यत आकाशवाणी उसे शरीर जीवित रखनेके लिए उत्साहित करती है, कामदेवसे फिर संयोग होनेका आश्वासन देती है। पाँचवें सर्गमें शिवके लिए उमा तपस्वियोंको भी लजा देने वाला कठोर तप करती है। शिव तब ब्रह्मचारीका रूप धर उसके पास जाते हैं और उससे बात कर उसके उत्तरसे प्रसन्न हो अपने असली रूपमें प्रगट हो जाते हैं। छठे सर्गमें सप्तर्षि शिवकी ओरसे पार्वतीके पिता हिमालयसे पत्नी रूपमें उमाको माँगते हैं। सातवें सर्गमें शिव और उमाका विवाह प्राजापत्य विधिसे संपन्न होता है। और अन्तिम, आठवें सर्गमें कविने विवाहोपरान्त देव-दंपतिका वन-वन विलास प्रदर्शित किया है।

कालिदासके नाटकोंमें पहला नाटक 'मालविकाग्निमित्र' है जो सदियों पहलेके राजनीतिक भारतका उद्घाटन करता है। उसका नायक मौर्य राज-वंशका अंत करनेवाले सेनापति पुष्यमित्रका पुत्र अग्निमित्र है। उसमें अग्नि-मित्रकी पत्नियोंके पारस्परिक षड्यन्त्र और प्रेम-कलहका वर्णन है, साथ ही पुष्यमित्रके उस दूसरे अश्वमेधका भी जिसका नेतृत्व उसके पौत्र वसुमित्रने किया था और ग्रीकोंको हराकर सिन्धुके पार भगा दिया था।

नाटकके पहले अंकमें नायिका मालविकाके नृत्य-गानके सम्बन्धमें चर्चा है। मालविकाका चित्र देखकर राजा उसपर आसक्त हो जाता है और रानी धारिणी उसे राजाकी दृष्टिसे छिपा रखती है। फिर संगीतके आचार्यों, गणदास और हरदत्त, में शास्त्रार्थ होता है जिसका निर्णय परिव्राजिका माल-विकाके अभिनयसे अगले अंकमें करती है। पहले अंकसे ज्ञात होता है कि अग्निमित्रने विदर्भराज यज्ञसेनके साले मौर्यसचिवको बन्दी कर रखा है, कि

यज्ञसेनका चचेरा भाई माधवसेन जब अपनी बहन मालविकाके साथ उसके विवाहके लिए अग्निमित्रके पास जा रहा था यज्ञसेनके अन्तपालने उस पर हमला कर उसे क़ैद कर लिया था और उसी हल्लेमें मालविका गायब हो गई थी। विदर्भराज और अग्निमित्रमें पत्र-व्यवहार होता है और अन्तमें अग्निमित्र विदर्भ पर चढ़ाई कर देता है। दूसरे अंकमें पहलेकी ही भाँति संगीतके आचार्योंमें नृत्यके सिद्धांतोंपर विवाद होता है जिसके परिणाम-स्वरूप मालविका विदूषक और राजाके षड्यंत्रसे रंगमंच पर आती है। दोनोंमें प्रेम हो जाता है। तीसरे और चौथे अंकोंमें रानियों और राजा और विदूषकके घात-प्रतिघात चलते हैं और चालाकीसे विदूषक अँगूठीसे बन्दी मालविकाको मुक्त कर लेता है। नाटकका अन्तिम अंक पाँचवाँ है जिसमें विदर्भराजके विरुद्ध अग्निमित्रके सेनापति वीरसेनकी सफलताका संवाद राजाको दिया जाता है। विदर्भसे भेंटमें आईं दो शिल्पकारिकाएँ माधवसेनकी खोई हुई बहन मालविकाको पहचान लेती हैं। तभी यह भी पता चलता है कि मालविकाके रक्षक सुमतिकी ही बहन परिव्राजिका है। इसी बीच पुत्र वसुमित्रके विजयी होने और अश्वमेधमें शामिल होनेके लिए पुष्यमित्रका जो संवाद आता है उससे प्रसन्न वातावरणमें मालविका और अग्निमित्रके विवाहकी रानियों द्वारा अनुमति भी मिल जाती है, और नाटक समाप्त हो जाता है।

'विक्रमोर्वशीय' पाँच अंकोंमें समाप्त शास्त्रकी दृष्टिसे 'त्रोटक' है। इसकी मूल कथा ऋग्वेदसे ली गई है। देवासुर संग्राममें देवताओंको जिता कर लौटते हुए प्रतिष्ठानके चन्द्रवंशी राजा पुरूरवाको संवाद मिलता है कि केशी नामके दैत्यने उर्वशी और उसकी सखी चित्रलेखाको हर लिया है। राजा शीघ्र उन अप्सराओंकी रक्षा करता है, और उर्वशी और पुरूरवा एक दूसरेके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। दूसरे अंकमें राजाकी रानी उनसे मिलनेके उपक्रम करती है, उधर राजा विरहाकुल प्रमदवनमें फिरता है जहाँ उर्वशी और चित्रलेखा छिपे रूपसे प्रवेश करती हैं। उर्वशी राजाके दुःखसे

द्रवित होकर एक अनुराग-पत्र लिखकर फेंक देती है। राजा वह पत्र पढ़ता है और प्रत्यक्ष उर्वशीसे मिलता है, पर थोड़ी ही देर बाद इन्द्रकी आज्ञासे उर्वशीको स्वर्ग लौट जाना पड़ता है। उधर पुरूरवाके लिए उर्वशी वाले पत्रको विदूषक कहीं गिरा देता है जिसे विवाहिता रानी पढ़कर आगबबूला हो जाती है और राजाके बहुत मनाने पर भी मान नहीं छोड़ती। तीसरे अंकमें स्वर्गमें जो भरत मुनिके निर्देशसे 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक होता है उसमें प्रेम और भ्रमवश लक्ष्मी बनी हुई उर्वशी बजाय पुरुषोत्तमका नाम लेनेके पुरूरवाका ले लेती है जिससे बिगड़ कर भरत मुनि उसे शाप देकर पृथ्वी पर भेज देते हैं। इन्द्र स्थिति संभाल कर उर्वशीको पुरूरवाके पास भेज देता है कि वह राजासे पुत्रकी उत्पत्ति तक उसके साथ रहे। चौथे अंकमें पुरूरवा और उर्वशी कैलासपर्वतके निकट जब विचर रहे होते हैं तब नारीप्रवेशवर्जित कुमारकाननमें प्रवेश कर उर्वशी शापवश लता बन जाती है। राजा विलाप करता पेड़-पेड़, लता-लतासे उर्वशीका पता पूछता है। अन्तमें संगमनीय मणि द्वारा दोनोंका संयोग होता है। अन्तिम, पाँचवें, अंकमें उर्वशी और पुरूरवाका पुत्र आयु, जिसे राजासे वियोगके भयसे उर्वशीने च्यवन ऋषिके आश्रममें रख दिया था, पक्षीको बाणसे मारकर आश्रमविपरीत कार्य करनेके कारण ऋषिने राजाके पास भेज दिया है, दरबारमें आता है और उसको देखते ही जहाँ उसके माता-पिता आह्लादित होते हैं वहीं शर्तके अनुसार उर्वशीको इन्द्रलोक लौट जाना पड़ता है। परन्तु दैत्योंके साथ युद्धमें फिर शौर्य प्रदर्शनके कारण देवराज इन्द्र उर्वशीको पुरूरवाके साथ रहनेके लिए पृथ्वी पर भेज देता है, और नाटक समाप्त हो जाता है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' कालिदासकी सर्वांगसुन्दर कोमल कृति है अत्यन्त सुकुमार भावनाओंका इसमें गुंफन हुआ है। कथा महाभारतकी है जिसमें राजा दुष्यन्त लम्पटकी तरह चित्रित हुआ है। पर उसे कालिदासने सर्वथा शिष्ट मानव बना दिया है यद्यपि उसकी कोमल मधुर मानवीयताके

भीतर ही वह बीज रूप महाभारतका चरित्र-दोष सन्निहित है जिसके परिणामसे राजाको अपनी सुसेविता प्रियाके प्रति विस्मृति हो गयी थी। यह मोह-विस्मृति ही कालिदासके इस नाटककी शिला-भित्ति है, यद्यपि वस्तुतः यह महाभारतके प्रकृत राजाके पक्षमें उसका नारीलोलुप स्वभावका ही सांकेतिक परिचायक है। जो भी हो, 'शाकुन्तल' की रचना बड़ी सफल मानी जाती है और संसारके साहित्य-पारखियोंने उसका लोहा माना है। करीव पौने दो सदी पहले जब सर विलियम जोन्सने उसका पहला अनुवाद यूरोप भेजा तब वहाँके साहित्यकार उसे पढ़कर अचरजमें आ गये और प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटेने तो उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसका अनेकांशमें अपनी रचना ''फ़ाउस्ट'' में अनुकरण किया।[1]

'शाकुन्तल' सात अंकोंमें रचा नाटक है। उसके पहले अंकमें कण्वके आश्रममें अहेर करता हुआ राजा दुष्यन्त प्रवेश करता है। महर्षि कण्व आश्रममें नहीं हैं और अतिथि-सत्कारका भार उनकी पालिता कन्या शकुन्तला पर है। शकुन्तलाको देख राजा उसपर आसक्त हो जाता है। दूसरे अंकमें विदूषक जंगल-जंगल मारे-मारे फिरनेवाले आखेट-व्यापारसे खिन्न होकर हस्तिनापुर चला जाता है। तीसरेमें शकुन्तलाकी प्रणय-पीड़ा वर्णित है। दुष्यन्त फिर आश्रम जाकर सखियोंके शीतोपचार आदिसे सेविता शकुन्तलाको सुखी करता है और अपने नामसे अंकित अँगूठी उसे दे राजधानी लौट जाता है। शकुन्तला विरहसे व्याकुल हो आपा भूल जाती है। चौथे अंकमें उसकी उसी दशामें जब दुर्वासा आते हैं तब उसकी उपेक्षासे चिढ़कर उसे शाप देते हैं कि जिस प्रकार तपोधनके संदेह उपस्थित होने पर भी शकुन्तला उसे नहीं पहचान पाई उसी प्रकार जिसकी चिन्तामें वह स्वयं लीन है वह भी उसे समय पर नहीं पहचान पायेगा। फिर सखियोंके अनुनयसे द्रवित होकर ऋषि राजाकी अँगूठी दिखाकर कहते हैं कि उसे दिखा देनेपर दुष्यन्त उसे पहचान लेगा। कण्व, लौटनेपर, शकुन्तलाके गन्धर्व-विवाहकी बात सुनकर प्रसन्न होते हैं और तपस्विनी गौतमी और दो

ऋषिकुमारोंके साथ अत्यन्त करुण शब्दोंमें आशीर्वाद देते हुए कन्याको पतिके पास विदा करते हैं। पाँचवें अंकमें दरबारमें जब गर्भके लक्षण देखकर राजा शकुन्तलाको नहीं पहचान पाता तब वह उसे धिक्कारती हुई अपमानित चली जाती है और उसकी माँ अप्सरा मेनका उसे मारीचके आश्रममें पहुँचा देती है। छठे अंकमें दुष्यन्तकी शकुन्तलाके वियोगमें घनी आत्मानुभूति अत्यन्त दारुण हो उठती है। उसी बीच मछलीके पेटसे पाई हुई राजा द्वारा शकुन्तलाको दी शचीतीर्थमें खोयी अँगूठी धीवरके हाथमें देख राजपुरुष उसे राजाके पास दंडके लिए लाता है और दुष्यन्तकी स्मृति अँगूठी देखकर लौट आती है। फिर तो उसका करुण विरह जग उठता है। अंकके अन्तमें दैत्योंको परास्त करनेके लिए राजाको लेने इन्द्रका सारथी आता है। अंतिम अंकमें राजा जब दैत्योंको हराकर मारीचके आश्रममें जाता है तब मलिन वसन पहने उसके विरहका व्रत करती शकुन्तलाको वह देखता है और अपनी करनीका परिणाम देख वह विह्वल हो उठता है। पुत्र सर्वदमन माता-पिताको एकत्र करता है, उनके संयोगको मारीच अपने आशीर्वादसे कृतार्थ कर देते हैं।

कालिदासके सुभाषित

प्रस्तुत ग्रंथकी आवश्यकता कालिदासके सुभाषितोंके एकत्र अभावमें हुई। लेखकको कविके जो स्थल सुन्दर लगे उनको उसने ऋतु-विलास, प्रकृति-विहार, पत्नी और दाम्पत्य प्रेम, व्यंजना, उपमा, कहावतें शीर्षक अध्यायोंमें बाँट दिया है। साधारणतः एक अध्यायकी सामग्री परस्पर अनुकूल है और समान विषयकी ओर संकेत करती है। परन्तु अनेक बार कालिदासकी एकस्थ विविधताके कारण इस व्यवस्थामें व्यतिरेक भी हो गया है और एक ही श्लोकको दो या अधिक स्थानोंपर उद्धृत करना पड़ा है। इस प्रकार सुभाषितोंकी जहाँ-तहाँ पुनरुक्ति भी हुई है। पर यह दोष लेखकका इतना नहीं जितना मूल कविका है जिसकी बहुमुखी प्रतिभाने, गागरमें सागर भरनेकी प्रवृत्तिने, एक ही श्लोकमें कई चमत्कार भर दिये हैं।

अध्यायोंका विभाजन विषय-प्रतिपादनके लिए नहीं उनकी परस्पर सम्बन्धित तात्त्विक एकताके कारण हुआ है। बजाय श्लोकोंको यथागत रूपसे एकके बाद एक रख देनेके उनका विषयवर्ती विभाजन कर क्रमिक व्याख्याके साथ बीच-बीचमें रत्नवत् जड़ देनेका प्रयत्न किया गया है। कालिदासकी भारती अनन्य सुन्दर, मदिर मधुर और अप्रतिम प्रसादयुक्त है। उसके भावोंकी गहराई अपना सानी नहीं रखती और इसका प्रमाण तो बस आगेके अध्यायोंमें संकलित कविके सुभाषित ही हैं।

: अध्याय १ :

ऋतु-विलास

प्रकृति महती है। मनुष्य उसी महती प्रकृतिका महान् अंग है, शालीन भोक्ता। प्रकृति उसका उल्लास है। उसके प्राङ्गणमें वह जनमता, बढ़ता, अपने यशका विस्तार करता और मर जाता है। प्रकृति-सा न तो कोई दूसरा कठोर है न तरल। मनुष्य भी अपनी क्रूर और तरल मनोवृत्ति वहींसे पाता है। उससा भी कोई न क्रूर है न आर्द्र।

प्रकृतिके साहचर्यमें, अपने प्राथमिक रूपमें, मनुष्य बनैला था। उसका उस अप्राकृतिक एकाकी हिंस्र जीवनसे धीरे-धीरे दूर, एकता और मानवों की परस्पर मैत्रीकी ओर, समाजकी ओर, हटते जाना ही सभ्यता है। पर प्रकृतिकी छायासे हटकर, उसके औदार्यसे भटककर, मानव अहङ्कारका शिकार हो जाता है, सर्वथा संसारी। प्रकृतिका साहचर्य मानवकी महत्ता और क्षुद्रता दोनोंका द्योतक है। अविरल रस-संचार, जीवनका अनन्त विस्तार प्रकृतिके औदार्य और सृजन-प्रवृत्तिके प्रमाण हैं। उसकी प्राणवान् छायामें निःसीम बीज अङ्कुरित होते हैं, अनायास असंख्य औषधियाँ कलियों से भर जाती हैं, कलियाँ वनान्त तक चिटकती चली जाती हैं, वनस्थली फूलोंसे पुलक उठती है, झरते परागकी सुरभिसे दिशाएँ गमक उठती हैं।

और प्रकृतिका अंचल सबके लिए है, सर्पके लिए भी मयूरके लिए भी, गजके लिए भी चींटीके लिए भी, सिंहके लिए भी मृगके लिए भी, पिशाचके लिए भी मानवके लिए भी। जितना अधिकार उसकी धरापर अश्वत्थको प्राप्त है उतना ही क्षुद्रतम दूबको भी है, दोनों ही उसकी मिट्टीसे, उसके जलवायुसे अपना आहार पाते हैं। और दोनोंको स्वच्छन्द

बढ़ने और फैलनेकी आज़ादी है, क्योंकि उनकी पृथ्वी विपुल है, उसका आकाश अनन्त ऊँचा है।

उसी प्रकृतिसे जब मानव अति दूर चला जाता है तब अपना आपा खो देता है। कवि, विशेषकर भारतीय कवि, इसीसे मानवको बराबर उस प्रकृतिके रूबरू खींच लाता है जिससे वह उसके औदार्य और सौन्दर्यको जाने और उसके सान्निध्यमें बढ़े। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, और इन सबसे पहलेके वैदिक कवि, सभी प्रकृतिके सहचर हैं, उसके वरद हस्तके धनी। लौट-लौटकर वे अपनी स्वच्छन्द भारतीको उसके सौन्दर्यसे सजाते हैं, उसकी वाणी मुखरित, उसके रससे आप्लावित करते हैं। महाकाव्योंके अन्तरङ्ग प्रकृतिके वर्णनसे भरे पड़े हैं। उसकी ऋतुएँ, उसके पर्वत और समुद्र, नदियाँ और निर्झर सब कविके गायनके विषय बनते हैं। प्रकृतिसे भारतीय कविको असाधारण मोह है, स्वाभाविक मोह, और कालिदास, जयदेव, विद्यापति उसकी रम्यताका बखान करते थकते नहीं—

नव वृन्दावन नव नव तरुगन
नव नव विकसित फूल,
नवल वसन्त नवल मलयानिल
मातल नव अलिकूल।　　　　*—विद्यापति*

जयदेव भी इसी प्रकार—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलय-समीरे

से आरम्भकर वनान्तकी अभिनव छोरें छू लेते हैं। पर कालिदासकी भारती तो जैसे निसर्गके पात-पातपर नाचती है। इतना प्रकृतिमना संसारका कोई कवि न हुआ। जितना ही उसे गृहका आँगन प्रिय है उतना ही प्रकृतिका प्राङ्गण। जहाँ उसके संयोग-विलास और प्रणय-विरह कायाको झकझोर देते हैं वहाँ वनस्थलियोंके लता-प्रतान, मुकुलित कलिकाएँ, हरित-श्यामायित सागरतट, अनन्त वन-कान्तार उसकी लेखनीको महाप्राण

बनाते हैं। पत्ते-पत्तेसे, कली-कलीसे, कुसुम-कुसुमसे वह संचारी मधुप रस लेता है। ऋतु-ऋतुका वैभव उसके लिए हस्तामलक बन जाता है। ऋतुके कुसुम, उसके प्रभावसे प्राणियोंके पारस्परिक आचरण, राग-मोह सभी उसके आलेख्य-पत्रोंपर अनायास उभरते आते हैं। कालिदासने भी अन्य संस्कृत कवियोंकी ही भाँति, इस देशकी प्राचीन परम्पराके अनुसार ही, ऋतुओंकी संख्या छः मानी है और उन षड्ऋतुओंका विशद वर्णन किया है।

इस विचारसे ऋतुएँ छः हैं—ग्रीष्म या निदाघ (गर्मी), पावस (वर्षा), शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त। इनका विस्तार दो-दो महीनोंका है। ग्रीष्मके मास ज्येष्ठ और आषाढ़ हैं, वर्षाके सावन और भादों, शरद्के क्वार और कार्तिक, हेमन्तके अगहन और पूस, शिशिरके माघ और फाल्गुन और वसन्तके चैत और वैशाख।

कालिदासने वैसे तो अपने काव्यों और नाटकोंमें, जहाँ भी सम्भव हो सका है, सर्वत्र ऋतुओंका अभिराम वर्णन किया ही है, उनसे अतिरिक्त ऋतुओंपर एक स्वतन्त्र खण्ड-काव्य भी लिख डाला है। यह खण्ड-काव्य—ऋतुसंहार—बदलती ऋतुओं और उनके साथ-साथ चराचरके बदलते रूप और आचरणका मनोहर वर्णन करता है। किस प्रकार तपती धूप और गलते पालेमें मनुष्य अपने व्यवहारको बदलता जाता है, जीवधारी एक दूसरेके प्रति अपने आचरण परिवर्तित कर देते हैं—यह सब 'ऋतुसंहार' का विषय है। कालिदासकी यह पहली कृति है। प्रगट है कि अपने तारुण्यमें कवि कितना प्रकृति-विलासी रहा होगा। उसकी इस प्रकृति-साधनाके सामने संसारके कवि नीरस हो जाते हैं। नीचे कविवर्णित ऋतुओंका संक्षेपमें उल्लेख करेंगे।

ग्रीष्म—

निदाघ (ग्रीष्म) का वर्णन वैसे तो कालिदासने पर्याप्त विस्तारसे

किया है पर 'ऋतुसंहार' के पहले ही श्लोकमें जैसे उसका सारा राज़ सहसा खुल पड़ता है—

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः
सदावगाहक्षतवारिसञ्चयः ।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो
निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये ॥१॥

प्रिये, सूर्य (सहसा) प्रचंड हो उठा, चन्द्रमाका काम्य (अनुकूल), निरन्तर स्नान करते रहनेसे जल समूह चुक चला, (जलते दिनके बाद) साँझें रुचिकर हुईं, (वसन्तके बीत जानेसे) कामका वेग शान्त हुआ, आया, निदाघ आया, आ पहुँचा ग्रीष्म सहसा, प्रिये ।

कवि अपने भाव-संचरणको, ऋतुओंकी बदलती स्थितियोंको सदा अपनी प्रियासे ही निवेदित करता है । समूचा वन-प्रान्तर, सारा ऋतु-वैभव उसी सहचरी प्रियाके लिए है—

निशाः शशाङ्कक्षतनीलराजयः
क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम् ।
मणिप्रकाराः सरसं च चन्दनं
शुचौ प्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम् ॥२॥

प्रिये, अब मानवोंके आकर्षणके वस्तु भिन्न हो गये, दिन गर्मीके आ गये न, कीचसे भिन्न, स्वच्छ, पवित्र (शुचौ) । अबकी रातें और हैं—चन्द्रमाने अपनी दिव्य किरणोंसे तमका नाश कर दिया है (अन्धकारका कोना-कोना उजागर है), घरोंके वारियन्त्र खुल गये हैं, जलधाराओंके उपयोगसे गृह स्वच्छ, शीतल, सुदर्शन हो गये हैं, चन्द्रकान्त मणिओं (जिनसे सुरत के बाद शीतल वारिविन्दु टपकनेसे थके तन उल्लसित हो उठते हैं) और सरस चन्दनका व्यवहार (चाँदनी रात और जलप्रवाहित गृहोंकी ही भाँति) जनोंके लिए सुखद सहज हो जाता है ।

फिर तो सुगंधित जलादिसे सुवासित (चाँदनीसे चमकती) मनोहर छतें, प्रियाके मुखके उच्छ्वाससे काँपती वारुणी (शराब), मदनको जगाने वाले वीणाकी ध्वनिसे पसरते मादक गीत ही गर्मियोंकी आधी रातमें कामियों के सहायक होते हैं, उनके नितान्त प्रिय—

सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं
प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु ।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं
शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥३॥

और तदुपरान्त—

सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां
सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः ।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं
निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम् ॥६॥

इस प्रकार भवनोंकी सफेद छतों पर रातमें (सुरतानन्तर) सुखसे सोती नारियोंके मुख रात्रिपर्यन्त निहारता अत्यन्त उत्कण्ठित हो चन्द्रमा अन्तमें लज्जासे पीला पड़ जाता है ।

प्रवासियोंकी स्थिति गर्मीमें और भी असह्य हो उठती है । एक तो प्रियाके वियोग रूपी अग्निसे दग्ध मन, दूसरे प्रचंड सूर्यकी धूपसे तपी आँधी-बवण्डरकी मारी जलती धूप ऊपर फेंकती पृथ्वी, फिर प्रवासीको राह सूझे तो कैसे ?

असह्यवातोद्धतरेणुमण्डला
प्रचण्डसूर्यातपतापिता मही ।
न शक्यते द्रष्टुमपि प्रवासिभिः
प्रियावियोगानलदग्धमानसैः ॥१०॥

धूप और बवण्डर कितने असह्य हो उठे यदि मानस कामातुर न हो। विरह विह्वल प्रवासीके लिए गर्मीकी यह दोधारी मार तभी सह्य भी हो पाती है कि उसकी गन्तव्य प्रिया है। भीतर और बाहरके दोनों तापोंका निर्वाह कविने सुन्दर किया है, विशेष कर निदाघका रूप स्पष्ट खिंच गया है।

समान भयके सामने प्रकृत्यमित्रों (सहज शत्रुओं) का परस्पर बैर तिरोहित हो जाता है। सिंह मृगोंको, मोर नागोंको, नाग मेढकोंको मारना-खाना छोड़ देते हैं; नाग मोरोंके पुच्छमंडलके नीचे, मेढक नागोंके फनोंके नीचे जा बैठते हैं। नीचेके श्लोकोंमें कालिदासने उस समान भय ग्रीष्मके आगमनसे सहज विरोधियोंके पारस्परिक व्यवहारका वर्णन किया है—

रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं
विदह्यमानः पथि तप्तपांसुभिः।
अवाङ्मुखो जिह्मगतिः श्वसन्मुहुः
फणी मयूरस्य तले निषीदति ॥१३॥

देखो, सूरजकी किरणोंसे अत्यन्त तपा राहकी जलती धूपसे झुलसा सर्प हाँफता हुआ मोरके मंडलकी छायामें कुण्डल मारे नीचे मुँह किये चुपचाप बैठा है।

तृषा महत्या हतविक्रमोद्यमः
श्वसन्मुहुर्दूरविदारिताननः।
न हन्त्यदूरेऽपि गजान्मृगेश्वरो
विलोलजिह्वश्चलिताग्रकेसरः ॥१४॥

गर्मी इतनी घनी है कि प्याससे व्याकुल सिंह हततेज हो गया है, अब पराक्रमके उद्यम नहीं करता। जभी तो पासके गज तकको नहीं मारता, मुँह फाड़े जीभ लटकाये हुए है और निरन्तर हाँफते रहनेसे उसके सट (अयाल) हिल रहे हैं।

विशुष्ककण्ठाहृतसीकराम्भसो
गभस्तिभिर्भानुमतोऽनुतापिताः ।
प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो
न दन्तिनः केसरिणोऽपि बिभ्यति ॥१५॥

इसी प्रकार अब हाथियोंको भी सिंहोंकी परवाह न रही। सूखे कंठसे झाग फेंकते प्रचण्ड धूपसे व्याकुल बढ़ी हुई प्यासके मारे जल खोजते हाथी केसरियोंसे (तनिक) नहीं डरते। यही दशा उस मयूरकी भी है जो—

हुताग्निकल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः
कलापिनः क्लान्तशरीरचेतसः ।
न भोगिनं घ्नन्ति समीपवर्तिनं
कलापचक्रेषु निवेशिताननम् ॥१६॥

यज्ञकी अग्निकी भाँति प्रखर सूर्यकी किरणोंसे शिथिल शरीर और चित्तवाला कलापी अपनी पाँखोंके मण्डलमें मुँह डाले (बेसुध) पड़ा है, समीपके सर्प (से उसे विरक्ति हो गई है) को वह नहीं मानता। स्वयं नाग भी ऐसे ही अपने प्रकृत आहार मेढकसे उदासीन है—

विवस्वता तीक्ष्णतरांशुमालिना
सपङ्कतोयात्सरसोऽभितापितः ।
उत्प्लुत्य भेकस्तृषितस्य भोगिनः
फणातपत्रस्य तले निषीदति ॥१८॥

सूरजकी तीखी किरणोंसे झुलसा मेढक पंकिल सरोवरसे कूद प्याससे सर्पके फनके नीचे जा बैठा है। उधर सर्पका भी प्याससे बुरा हाल है। उसके मस्तककी मणि सूर्यके तापसे और भी तप (चमक) उठी है और वह अपनी लपलपाती जीभोंसे पवन पीता जा रहा है। अपने विष और सूर्यकी ताप दोनोंसे वह तप गया है, इससे मेढकोंको वह नहीं मारता। बनैले सुअरोंके दलका एक चित्रण इस प्रकार है—

सभद्रमुस्तं परिशुष्ककर्दमं
सरः खनन्नायतपोतृमण्डलैः ।
रवैर्मयूखैरभितापितो भृशं
वराहयूथो विशतीव भूतलम् ॥१७॥

नागरमोथा भरे सूखे पंकवाले तालावको अपनी लम्बी थूथनोंसे खोदता धूपसे झुलसा बनैले सुअरोंका दल जैसे भूतलमें घुसता चला जा रहा हो। तृषित वराहयूथका यह वर्णन उसकी तीव्रताको व्यक्त करता है। सुअरोंकी धुन प्रसिद्ध है। इससे उनके चरितकी एकाग्रतापर प्रकाश पड़ता है।

अब तकके वर्णन एक-एक जीवके अलग-अलग थे। अब सुअरोंके दलके साथ दलमें रहनेवाले पशुओंका वर्णन कवि करता है। सुअरों, भैंसों, बन्दरों आदि का। भैंसोंका एक वर्णन इस प्रकार है—

सफेनलोलायतवक्त्रसम्पुटं
विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मुखम् ।
तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरा-
दवेक्ष्यमाणं महिषीकुलं जलम् ॥२१॥

बन्दमुँह जुगाली करती भैंसोंके मुँहसे झाग निकल रही है। लाल जीभ निकाले प्याससे व्याकुल मुँह उठाये गिरि कन्दरासे निकल पानीकी खोजमें लपकी चली जा रही हैं। इसी प्रकार एक सजीव वर्णन विहग-वर्ग, कपिकुल और पशुदलका है। ग्रीष्मके प्रभावसे तृषाके मारे उनका क्या हाल है?

श्वसिति विहगवर्गः शीर्णपर्णद्रुमस्थः
कपिकुलमुपयाति क्लान्तमद्रेर्निकुञ्जम् ।
भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छ-
ञ्छरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात् ॥२३॥

वृक्षोंकी पत्तियाँ झड़ गई हैं (ग्रीष्मका प्रभाव है, इससे पक्षियोंको कोमल हरे पत्तोंका भी लाभ नहीं)। उनकी डालियोंपर बैठे पक्षियोंके दल हाँफ रहे हैं, थके बन्दरोंके झुण्ड लाचार हो कन्दराओंके निकुञ्जोंमें जा घुसे हैं, नीलगायोंके झुण्ड सर्वत्र जलकी खोजमें फिर रहे हैं, शरभों (आठ पैरों वाले कल्पित पक्षी) के समूह कुएँसे जल खींच रहे हैं। निदाघमें वन्य जन्तुओंकी विपत्तिका कुछ इतने ही से अन्त नहीं हो जाता। उन दिनों जंगलमें आग लगा करती है जिससे तृषासे कण्ठ सूखनेके अतिरिक्त प्राणों पर आ बनती है। और जब यह आग लगती है तब जंगलका दृश्य क्या हो जाता है यह कविकी वाणीमें पढ़िए। अग्निके प्रसारकी तीव्रता उल्लेखनीय है—

ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु
स्फुटति पटुनिनादैः शुष्कवंशस्थलीषु।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन
ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्निः ॥२५॥

दावाग्नि आँधीकी सहायतासे भड़ककर पर्वतोंकी गुफाओंमें जलती है, सूखे बाँसोंके जङ्गलमें चटचट शब्द करती वेगसे ज्वालाओंमें फूट पड़ती है; फिर लपककर क्षण भरमें घासोंके बीच फैल जाती है, और सर्वत्र छाकर मृगदलोंको व्याकुल कर देती है।

निश्चय अनेक बार कविकी वाणी कुछ शिथिल हो जाती है पर उसकी पहली कृति होनेके कारण 'ऋतुसंहार' का यह निदाघ-वर्णन कुछ कमज़ोर नहीं कहा जा सकता। अनेक बार तो पदोंका लालित्य और सरलता वैदर्भी वृत्तिकी प्रौढ़ता धारण कर लेती है। और इस ऊपरके दावाग्नि-वर्णनमें तो कविने आधुनिक 'इमेजिज़्म' का रूप-सा खड़ा कर दिया है।

कविके प्रौढ़तर काव्योंमें ग्रीष्मका वर्णन और भी आकर्षक और रुचिकर हुआ है। 'रघुवंश' का कवि भारतीका जादूगर है। वर्णनोंमें उसे किसी

प्रकारका आयास नहीं करना पड़ता। नेत्रोंके सामने जैसे वह सहसा लम्ब-कूर्च फिरा देता है और चित्र एकके बाद एक दृष्टिपटपर उछलते जाते हैं, एक 'स्वीप' में दृश्यके पट सहसा खुल पड़ते हैं। ध्वनिकी शक्ति इस वर्णनमें अद्भुत है। कुश कुशावतीसे ससैन्य अयोध्या लौट आये हैं। नगर का फिरसे निर्माण कराकर उसमें निवास करने लगे हैं। वहाँ लौटनेपर पहला ग्रीष्म आता है जिसका उल्लेख कवि इस प्रकार करता है—

अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम घर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम् ॥१६,४३॥

ग्रीष्म आ गया (अयोध्याके महलोंपर छा गया)। लगा, जैसे प्रिया का एकाएक स्मरण कराने आया हो, उसके निदाघोचित वेषका उपदेष्टा बनकर—रत्न गुँथे उत्तरीय (चुन्नी, चादर) का, अत्यन्त पीले गोरे स्तनों पर पड़े हारका, साँससे उड़ जाने योग्य चोलीका।

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं बभूव ॥४६॥

दिन-दिन गृह-दीर्घिकाओं (बावलियों) का जल सेवारसे भरी सीढ़ियों को छोड़ पीछे हटने लगा। इससे कमलकी डंडियाँ नंगी हो आईं, जल नारियोंके नितम्बपरिमाण तक ही रह गया।

वनेषु सायन्तनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं सङ्ख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥४७॥

चमेलीके खिल जानेसे जो वन चारों ओर उत्कट गन्धसे महमह हो उठा तो भ्रमर भी एक-एक फूलपर ऐसे गुंजार करने लगा जैसे प्रत्येकको छूकर उनकी गणना कर रहा हो। दृश्य अनुभवसिद्ध है, नित्यका।

कालिदासका प्रकृति-वर्णन मानवके सान्निध्यसे होता है। उस वर्णनमें वे मानवको खोजते हैं। इसी प्रकार मनुष्यके दैनन्दिन जीवनमें, उसके

उल्लास-विषादमें प्रकृति सहसा प्रवेश कर जाती है। मानव और प्रकृतिका अन्योन्याश्रय है, एककी सार्थकता, उसका वैभव, दूसरेके लिए है। ग्रीष्मके आगमनका प्रभाव नर-नारीपर, पशु-पक्षियोंपर क्या पड़ता है यह सब उस वर्णनका अंग हो जाता है। न फूलोंका आकर अपने आपमें सिद्ध है न मनुष्यका विलास उसके अभावमें सम्भव है। दोनों एक दूसरेके अर्थसाधक हैं।

स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसन्दष्टशिखं कपोले।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥४८॥

कपोलोंपर प्रियजनके किए नखक्षतोंमें स्वेदकण उभर आये। कानोंमें पहने सिरसके फूलकी केसर उनमें भरपूर जा बसी। फिर तो कानोंसे गिरकर भी फूल सहसा न गिर पाये। गालोंपर पलभर अटके रहे। उनके परागकी गमक में उनका अभाव सिद्ध हुआ।

वसन्तके अभावसे कन्दर्पका प्रभाव शिथिल पड़ जाता है—अभ्युपशान्त-मन्मथो (ऋतु० १, १)—सो निदाघकी पहली तपनसे सहचर वसन्तके अभावमें मन्दगति होते हुए भी कामदेवने अपना बसेरा खोज लिया। कामिनियोंके अलकजालमें वह जा बसा। सान्ध्यस्नानसे अङ्गनाओंके खुले गीले केश धूपके धुएँसे बसे—भरके हुए थे, उनमें जहाँ-तहाँ साँझको ही खिलनेवाली चमेलीके फूल सजे थे। बस वहीं पुष्पधन्वाने अपनी कमान खींची, शर सन्धाना। मन्दवीर्य (कमज़ोर) ने अपना बल वहीं पाया—

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥५०॥

सफ़ेद अर्जुनके वृक्ष निदाघागममें फूल उठते हैं। सो अब उनकी छटा निराली हो चली। उनकी परागबोझिल फूली मंजरियाँ कुछ ऐसी लगीं जैसे कामदेवको भस्म कर चुकनेपर कोपके आधिक्यसे शिवने मनोभवके धनुषकी डोरी तोड़ दी हो और उनके कण उन वृक्षोंपर व्याप्त हो गये हों—

आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
दग्ध्वापि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥५१॥

कामी, विशेषकर ग्रीष्ममें, वसन्तके अभावमें निःसहाय हो जाते हैं। तब प्रकृति ही उनको ढाढ़स देती है, अपने कुसुमोंके आकर खोल उनका उद्दीपन करती है। सब चला गया पर आमकी बौर, उनके कोमल पल्लवों के खण्ड, फूलोंसे बसी ईखकी पुरानी मदिरा, पाटलके टटके लाल फूल (अब) हवापर हावी हैं। उनकी सम्मिलित मधुर गन्ध ग्रीष्मके सारे दोष हर लेती है, कामियोंकी सारी कमी पूरी कर देती है--

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च ।
सम्बध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥५२॥

'विक्रमोर्वशीय' नाटकके दूसरे अङ्कमें राजाके शब्दोंमें कविने गर्मीके प्रभावका सुन्दर वर्णन किया है। गर्मीके दिन, उसपर दुपहरीका आलम, विरही राजा भीतर-बाहर जल रहा है, जैसे पक्षिपरिवार भी, मोर, भौंरे, हंस, तोते सभी। गर्मीकी मार सब पर समान रूपसे पड़ती है—

उष्णार्तः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्याशेरते षट्पदाः ।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनी कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥२२॥

गर्मीसे व्याकुल शिखी (मोर) तरुमूलके (जलभरे) शीतल आल-बाल (थले) में जा बैठता है, भौंरे कनेरकी कलियोंके मुँह खोल उनमें जा सोनेके उपक्रम कर रहे हैं, हंस (सारस) ने तालके तपे जलको छोड़ तीरकी कमलिनीकी छायामें आश्रय किया है, और यह अभागा, निदाघ-व्यथित थका उदास पंजरबद्ध तोता अपने विलासकक्षमें ही जलकी रट लगाये हुए है। उसका बन्धन उसे लाचार कर रहा है, औरोंकी भाँति वह ग्रीष्मके अनुकूल आश्रय भी नहीं खोज पाता।

इसी प्रकार 'मालविकाग्निमित्र' के दूसरे अङ्कका एक स्थल भी तपते-तपाते निदाघका प्रभाव प्राणियोंपर प्रगट करता है—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दुत्क्षेपान् पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥१२॥

सूर्यके तेजसे सभी व्याकुल हैं, अभितप्त । बावलियोंकी नलिनियोंके पत्रोंकी छायामें हंस आँख मूंदे बैठे हैं, भवनोंके धूपसे तप जानेसे कबूतर छज्जोंको छोड़ बैठे हैं, रहट द्वारा फेंके जाते जलकी बूदोंका प्यासा मोर उसके चक्कर काट रहा है—ग्रीष्मकी तपन सबके लिए असह्य हो उठी है।

जलक्रीड़ा—

जलक्रीड़ाका सुख ग्रीष्ममें ही है । कालिदासने उचित ही उसे ग्रीष्म-वर्णनका ही सहवर्ती माना है । संस्कृत कवियोंके लिए सैन्य-संचरणके अवसर पर वन-पर्वत और जल-विहारका वर्णन सहज रहा है । 'शिशुपाल-वध'में माघने भी वन-विहारके बीच वारिविहारका मधुर वर्णन किया है । कालिदासने 'रघुवंश' के सोलहवें सर्गमें कुशके कुशावतीसे अयोध्या लौटनेके बाद सरयूमें स्नान-विहारका सराहनीय रूप खींचा है ।

राजा नारियोंसे घिरा नावोंके बीच नदीके जलमें खेल रहा है। स्वयं वह किरातीके साथ नौकारूढ़ है, पर उसकी नज़रसे एक छींटा नहीं बच पाता । नदीकी छटा भी निराली है । तीरकी सीढ़ियोंसे जलमें एक साथ उतरतीं अंगनाओंके भुजबन्दोंके परस्पर टकरा जाने और उनके नूपुरोंके सरक जानेसे नदीके हंस सहसा डर गये । फिर एक दूसरे पर पानी फेंकनेमें तत्पर उन नारियोंके स्नान-दर्शनका सुख लूटने वाले राजाने बगलकी चँवर-धारिणी किरातीसे कहा—

पश्यावरोधः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥५८॥

देख री, मेरे अन्तःपुरकी सैकड़ों रानियों (नारियों) के स्नानसे उनके शरीरके अंगराग धुल जानेसे सरयूकी धारा रक्तपीत बादलोंसे भरी सांझकी भाँति रंग-बिरंगी हो गई है ।

विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥५९॥

नौकाओंके संचरणसे उठने वाली लहरियाँ इन रनिवासकी सुन्दरियोंके अंजन जो धो देती हैं तो घटी शोभाको यथावत् करनेके लिए वे उनके नयनोंको मदिराकी ललाई भी सौंप देती हैं । निहार तो तनिक—

एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः ।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥६०॥

ये नारियाँ अपने भारी नितम्बों और स्तनोंके कारण चल नहीं पातीं, परन्तु क्रीड़ाके लोभसे 'रागवश' मोटे भुजबन्दों वाली बाहुओंसे बड़े कष्टसे जलमें तैर रही हैं ।

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलाश्छलयन्ति मीनान् ॥६१॥

जलविहार करनेवाली इन प्रमदाओंके कानोंसे जो सिरसके फूल गिरकर धारामें चंचल बह चलते हैं उनसे मछलियोंको सेवारका भ्रम हो जाता है और वे इस प्रकार छली जाती हैं । सेवार समझकर उन्हें खानेको वे लपकती हैं ।

आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥६२॥

इस क्रीड़ामें जल पीटनेवाली नारियोंके स्तनोंपर उछलती मोतीकी-सी

जलबिन्दुओंके कारण उन्हें यह भी पता नहीं चलता कि उनके मुक्ताहार टूट गये हैं, मोती बिखर गये हैं। बूँदें मोतियोंका भ्रम बनाये रखती हैं जिससे गुमान भी नहीं होता कि हार टूट गये हैं।

आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥६३॥

विलासिनियोंके अंगोंकी उपमा जिन विविध उपमानोंसे दी जाती है वे सभी इस काल इनके निकट उपस्थित हो गये हैं। गहरी नाभिके समान जलके भँवरोंकी शोभा है, भवोंके समान लहरोंके बंक हैं, स्तनोंके समान चकवा चकवी हैं।

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥६४॥

इनके गाते समय तालके लिए जलको पीटनेसे जो मृदङ्गकी-सी ध्वनि होती है उसे सुनकर तीरके मस्त मोर अपने पंखोंका मण्डल उठा और मधुर बोलकर उसका अभिनन्दन करते हैं, नाच उठते हैं।

एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥६६॥

जब दर्पसे तरुणियाँ सखियोंपर जल फेंकती हैं और वे भी इन्हें उत्तरमें जल फेंककर सिक्त कर देती हैं तब इन सबकी जलसे भींगी सीधी अलकोंसे कुङ्कुम आदिके चूर्णसे लाल बूँदें टपकने लगती हैं।

उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥६७॥

जलविहारके कारण इनके केशकलाप खुल गये हैं, पत्ररचना या विशेषक (गालों, स्तनों आदि पर टहनियों, पत्तों आदिकी आकृति बनाना) मिट गया है, कानोंसे मोतियोंके कर्णफूल चू पड़े हैं, फिर भी इन प्रमदाओंका क्रीड़ाकुल वेश मनोहर ही लगता है।

फिर तो राजा भी जलमें उतर पड़ा और उन सेना-निवासकी नारियों के साथ उन्मत्त क्रीड़ा करने लगा। फिर तो कामिनियोंका आनन्द दुगुना हो गया, उनके सौन्दर्यकी गाँठें खुल गईं। मोती तो सहज ही नयनाभिराम होते हैं और जब उनके बीच इन्द्रनील गूँथ दिया जाय तब उनके आकर्षणके क्या कहने ?

ततो नृपेणानुगतः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥६९॥

फिर तो जलक्रीड़ाका रंग और भी चढ़ा। उन्मत्त नारियाँ प्रेमपूर्वक सोनेकी पिचकारियोंसे कुश पर रंग छोड़ने लगीं। एक तो वैसे ही रंगोंकी छटा, दूसरे प्रमदाओंका सौन्दर्यविलास, फिर स्नेहकी वह मार, राजा विवश हो गया, ऐसा लगा जैसे पर्वतसे गेरुका झरना झर रहा हो—

वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन्।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥७०॥

वर्षा—

निदाघके बाद पावस आता है। गर्म हवासे झुलसे प्राणी नई साँस पाते हैं। प्रखर किरणोंसे तपी धरा बादलोंकी फुरहरीसे शीतल सिंचती है, अपनी सुरभिके कोष खोल देती है। प्रवासी प्रणयी प्रेयसियोंकी ओर लौटते हैं, प्रोषितपतिकाओंका एकान्त भरता है। बीजोंके नये अँकुर फूटते हैं। कविका मन विकल हो उठता है, उसकी वाणी रससे सिक्त हो उठती है। 'मेघदूत'का आरम्भ वह आषाढ़के आरम्भमें करता है, जब मेघ आकाशमें मंडराने लगते हैं, जब हंस कमलनालोंका पाथेय ले मानसरोवरकी ओर उड़ चलते हैं। 'ऋतुसंहार'का समूचा दूसरा सर्ग वर्षाका वर्णन करता है, मधुर व्यापक। पहला ही श्लोक है—

ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जर–
स्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः ।
समागतो राजवदुद्धतद्युति–
र्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥

प्रिये, आ पहुँचा पावस। जलभरे बादलोंके मदमस्त गज लिये, चपला की पताका फहराता, वज्रके नगाड़े बजाता, कामियोंका प्रिय मनभावन पावस राजाकी छटा लिये आ पहुँचा।

प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः
समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः ।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता
वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥५॥

धराकी छटा अनुपमेय है। सभी प्रकारसे वर्षाने उसे भर दिया है। बिल्लौरके-से घासोंके अंकुर उसपर छा गये हैं, केलोंके नये निकले पत्तोंके भारसे वह पुलक उठी है, बीरबहूटियोंने उसके अंग-प्रत्यंगको ढक दिया है। सही, उन्मत नायिका-सी धरणी रंग-विरंगे रत्नोंसे सज गई है।

विलोलनेत्रोत्पलशोभिताननै–
र्मृगैः समन्तादुपजातसाध्वसैः ।
समाचिता सैकतिनी वनस्थली
समुत्सुकत्वं प्रकरोति चेतसः ॥६॥

चंचल पद्मनयनोंसे छविवान भयातुर हिरनोंसे सर्वत्र भरी बालुकामयी वनस्थली चित्तको उत्कंठित कर देती है, बरबस खींचे ले रही है।

विपत्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका
विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।
पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां
कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ॥१४॥

अभिराम गुंजार करते उत्कण्ठित भ्रमर पत्तोंसे रहित नलिनीको छोड़ विभोर हो नाचते भौंरोंके पुच्छ-मण्डलको ही भ्रमवश नये कमल मान उसपर टूटे पड़ते हैं ।

'मेघदूत' में कविकी वाणी नितान्त आर्द्र अभिनव मधुर हो जाती है । वर्षाके आगमनसे न केवल चराचरके नये परिधान सजते हैं वरन् प्रणयिनीके प्रति उसके नायक-यक्षकी उत्कण्ठा तीव्र हो उठती है । सुध-बुध खो गिरिशिखरपर मँड़राते मेघखण्डको मित्रवत् वह भेंटता है, टटके कुसुमोंसे उसका स्वागत करता है, कुछ कहना चाहता है । अबतक शापके मारे प्रियासे दूर प्रवास करनेवाले यक्षने जैसे-तैसे करके कुछ मास रामगिरि पर काटे थे पर जब आषाढ़के पहले ही दिन धूहों से खेलते गजकी भाँति उसने मड़राता मेघ देखा तब वह और संयत न रह सका, उसके समीप जा, आँसू रोके बोल ही पड़ा—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ।।६।।

मेघ, पुष्कर और आवर्तक नामके जगद्विख्यात मेघकुलोंमें तुम्हारा जन्म हुआ है। जानता हूँ तुम इन्द्रके राजपुरुष हो, दूत और कामचारी हो, मनचाहा रूप भी बना सकते हो । इसीसे दैवकी मारसे बन्धुओंसे दूर होनेके कारण याचक बनकर तुम्हारे निकट आया हूँ। (जानते ही हो)— अधिक गुणवालेसे निष्फल हो जानेपर भी माँगना भला है, पर अधमसे सफल होनेकी सम्भावना होते भी माँगना अनुचित है । यक्षका आचरण कितना शिष्ट कितना विनीत है, कहना न होगा । इसमें तनिक चाटु-कारिताका पुट निःसन्देह है, परिस्थितिवश स्वाभाविक, पर उसमें फूहड़पनका लेश भी नहीं ।

आकाश-मार्गसे जाते हुए मेघका प्रभाव नीचेके श्लोकमें कविने अत्यन्त चातुरी और गौरवसे दर्शाया है। कवि तो ध्वनिका असाधारण व्यवहर्ता है।

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

पवनके मार्गसे जाते हुए तुमको पथिकोंकी पत्नियाँ (प्रोषितपतिकाएँ) अपनी अलकें उठाकर निहारेंगी और तुममें विश्वासकर ढाढस बाँधेंगी। क्योंकि मेरे जैसे परवश जनको छोड़ दूसरा कौन है जो तुम्हारे उपस्थित होने पर (वर्षाके आगमन पर) भी विरहपीड़िता पत्नीकी उपेक्षा करेगा? कितना सारवान छन्द है। प्रोषितपतिकाएँ पतिके प्रवासमें विरहविधुरा होनेसे प्रसाधनविरहित रहती हैं, केशों आदिको तैलस्निग्ध नहीं करतीं, वेणी नहीं बाँधतीं। इससे उनके मुक्त केश ऊपर आकाशमें मेघको देखते समय आँखोंपर लुढ़क आते हैं जिससे देखनेमें असुविधा होती है, जिससे अलकोंको हाथसे हटाकर देखना होता है। उनको मेघागममें बड़ा आश्वासन मिलता है; कारण कि अब उनके प्रवासी पति घर लौटेंगे। और उनके प्रवासी भी अब राहमें होंगे इसीसे उनकी पत्नियोंको कविने 'पथिकवनिताः' कहा है।

गगनमें गतिमान् मेघका एक चित्र है। मन्द मन्द वह वायुमार्गसे पवनकी प्रेरणासे बढ़ता है। बायीं ओर चातक स्वातिके जलके लिये मधुर रवते हैं, हंसोंकी पंक्ति साथ उड़ चलती है। 'नेचुरलिज़्म' 'इमेजिज़्म' का सम्मिलित दृश्य है। वैदर्भी वृत्ति है, श्लोकोंसे ही जैसे मधुर ध्वनि निकल रही है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥१०॥

अनुकूल पवन तुम्हें धीरे-धीरे प्रेरित करता (उड़ाता) है, तुम्हारी बायीं ओर यह गर्वीला चातक मधुर गाता है, फिर तुम्हें अपने गर्भाधान-सुखका कारण मान पंक्ति बाँध सारसोंकी पत्नियाँ आकाशमें तुम सुदर्शनके साथ साथ उड़ेंगी। शब्दोंका चयन अत्यन्त मधुर है और अनुकूल वायु, चातक-शब्द और बलाका-दर्शनसे आरम्भके शुभ शकुन प्रस्तुत किये गये हैं। चातकको सगन्ध (सगर्व) लिखकर उसके स्वाति जलपानकी परम्परागत प्रतीक्षा की ओर संकेत किया गया है।

नीचेके श्लोकमें अनेक भाव असाधारण कुशलतासे व्यक्त किये गये हैं। मेघको मार्ग बताता हुआ यक्ष उसे बड़ी त्वरासे इष्टकी ओर भेजता है—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥

खेतीका अन्न तुम्हारे ही अधीन जान कर सीधी गाँवकी बहुएँ भ्रूविलास (आँखें चलाने) से अनभिज्ञ प्रीतिभरे लोचनोंसे तुम्हें पियेंगी (भरपूर निहारेंगी)। फिर भी तुम उन सीधी आँखोंमें ही उलझ कर कहीं देर न कर देना। वहाँ हालके जुते होनेसे माल देशके खेतोंसे सोंधी सुगन्ध निकल रही होगी। उन पर बरस कर थोड़ा हल्के हो लेना, तब तनिक पच्छिम जाकर फिर झपट कर उत्तर चल देना।

किसानोंकी स्त्रियोंका मेघके प्रति स्नेह और आदर स्वाभाविक है।

और वह उनका मेघको सादर निहारना छलनासे दूर है, क्योंकि गाँवकी ललनाएँ कटाक्ष द्वारा मर्म बेधनेकी कला जानती ही नहीं। चुलबुलापन तो नगरकी प्रमदाओंका गुण है, विलासमें वही कुशल होती हैं। इसी 'मेघदूत' में (२७) कालिदासने उज्जयिनी नगरीकी नारियोंके सम्बन्धमें कहा है कि—

विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥

तुम्हारी बिजलीकी चमकसे चकित होकर वहाँकी नागरिकाएँ जो लोचनोंसे चंचल कटाक्ष करेंगी, यदि उनसे तुम न रीझे, उनमें न रमे, तो तुम अभागे ही हो। जुते खेतों पर पड़ी वर्षाकी पहली फुहारसे जो गमक निकलती है उसका सुख वही जान सकते हैं जिन्होंने उसे सूंघा है। पृथ्वीका जो 'गन्ध' गुण माना गया है उसका यह सुरभि सही प्रमाण है।

'रघुवंश' के तेरहवें सर्गमें पुष्पकविमानसे लंकासे अयोध्या लौटते हुए राम सीताको वन-प्रवासके स्थल बताते जा रहे हैं, जहाँ सीताके साथ या उनके हरण हो जानेके बाद वे अकेले रहे थे। मेघागमने तब उनके मनको अत्यन्त व्याकुल कर दिया था—

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनं बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥२७॥

उस काल मेहके कारण तालाबोंसे उठती मधुर गंध, कदम्बकी अधखिली कलियोंकी मादक केसर और भौरोंकी स्नेहशील वाणी मुझे तुम्हारे अभावमें असह्य हो उठी थी।

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम्।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि ॥२८॥

रामको सीताके साथ विलासमें पर्वत पर बिताये दिन याद आते हैं, फिर सीताके अभाबमें वर्षाकालमें आई उस विलासकी मारक सुधि सहसा सबल

हो उठती है। कहते हैं, हे भीरु, पहले विलासके समय तुम्हारा काँप कर लजा जाना याद करते मुझे गुफाओंमें गूँजनेवाले मेघका गर्जन व्याकुल कर देता, उसे मैं जैसे-तैसे ही काट पाता। इस प्रसंगको गोस्वामी तुलसी-दासने भी बड़ी मार्मिकतासे निबाहा है। उनके राम कहते हैं—

घन घमण्ड गरजत अति घोरा।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥

मेघके गर्जनेसे, वर्षागमसे, रामके-से जितेन्द्रियका मन भी डिग जाना संभव है, जिससे उनके मनमें भी अनीतिका डर घर कर लेता है।

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः॥२६॥

राम कहते हैं—मेंह बरसनेसे धरासे जो भाप निकली उससे कन्द-लियोंकी कलियाँ खिल उठीं। उनकी कान्ति (ललाई) फिर तो वैसी ही हुई जैसी विवाहके समय हवनका धुआँ लगनेसे तुम्हारे नयनोंकी हुई थी। उन नयनोंका स्मरण मेरे लिए प्राणपीड़क हो उठा। उन्हें देख मेरी आँखें भी बथ उठीं।

शरद्—

वर्षाके बाद शरद् आता है। बादलोंके छट जानेसे आकाश निर्मल हो जाता है, सर-सरिताएँ स्वच्छ हो जाती हैं, चराचर लगता हैं जैसे, धुलकर सज उठा है। चाँदनी दमक उठती है, चाँद जैसे बड़ा हो आता है, निमल गगनके चँदोवेमें तारे स्वच्छ टँकेसे दिखते हैं। 'ऋतुसंहार' के तीसरे सर्गमें शरद् (क्वार-कार्तिक) का वर्णन बड़ा मनहर और ऋद्ध हुआ है।

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।

आपक्वशालिरुचिरातनुगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥१॥

काश-कुसुमोंके वसन पहने, खिले मदनरूपी सुन्दर मुखवाली उन्मत्त हंसोंके कलरवके रूपमें अपने पायलोंको मधुर ध्वनि उपजाती, चारो ओर पके शालि रूपी अपनी मनोहर खड़ी काया लिये रूपशालिनी नव-वधूकी भाँति शरदृऋतु आ पहुँची। कविने इस एक श्लोक द्वारा शरद्की अनेक विशेषताएँ प्रगट कर दीं। पर उस कमनीय श्लाघ्य ऋतुका वैभव क्या इतनेसे ही प्रकाशित हो सकता है। कविके शब्दोंमें ही पढ़ें—

काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो
हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि ।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः
शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥२॥

इस शरद्के आगमनसे समूची धरा काश पुष्पोंसे, रजनी चन्द्रकिरणोंसे, सरिताओंके जल हंसोंसे, सरोवर कुमुदोंसे, बनोंके अंचल फूलोंसे लदे सप्तच्छद तरुओंसे और उपवन मालती-कुसुमोंसे सहसा धवल हो उठे हैं।

व्योम क्वचिद्रजतशङ्खमृणालगौरै-
स्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः ।
संलक्ष्यते पवनवेगचलैः पयोदै
राजेव चामरवरैरुपवीज्यमानः ॥४॥

चाँदी, शंख और मृणालकेसे श्वेत जलरहित होनेसे, हल्के-फुल्के वायु वेगसे चञ्चल सैकड़ों मेघखण्डोंके चलते रहनेसे आकाशने डुलाये जाते चँवरोंसे शोभायमान राजाकी छटा धारण कर ली है। परन्तु शरद्की शोभा तो उसके निर्मल चन्द्रमा और चमकते तारोंसे है, इनसे दमकती रजनी से। सो कवि अब रात्रिकी छबिकी ओर संकेत करता है—

तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती
मेघावरोधपरिमुक्तशशाङ्कवक्त्रा ।
ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना
वृद्धिं प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला ॥७॥

तारोंके उत्तम आभूषण पहने चाँदनीका धवल दुकूल (वस्त्र) धारण किये मेघयुक्त 'घूंघटरहित' निर्मल चाँदका मुखड़ा लिये रात मस्त बाला-सी नित्य बढ़ती जा रही है। शरद् पूनोंमें चमकती चाँदनीके कारण अधिकतर तारे छुप जाते हैं, इससे तारोंके आभूषणोंसे, उनकी परिमित संख्यासे रजनीकी सुरुचि भी बखानी गई है।

ऐसी स्थिति भी, रजनीकी यह मनोहरता भी, सदा ग्राह्य और रमणीय नहीं होती। अनेक बार तो स्थितिविशेषमें मन इन उपकरणोंसे ही दहक उठता है—

नेत्रोत्सवो हृदयहारमरीचिमालः
प्रह्लादकः शिशिरसीकरवारिवर्षी ।
पत्युर्वियोगविषदिग्धशरक्षतानां
चन्द्रो दहत्यतितरां तनुमङ्गनानाम् ॥८॥

नेत्रोंका हर्ष हृदयहारी किरणोंका स्वामी आनन्ददायक सुधावर्षी चन्द्रमा पतिके वियोग रूपी विषबुझे वाणसे घायल ललनाओंको बुरी तरह जलाये जा रहा है। कवि बार-बार मानवसे निसर्गकी ओर और निसर्गसे मानवकी ओर लौटता है। मानव और निसर्ग एक-दूसरेके पूरक हैं, एक-दूसरेसे धनी।

शरद्के प्रभातमें रजनीका रूप और हो जाता है। कोईं सम्पुट हो जाती है, कमल खिल उठता है।

दिवसकरमयूखैर्बोध्यमानं प्रभाते
वरयुवतिमुखाभं पङ्कजं जृम्भतेऽद्य ।

कुमुदमपि गतेऽस्तं लीयते चन्द्रबिम्बे
हसितमिव वधूनां प्रोषितेषु प्रियेषु ॥२३॥

प्रभात काल सूर्यकी किरणें कमलको जगाती हैं और तब वह अभिराम तरुणीके मुखका सौन्दर्य धारण करता है, उधर चन्द्रमाके गोलेके अस्त हो जानेसे कमलिनी भी प्रवासी पतिके अभावमें पत्नीकी हँसीकी तरह क्षीण हो जाती है ।

हेमन्त—

धीरे-धीरे शरद्की कान्ति भी तिरोहित हो जाती है । हेमन्तका आगमन होता है । उसका प्रसार अगहन और पूसके महीनों पर होता है । सर्दियाँ शुरू हो जाती हैं और उन्हींके अनुकूल प्रकृति और मनुष्य दोनों अपने वसन आदि बदल लेते हैं । 'ऋतुसंहार' के चौथे सर्गके पहले ही श्लोकमें कविने उस ऋतुके प्रगट प्राकृतिक लक्षण व्यक्त कर दिये हैं—

नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः
प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः ।
विलीनपद्मः प्रपतत्तुषारो
हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥१॥

प्रिये, आया हेमन्त ! अन्नके पौधोंमें नई पत्तियाँ फूटीं, लोधके वृक्ष फूल उठे, शालि धान पक गये, कमल (पालेसे जलकर) नष्ट हो गये, (पहाड़ों पर) बर्फ गिरने लगी ।

पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतै-
राधूयमाना सततं मरुद्भिः ।
प्रिये प्रियङ्गुः प्रियविप्रयुक्ता,
विपाण्डुतां याति विलासिनीव ॥१०॥

बर्फके पालेसे पकती निरन्तर वायुसे डोलती श्यामालता प्रियके वियोगमें विलासिनीकी भाँति पीली हुई जा रही है। उसका वैभव शरद् तक ही सीमित है।

शरद्के बाद हेमन्तमें विलासिनियोंके मण्डन और प्रकारके होते हैं। उनकी बाहुओंसे कसे कड़े और भुजबन्द उतर जाते हैं, वैसे ही नये दुकूल (रेशम) नितम्बोंसे और झीनी अँगिया सुपुष्ट स्तनोंसे अलग कर दिये जाते हैं। उनका स्थान अब दूसरे आभूषण और भारी मोटे ऊनके वस्त्र लेते हैं। प्रमदाओंको न तो रत्नोंसे जगमग कांचनी करधनीसे मोह रह जाता है न हंसका कलरव करती पायलोंसे। हाँ, विलास (सुरत) के लिए निःसंदेह वे अपने शरीरको कालीयकके लेपसे चर्चित करती हैं, मुख-कमलोंको कस्तूरी की राग-रेखाओंसे सजाती हैं, केश-कुन्तलोंको कालागुरु (धूपादि) के धुएँ से बासती हैं।

गात्राणि कालीयकचर्चितानि
सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि ।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि
कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥५१॥

शिशिर—

शिशिर तो और भी कँपकँपी उत्पन्न करता है। लोग घरकी खिड़कियाँ बन्द कर भीतरके कमरोंमें चले जाते हैं, आग और धूप प्रियतर हो उठते हैं, भारी वस्त्र उनके शरीर ढँकते हैं और यौवन मदसे मदी प्रमदाएँ पुरुषोंका रागरंजन करती हैं—

निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं
हुताशनो भानुमतो गभस्तयः ।
गुरूणि वासांस्यबलाः सयौवनाः
प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम् ॥५२॥

अब न तो चन्दनकी इच्छा रह जाती है, न चन्द्रकिरणोंसे शीतलताकी। न शरद्की चाँदनीसे धोई छत ही लोगोंको आकृष्ट करती है न बर्फीली शीतल हवा ही—

न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं
न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला
जनस्य चित्तं रमयन्ति सांप्रतम् ॥३॥

अब तो बस—

गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः
सुखासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः ।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं
विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ॥५॥

पान खाकर, कस्तूरी आदिसे शरीर लेपकर, गजरे धारण कर, मुख कमला को सुखदाई शराबसे सुवासित कर उत्कण्ठिता नारियाँ कालागुरुके धूपसे भले प्रकार बसाये शय्यागारकी ओर भागती हैं। ऐसी रुचिर ऋतुको कवि अकेले ही नहीं भोगना चाहता, अपने पाठकोंकी भी मंगलकामना करता है—

प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालीक्षुरम्यः
प्रबलसुरतकेलिर्जातकन्दर्पदर्पः ।
प्रियजनरहितानां चित्तसन्तापहेतुः
शिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम् ॥

प्रभूत खांड़-शक्कर वाला सुस्वादु शालि और ईख वाला अत्यन्त भोगसे उत्पन्न मदन राग वाला प्रियजनोंके अभावमें चित्तको सन्ताप देने वाला यह शिशिर नित्य तुम्हारा कल्याण करे !

वसन्त—

शिशिरके माघ और फाल्गुन महीनेके बाद ऋतुराजके मास आते हैं, चैत और बैसाख। मधुमास हैं वे, जब चराचर नयी दीप्ति नये उल्लाससे भर उठता है। वसन्त सच ही ऋतुराज है, ऋतुओंका राजा, मानवोंके लिए विशेष मादक। कालिदासने अपने अनेक काव्योंमें अनेक स्थलों पर वसन्तका वर्णन किया है। 'ऋतुसंहार' में तो निःसन्देह वह मूर्त हो ही उठा है। अन्तिम, छठा, सर्ग वसन्त-विलासमें गाया है कविने—

प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको
द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः।
मनांसि वेद्धुं सुरतप्रसङ्गिनां
वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ॥१॥

प्रिये, फूले आमकी मंजरियोंको अपने तीखे तीर बनाये, भौंरोंकी पाँतको अपने धनुषकी डोरी किये, विलासप्रिय रसिकोंके मनको बेधनेके लिए योद्धा वसन्त आ पहुँचा ! और वसन्तके आगमनसे, प्रणयिनि,

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं
स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः
सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥२॥

तरु पुष्पोंसे लद चले हैं, जल कमलोंसे ढक चले हैं, नारियाँ कामसे मद चली हैं, वायु गन्धबोझिल हो चली हैं, साँझें और रातें मनहर हो उठी हैं, दिवस रम्य हो उठा है। वसन्तका आलम है, सभी वस्तुएँ मधुरतर, सुन्दरतर हो चली हैं।

आभूषण लौटे, रँगे वसन लौटे, झीनी चोलियाँ लौटीं। नारियाँ फिर कुंकुमसे स्तन-मण्डल रँगने लगीं, कपोलों पर पत्र-रचना करने लगीं। प्रमदाओंने कानोंमें नये कर्णिकारके कुसुम खोंसे, श्याम चंचल

अलकोंमें अशोक। नवमल्लिकाके टटके फूल उनकी कान्ति दुगुनी करने लगे। श्वेत चन्दनसे गीले स्तनों पर हार झूलने लगे, बाहुओंमें वलय (कड़े) और अंगद (भुजबन्द) कस गये, कामोत्सुका नितम्बिनियोंकी जाँघों पर करधनी जा चढ़ी।

नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु
गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः
स्त्रीणामनङ्गो बहुधास्थितोऽद्य ॥१०॥

अनंगने अनेक रूपसे अलबेलियोंके अंगांगोंका आश्रय किया—उनकी मदिरासे अलसायी आँखोंमें वह चञ्चलता बनकर पैठा, कपोलोंमें पीलापन बनकर, कुचोंमें कठोरता बना वह, कमरमें गहराई, जाँघोंमें पीवरता (मुटाई)। ऊपरके दोनों श्लोकोंकी पदावलि जितनी ही सहज है उतनी ही ललित, अभिनवकान्त।

वसन्तके आगमनसे अशोक वनिताओंको व्याकुल कर रहे हैं, आम रसिकोंको। नीचेके श्लोक उनका अभाव प्रगट करते हैं—

आ मूलतो विद्रुमरागताम्रं
सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं
निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम् ॥११॥

ऊपरसे नीचे तक नये पल्लव और मूँगेके-से लाल कुसुम-निचय धारण किये अशोक देखते ही नवयौवनाओंके हृदयोंको सशोक कर देता है, उनमें साल उठता है। इसी प्रकार

मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा
मन्दानिलाकुलितनम्रमृदुप्रवालाः।

कुर्वन्ति कामिमनसां सहसोत्सुकत्वं
चूताभिरामकलिकाः समवेक्ष्यमाणाः ॥१७॥

मदमाते भौंरे जिसके रुचिर कुसुमोंको चूमते हैं, जिसकी झुकी कोमल पत्तियाँ मन्द पवनसे झूम रही हैं, ऐसे आमकी अभिराम मंजरियोंको देखते हुए कविको कोयलोंकी सुधि तुरन्त आई। उनके मदमाते प्रणयका उसने अनेकधा वर्णन किया है। उसकी एक झलक इस प्रकार है—

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन
मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः।
कूजद्द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः
प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु ॥१८॥

प्रिये, प्रणयसे उल्लसित यह नर-कोकिल आमके रसकी मदिरासे बुत्त हो प्रियाको चूम रहा है। यह कमलपर बैठा गुनगुनाता भौंरा भी प्रियाका मनचाहा कर रहा है। और इस नर-कोयलोंके अभिराम टेरने और कल कूजनेसे लज्जावती पतिव्रता कुलवधुओंपर कुछ ऐसी आ बनती है कि उनके विनीत हृदय भी क्षणभरके लिए व्याकुल हो उठते हैं। उनका पातिव्रत चलायमान हो उठता है—

पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः
कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृङ्गैः।
लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन
पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥२१॥

कोकिल जब हर्षसे मतवाला हो मधुरवाणीसे पुकारता है, भ्रमर जब उन्मादसे भर कलकण्ठसे कूजता है तब चराचर निःसहाय हो उठता है। कोयलकी कूक, वैसे ही भौंरेकी गूँज, वसन्तके उद्दीपक सम्बल हैं। कामके सायकका रहस्य उन्हींपर अवलम्बित है। स्वाभाविक ही है कि कवि

अपना 'ऋतुसंहार' ऋतुराज वसन्तके वर्णनसे और वसन्तका वर्णन उसी पंचसायक मन्मथके बखानसे समाप्त करे—

आम्रीमञ्जुलमञ्जरीवरशरः सत्किंशुकं यद्धनु–
ज्यी यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशुः सितम् ।
मत्तेभो मलयानिलः परभृतो यद्बन्दिनो लोकजित्
सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥२८॥

आमकी रुचिर मंजरियाँ जिसके तीखे बाण हैं, पलाश-कुसुम जिसका उत्तम धनुष, भौरोंकी पाँत जिसके धनुषकी डोरी है, चन्द्रमा जिसका निष्कलंक धवल छत्र है, मलयानिल जिसका मतगज (वाहन) है, यश-गायक वैतालिक (वन्दी) जिसके कोयल हैं, वही लोकजयी (तनरहित) अनंग, वसन्तके साथ, तुम्हारा कल्याण करे !

'रघुवंश' और 'कुमारसंभव'में भी वसन्तका अभिराम वर्णन हुआ है । 'रघुवंश'का नवाँ सर्ग तो इस दृष्टिसे अपूर्व है । वस्तुतः वह सर्ग दशरथ के आखेटका है परन्तु उनके वहाँ प्रवेश करनेके साथ ही वनस्थली पर वसन्त भी आ बगरता है । वसन्तके उस कृमागमनका उल्लेख इस बारीकीसे हुआ है कि मन मोह जाता है—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥२६॥

पहले फूल खिले, फिर नये पल्लव फूटे, उसके बाद भौंरे गूँजने लगे और तदनन्तर कोयलोंने टेर लगाई । इस प्रकार उचित कृमसे तरुमयी वनस्थलीमें वसन्तका आविर्भाव (आगमन) हुआ ।

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥२८॥

बसन्तमें फूले अशोकके नये फूल ही केवल कामोद्दीपन नहीं करते थे, नारियोंके कानोंमें सजी पल्लव-कोपलें भी विलासियोंको उन्मत्त कर देती थीं ।

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः ॥२९॥

भृंग कुरबकोंका मधु पीकर प्रमत्त गा उठे। वसन्तने मानो कुरबक वृक्षों द्वारा वनश्रीका अभिनव शृङ्गार किया था, पत्ररचना की थी। उस रूपमें वनस्थलीमें खड़े स्वयं मधुदानमें कुशल कुरबक मधुपोंके गुंजारका कारण बने।

सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥३०॥

कान्ताके मुखासव (शराबके कुल्ले) से (बकुल वृक्ष फूलता है) उत्पन्न और स्वयं वही गुण धारण करनेवाले कुसुमाकर बकुलको मधुलोलुप पंक्तिबद्ध मधुकर आकुल कर देते हैं, झकझोर देते हैं।

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयार्पितलज्जया ॥३१॥

शिशिरके बीत जानेपर वसन्तलक्ष्मीने जो पलाश वृक्षको कलियोंसे भर दिया है तो लगता है कि मदात्यय (आसवके आधिक्य) से लज्जारहित हो प्रमदाने प्रणयीके तनपर नखक्षत बना दिये हों।

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥३३॥

अभिनय-कला सीखनेको उद्यत-सी मलयानिल द्वारा कंपित पत्तियों और कलियों (बौरों) वाली आमकी शाखाएँ रागद्वेष जीत लेने वाले मुनियोंके मन भी उन्मत्त करने लगीं।

प्रथममन्यभृताभिरुदीरितः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥३४॥

सुगन्धसे महमह खिले फूलोंभरी वन-पंक्तियोंमें जब पहली बार कोयल हल्के कूकी तो लगा जैसे मुग्धा नायिका धीमे बोल रही है। वसन्तागममें कोयलकी टेर थोड़ी होती है, धीरे-धीरे उसकी संख्या बढ़ती है और बादमें प्रायः अविरल हो जाती है। मुग्धा वधूका वाग्व्यापार भी प्रायः ऐसा ही होता है। पहले वह हल्की बोलती है, अतीव मितभाषिणी होती है, फिर जैसे जैसे वह प्रियके सकाशसे खुलती जाती है वैसे ही वैसे वह प्रगल्भ भी होती जाती है।

वसन्तकी कुसुस-संपदाका व्याख्यान करता कवि थकता नहीं, और उस व्याख्यानमें कहीं आयास नहीं। भावोंकी गाँठ खुलती चली जाती है, उनके वाहन शब्द अपने आप लेखनीकी नोकसे टपकते चले जाते हैं—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥३५॥

उपवन-लताओंके विविध उपक्रम कविको नर्तकीके-से लगते हैं। उनपर बैठे भौरोंका मधुर गुंजन लताओं द्वारा गाये गीतसे लगते हैं, खिले फूलोंमें उनके दाँतोंकी दमक भर गई है, मानो वही उनकी हँसी व्यक्त कर रहे हों। पवनकी परससे हिलती उनकी डालियाँ-पत्तियाँ लगती हैं, जैसे लय-मग्न अभिनय करते उनके कर हों। राहमें बढ़ आई लताओंकी चेष्टाएँ अभिनयकी मुद्राएँ व्यक्त करती हैं।

वसन्तका आगम विनय और संयमका घातक है। प्रणयके सहायक मद्यको अनेक नारियाँ सुरतमें भी वर्जित करती थीं, पर ऋतुराजका जादू अनेक बार उन्हें भी परास्त कर देता है—

ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम्।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥३६॥

मधु (मद्य) स्मरसखा है न, कामका सहचर, कामोद्दीपक, मधुर-विलासका संघटयिता, सुरतक्रीड़ाके प्रवाहका अद्भुत प्रसारक (हावभावको

उकसानेवाला) बकुलको भी अपनी गन्धसे हरा देनेवाले उस मद्यको, जो रसको खंडित नहीं करता, उसकी धार बनाये रखता है, प्रमदाओंने विना झिझकके पतिके प्रणयानन्दमें बगैर बाधा डाले चुपचाप पी लिया। वसन्त निःसन्देह पति-पत्नीके परस्पर अनुरागका उद्गम है, मदिरा उसकी सहायक है।

शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहङ्गमाः ॥३७॥

खिले कमलों और मधुर रवते चञ्चल हंसादि जलपक्षियोंसे भरी घरोंके 'नज़रबागों' की बावलियाँ ऐसी सोह रही थीं जैसे ढीली करधनी बजातीं हँसते अभिराम आननोंवाली स्त्रियाँ हों।

उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयानितया रजनीवधूः ॥३८॥

वसन्तके आगमनका रजनीपर क्या प्रभाव पड़ा? उसकी गति खण्डिता नायिका-सी हुई। जैसे पतिके समागमके अभावमें नारी पीली पड़ जाती है, वैसे ही मधुमाससे हीन हुई रात्रि चन्द्रमाके उदयसे संध्यारूपी पीला मुख धारण किये नित्य दुबली हो चली।

हुतहुताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत्।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥४०॥

अंगारकी-सी दमकवाले जो कनैलके फूल वनलक्ष्मीने सोनेके आभूषणोंके बदले धारण किये थे वही प्रियतमों द्वारा लाये सुन्दर पंखुड़ियों और केशर भरे कुसुम युवतियोंने अपनी अलकोंमें धारण किये।

अलिभिरञ्जनविन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥४१॥

काजलकी कन-से मनोहर भौंरोंके अपने फूलोंकी पाँतोंमें गिरनेसे तिलकवृक्ष वनस्थलीको ऐसा शोभायमान कर रहा है जैसे ललाटका तिलक नारीको करता है ।

अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसङ्गतया मनः ।
कुसुमसम्भृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥४२॥

वृक्षोंके साथ मधुर-विलास करनेवाली नवमल्लिका फूलोंसे लदी है। वे फूल ही उसकी मादक हँसी हैं। उस अभिराम हँसी और मकरन्दको गन्धसे भरे अपने पल्लवाधरों (होठों) से वह देखनेवालोंके मनको मद-मत्त कर देती है ।

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरैः ।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥४३॥

उषा की ललाईको लजा देनेवाले लाल वस्त्रों, कानपर रखे जौके अंकुरों और कोयलोंकी कूकोंकी सेना लेकर चलनेवाले कामदेवने विलासियोंको सर्वथा अबलाओंके वशमें कर दिया है ।

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥४५॥

उपवनके कुसुम-निचयसे परागके कण पवनने उड़ा दिये, उस के पीछे अलिवृन्द चले। लगा, धनुर्धर मदनने अपनी पताका फहरा दी हो, जैसे वह पराग वसन्त-लक्ष्मीके प्रसाधनका मुख-चूर्ण हो ।

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥४६॥

दोलाधिरोहण वसन्तोत्सवका प्रधान अङ्ग होता है। झूला झूलती पेग मारने में नितान्त निपुण वनिताऐं भी पतिके कण्ठ लग जानेके लोभसे झूलेकी डोरी

ढीली कर देती हैं, गिरनेका नाटय करती हैं, जिससे भयका छल करके चिपट जाँय।

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरैति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥४७॥

वसन्तमें कोयलकी कूक द्वारा कामदेवने गोया नारियोंको सूचित किया—मान छोड़ो, रूठना तज दो, प्रणय-कलहसे क्या लाभ? गया हुआ रमणीय यौवन फिर लौटता नहीं। यह सुनकर नारियाँ अपने प्रणयियोंके साथ मान छोड़ रमण करने लगीं।

'कुमारसम्भव' में भी कविने वसन्तका मनोहर वर्णन किया है। शिव समाधिमें मग्न हैं पर देवताओंका इष्ट साधने जो कामदेवने वनस्थलीमें प्रवेश किया है तो सहसा वहाँ उसके सखा वसन्तका प्रादुर्भाव हो आया है। यद्यपि यह वसन्तागम असमय ही हुआ है पर उसका सौरभ तो वहाँकी दिशाओंपर छा ही गया है।

कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य ।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिश्वासमिवोत्ससर्ज ॥३,२५॥

वसन्तके उस असमय आगमनसे सूर्य दक्षिणायनसे उत्तरायण चला गया। साथ ही मलयानिल भी मन्द-मन्द चलने लगा। दक्षिणसे आती मलय वारि सूर्यकी विरहिणी नायिका दक्षिण दिशाकी दुःखसे छोड़ी निश्वास थी। वसन्तके सहसा आ जानेसे आश्रमकी सुषमा मधुमासकी-सी हो उठी।

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमासिञ्जितनूपुरेण ॥२६॥

और जो वसन्त आया तो अशोकके तने आदिपर सर्वत्र नई पत्तियाँ निकल आईं, नई कोपलें फूट निकलीं, फूल खिल गये। दोहदसे फूलनेवाले

उस तरुने फिर तो सुन्दरियोंके क्वणित पाजेबोंसे मण्डित पदोंके स्पर्शकी भी अपेक्षा न की।

सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतवाणे।
निवेशयामास मधुद्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥२७॥

रसिकोंका चित्त बेधनेके लिए वसन्तने बाण बनाया, कन्दर्पके लिए वाण चाहिए था। सो वाणकार वसन्त है। उसने पल्लवोंके अङ्कुरोंसे तो वाणका पिछला भाग, उसका पङ्ख बनाया और आमके नये बौरोंसे बाणका फल। अब जब इस प्रकार बाण तैयार हो गया तब उसने (उन बौरोंमें भौंरे घुसाकर) भौरोंकी कतारसे धनुर्धर कामदेवका नाम उस बाणपर लिख दिया।

लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार ॥३०॥

कविने गागरमें सागर भर दिया है। थोड़ेमें बहुत कह जाना उसका प्रकृति ऐश्वर्य है। मधुश्री (वसन्तलक्ष्मी) अपना शृङ्गार कर रही है। उसे अपने कपोलोंको, ललाटको, होठोंको सजाना है। प्रसाधनकी सामग्रीमें उसके पास अंजन है, तिलक है, आलता है। पर ये अपने मूल रूपमें प्रस्तुत नहीं हैं। उन्हें उसे उनके उपमानों-प्रतीकोंसे लेना है। ये प्रस्तुत हैं—अंजनकी जगह भौंरे हैं, टीकाकी सामग्रीकी जगह वनस्थलीके तिलक-वृक्षके फूल हैं, आलताके रंगकी जगह बालरविकी कोमल ललाई है। फिर तो मण्डनमें कमी किस बातकी रही? उसने भौंरोंरूपी काजलसे भक्तिरचना कर ली (कपोलोंकी पत्ररचना), तिलकके फूलका टीका लगा लिया ओर आमकी नरम पत्तियोंवाले अपने होंठोंको बालसूर्यकी कोमल ललाईरूपी आलतेसे अरुणाभ रँग लिला, बस हो गया वसन्तलक्ष्मी का प्रसाधन।

मृगाः प्रियालद्रुममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः ।
मदोद्धताः प्रत्यनिलं विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥३१॥

प्रियाल वृक्षकी मंजरियोंके मकरन्दसे हवा बोझिल है। उन भौंरोंकी धूल चलाकर जैसे हवा हिरनोको मारती है। उन कणोंकी बौछारसे उलटे दौड़ते मृग जैसे अन्धे हो जाते हैं। उधर पवनसे गिराये सूखे पत्तोंसे वनस्थली मरमर कर रही है। आँखोंके, बौरोंके रससे, भरे होनेसे हिरन देख भी नहीं पाते, इधरसे उधर भाग रहे हैं, कौन जाने वह मरमर ध्वनि खूनी जानवरकी हो।

चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥३२॥

आमकी मंजरियाँ खानेसे कषाय कण्ठ नरकोकिलने जो मधुर कूका तो वह कूकना रूठी हुई नारियोंके मनानेमें दक्ष कामवचन बन गया। भान किये हुए नारियोंने उसे कन्दर्पका आदेश मानकर मान तज दिया।

हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥३३॥

सर्दियाँ चली गईं, वसन्त पसीनेको अपवारित नहीं कर पाता और किन्नारियाँ तो हिमदेशकी निवासिनी हैं, उनको तो तनिक भी गर्मी विकल कर देनी है, श्रम-कण झट चमक पड़ते हैं। वसन्त उनमें सात्विक स्वेद (सुरतेच्छाका विज्ञापक) भी उत्पन्न करता है। उन भरे अधरों और सुन्दर गौर मुखवाली किन्नरियोंको बसन्तागमसे जो पसीना होता है उनके कपोलोंकी पत्ररचना विकृत हो उठती है, धुल जाती है।

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥३६॥

इस श्लोकमें कविने बड़ी मर्यादा बाँधी है, मर्म निकालकर रख दिया है। पहले अर्थ लीजिये—भौंरा-भौंरीने कुसुमके एक ही चषक (पात्र-जाम) में मधु (मकरन्द-शराब) पी। भौंरीने पहले, भौंरेने उसके बाद उससे बची हुई जूठन। इस प्रकार एक उल्लेख कविने अज-विलापके प्रसंगमें 'रघुवंश'के आठवें सर्गमें भी किया है जब अज मद्य अपने मुँहमें लेकर इन्दुमतीके मुँहमें देने और फिर उसके मुँहसे ले लेनेकी ओर संकेत करता है—

मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।

भौंरेका व्यापार तो यह है पर कृष्णसार मृगका अपनी प्रिया मृगीके प्रति क्या व्यवहार है? उसके स्पर्श-सुखमें विभोर मृगीकी आँखें आधी मुँदी हैं और उसका वह कालामृग उसे अपनी सींगोंसे खुजा रहा है। उसी स्पर्शका यह परिणाम है कि उसे इतनी मस्ती आ गई है कि उसकी आँखोंमें सुखकी खुमारी भर गई है। इसमें ध्वनि 'शाकुन्तल' के उस श्लोककी भी है जिसमें कविने अद्भुत दाम्पत्य-मृदुता और विश्वास तथा अन्योन्य समर्पणका आदर्श रख दिया है—*शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्*—अपने कृष्णसार मृगकी सींगसे अपनी मर्मतम आँख खुजाना प्रियके प्रति विश्वास, आत्मसमर्पण और प्रेमकी पराकाष्ठा है। इसके अतिरिक्त भी श्लोकोंमें दाम्पत्य अथवा प्रणयकी असाधारण कोमलता कविने भर दी है।

यह वसन्तके मदका ही परिणाम है। उसी दाम्पत्य या प्रणय-व्यापारकी आर्द्र अनुभूति आगेके श्लोकोंमें भी कवि बहाये देता है—

ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास रथाङ्गनामा ॥३७॥

जब नारी देती है तब सर्वस्व दे डालती है, प्रियको फिर उसकी-सी मृदुता और आर्द्रताकी निधि और कहीं नहीं मिलती। यहाँ हथिनी अपने प्रिय गजको अलगसे जल भी नहीं देती, स्वयं पिलाती है। बड़े रसके साथ, अत्यन्त पिघलकर, हथिनी कमलके मकरन्दसे बसा अपनी सूँड़का जल गजको देती है। तनके भीतर रखा जल समयपर अपने काम आता, उसे निजसे भी प्रिय अपने गजको वह दे डालती है। इसी प्रकारका अत्यन्त हृदयहारी दृश्य अजन्ताके एक भित्ति-चित्रमें है जहाँ कमलवनमें हथिनियों सहित जल-विहार करता गजराज कमल तोड़कर हथिनीको प्रदान करता है। गज यूथप होता है, उसका सम्बन्ध हथिनीसे दाम्पत्यका इतना नहीं होता जितना प्रणय-प्रासंगिक होता है और वह अनेकोंके साथ एक साथ विहार करता है। इसीसे एक पत्नीमें विश्वास करनेवाले कालिदासको (जैसा मेघदूतके यक्षकी वर्णित दशासे प्रगट है) इतना मधुर होकर भी गजके इस व्यापारसे अभितृप्ति नहीं हुई। और उन्होंने श्लोककी अगली पंक्तिमें चकवा-चकवीका दाम्पत्य घोषित कर दिया। चकवा-चकवीका परस्पर व्यवहार एकपत्नी दाम्पत्यका, दाम्पत्य आकर्षणका, अव्यभिचारी सच्चाईका प्रतीक है। इससे कविका ध्यान झट उधर चला जाता है, और वह कह उठता है—*अर्धोपभुक्तेन बिसेन जाया सम्भावयामास रथाङ्गनामा*—आधा चखा हुआ कमलनाल चकवाने अपनी जाया चकवीको दे डाला। और चकवी नरकी मात्र-मादा नहीं उसकी 'जाया' है। 'जाया'—(सहधर्मचरणाय) पत्नी—ऋग्वेदका शब्द। ऋषि कहता है—जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिः—जाओ, इन्द्र, घर जाओ, जायाके समीप, क्योंकि जाया ही घर है। पीछेकी 'बिन घरनी घर भूतका डेरा' कहावत कितनी अर्थवती है, वैदिक कल्पनाके कितनी अनुरूप। सो चकवी चकवेकी मात्र प्रेयसी नहीं, उसकी 'जाया' है। गजकी हथिनीके लिए कविने जाया शब्दका उपयोग नहीं किया, करिणी (करेणुः) का किया, केवल मादारूपिणी हथिनीका। और यह पशुओंको ऋतुओंके प्रसंगमें बार-बार याद करनेकी

बात कविकी उस निष्ठाको चरितार्थ करती है जिससे वह पशुओं और मानवोंको समान प्रकृतिके अंग मानता है। प्रकृतिके विविध परिवर्तनोंसे समानतः प्रभावित। इसीसे वह वनस्पतियोंकी बात कहता-कहता दशरथकी करने लगता है। शिवकी करता-करता कोयलों, भौरों, गजों और रथांगोंकी करने लगता है, और किन्नर-किन्नरियोंकी प्रणय-लीलाका संकेत कर देवताओंकी परिधिको छू लेता है, शिव तक वसन्त और उसके सखा कामका प्रभाव प्रसारित करता है, फिर जब उस प्रभावकी अति हो जाती है तब कामका शरीर कल्याणदर्शी शिवके प्रकोपसे भस्म हो जाता है। अस्तु।

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किञ्चित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे ॥३८॥

पसीनेकी बूंदोंसे किन्नरियोंके कपोलोंके चित्र-लेख (कपोलोंपर प्राचीनकालमें नारियाँ चन्दन,अंजन आदिसे लताओंकी टहनियाँ, पत्तियाँ आदि बनाया करती थीं, उन्हें, पत्रलेखन, पत्ररचना, विशेषक, भक्ति आदि कहते थे) कुछ पुत गये, फूलोंकी शराब पीनेसे पुतलियोंके घूमनेसे एक प्रकारकी खुमारी छा गयी, बोझिल पलकें अलसा उठीं—जिससे मुखकी शोभा और बढ़ गयी, अब उनके प्रणयी किन्नर (किंपुरुष) अपनेको और न संभाल सके, उन्होंने झपटकर गीतके बीचमें ही अपनी प्रियाओंके मुख चूम लिये। वसन्तने अपने साधनोंसे इतनी आतुरता उत्पन्न कर दी।

समूचा संसार वसन्तके आगमनसे व्यग्र हो उठा। कविने उसी विक्षिप्त चराचरके मोहका रूप इन श्लोकोंमें खींचा है। 'कुमारसंभव' का इस प्रकारका अन्तिम श्लोक है—

पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥३९॥

बड़े-बड़े फूलोंके गुच्छोंके स्तनों वाली, हिलते पल्लवोंके फड़फड़ाते मनोहर होठोंवाली अपनी लतारूपी बाहुओंको तरु भी झुकी शाखाओंके

अपने बाहुपाशमें बाँधने लगे। सम्मोहित चराचर प्रेम-विभोर हो प्रणय-व्यापारमें वसन्तागमसे निमग्न हो चला।

'अभिज्ञानशाकुन्तल'के छठे अंशका एक श्लोक वसन्त संबंधी रुचिर व्याख्या करता है। ध्वनि और व्यंजना दोनों ही असाधारण सुन्दर और सुकुमार हैं—

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥४॥

ध्वनि द्वारा कविने बसन्तके लक्षण व्यक्त कर दिये हैं। दुष्यन्त दुःख-बोझिल है, शकुन्तला चली गई है। उसके दुःखसे दुखी स्थावर-जंगम सभी आनन्दसे विमुख हो उठे हैं। शिशिर बीत चुका है, वसन्तागम है, आमोंको बौरा जाना चाहिए, नरकोकिलको प्रमत्त रवना चाहिए, मन्मथ को कामवाण संधानना चाहिए, पर सभी अपने-अपने सहज कर्मोंसे विरत हैं, राजाके मनोभावोंके विपरीत अपना धर्म तक निभाना नहीं चाहते। कंचुकी कहता है कि शिशिर विगत हुआ, बसन्त आया, फलतः आमोंके बौर कबके आगये, फिर भी उनमें अभीतक मकरन्द नहीं बँध पाया, उनकी कलिका-मंजरियाँ खिल न पाईं, कुरबक अपनी कलिकाओंको लिये चिटखने के लिए तैयार बैठा था पर राजाकी यह दशा देख उसे वसन्त न सुहाया और उसने भी अपनी कलियोंके खुलते मुँह संपुट कर लिये, कोरकावस्थासे उन्हें बढ़ने न दिया। यही दशा नर-कोकिलकी भी हुई। शिशिरके बीतते ही कूकनेको व्यग्र हो उठता है, अमराइयाँ उसकी आवाज़से गूँज उठती हैं। पर जिन बौरोंको खाकर वह स्वयं बौराकर टेरने लगता है जब उन्हींकी यह दशा हुई कि वे अपनी कलिकाओंमें पराग नहीं बाँध पाये तब उनको खाकर कषायकंठ हो जानेवाला कोकिल भला कैसे रवे? सो

कंठमें आई कूकको, शिशिरके बीत जानेके बावजूद, वह पी जाता है, टेर नहीं पाता। काम भी अकस्मात् इस अप्रत्याशित स्थितिसे चकित हो अपना प्रकृत धर्म भूल जाता है—चढ़ाये धनुष पर रखनेके लिए बाण तरकशसे खींचता है पर राजाकी स्थिति देख उस अधखिंचे बाणको यथावत् छोड़ देता है, तरकशको लौटा देता है। श्लोक पदोंके लालित्य, शब्दोंके चुनाव, भावोंकी व्यंजना और क्रियाकी तीव्रता सभी दृष्टिसे सुन्दर है।

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम् ।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम् ॥५॥

लगता है, वसन्तलक्ष्मी (मधुश्री) नारियोंके मुखमंडनका तिरस्कार करने पर तुल ही गई हैं। मुँहके प्रसाधनमें जो वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं उसने सर्वत्र उनका जोड़ खड़ा कर दिया है—वे अपने बिम्बाधरोंको आलतासे रँगकर लाल करती हैं, पर रक्ताशोकके फूलोंने अपने चटख रँगसे उनकी ललाई फ़ीकी कर दी है, इसी प्रकार कुरबक वृक्षके काले-सफेद-लाल फूलोंने कपोलोंके विशेषक (पत्र-रचना) को तिरस्कृत कर दिया है, स्वयं ललाटका उनका टीका तिलक-पुष्पोंमें लगे काजलरूपी भौरोंसे लजा गया है। आँजनसे नारियाँ तिलक-क्रिया करती थीं, टीका लगाती थीं, वह क्रिया काजलसे काले भौरोंसे सटे तिलकके फूलोंने व्यर्थ कर दी है। वसन्त अजेय है।)

●

: अध्याय १ :

प्रकृति-वर्णन

संस्कृतके कवियोंका प्रकृति-साहचर्य सहज है। उनके वर्णनोंमें उसका स्थान, प्रवन्धके अतिरिक्त; प्रधान है। प्रबन्ध-काव्योंमें तो उसका वर्णन एक लक्षण ही माना गया है। पर्वत, समुद्र, नदी, सरोवर, नगर उनके ललित वर्णनोंके प्रधान अंग हैं। स्वयं कालिदासने उसका विशद वर्णन किया है।

पर्वत—

कालिदासके ग्रन्थोंमें पर्वतों—विशेषकर हिमालय—का अनेकधा और अनेक बार वर्णन हुआ है। 'मेघदूत'के उत्तरभाग—समूचा—के दृश्य हिमालयकेहैं, 'रघुवंश'का दूसरा सर्ग उसीसे सम्वन्धित है, 'कुमारसम्भव'का आरम्भ और अन्त हिमालयसे तो होता ही है उसकी समूची कथाका विस्तार ही उस पर्वतकी वनस्थलियोंमें हुआ है। इसी प्रकार कविके नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय'के कुछ सर्ग उसी पर्वतके हेमकूट आदि स्थलोंकी ओर संकेत करते हैं।

'कुमारसंभव'के पहले श्लोकमें ही कविने हिमालयका विस्तार स्पष्ट कर दिया है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥१॥

उत्तर दिशामें देवतुल्य पूजनीय (देवस्थान) पर्वतोंका राजा हिमालय है, उसके छोर दोनों ओर पूरब-पच्छिमके समुद्रोंमें डूब गये हैं। लगता है, जैसे पृथ्वीको नापनेके लिये कोई मानदण्ड (लट्ठा) पड़ा हो।

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥२॥

सारे पर्वतोंने इसे बछड़ा बनाया और तब गोरूप धराको, राजा पृथु द्वारा प्रदर्शित पृथ्वीको, दूहनेमें दक्ष मेरुने दुहा । फिर तो दूधके रूपमें समस्त चमकीले रत्न और महौषधियाँ (जड़ी-बूटियाँ) निकल पड़ीं । हिमालय निःसन्देह रत्नों और महौषधियोंकी खान है । बर्फका वह घर है, हिमका आलय, और हिम चाहे उसे जितना भी शालीन बना देता हो, है वह दुर्गुण ही, पर उस एक गुणसे उस महान् पर्वतका सौभाग्य लुप्त नहीं होता । वह एक दुर्गुण उस अनन्त रत्न उत्पन्न करनेवालेके गुण-समूहमें वैसे ही खो जाता है जैसे चन्द्रमाकी किरणोंमें उसका 'कलङ्क'—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥३॥

उस हिमालयकी चोटियोंके चारों ओर मँडराते हुए बादल उनको मेखला-से लगते हैं । चोटियाँ इतनी ऊँची हैं कि वे मेघोंसे भी ऊपर निकल आती हैं । सिद्ध लोग पहले उन चोटियोंकी परिक्रमा कर मेघोंके नीचे आराम करते हैं, पर शीघ्र इन अविश्वसनीय मेघोंकी आकस्मिक वर्षासे व्याकुल होकर उनसे ऊपरकी चोटियोंपर चढ़ जाते हैं, जहाँ धूप बनी रहती है, और वहाँ वे धूप लेते हैं—

आमेखलं सञ्चरतां घनानां छायामधःसानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥५॥

श्लोकके पदोंका लालित्य अकथनीय है । 'आमेखलं संचरतां घनानां' की धीरगामिनी ध्वनिमें जहाँ घनोंका व्यापक प्रसार निहित है वहाँ उनके निरन्तर संचरणकी ओर भी संकेत हुआ है ।

हिमालयमें, उसकी निचली शृङ्खलाओंमें, सिंह भी रहने हैं गज भी । दोनों एक दूसरेके 'प्रकृत्यमित्र' हैं, सहज शत्रु । गजको सिंह मारते हैं, सिंहोंका

किरात पीछा करते हैं। मारे गजोंका रक्त सिंहोंके पंजोंमें लग जाता है और जाते हुए उनके लाल निशान जो पर्वतपर बना जाते हैं वही स्वाभाविक स्थितिमें किरातोंको राह दिखाते, पर निरन्तर गिरती-पिघलती बर्फ जो उन निशानोंको धो देती है तो वह राह भी खो जाती है। पर एक सहारा सिंहोंको खोजते हुए किरातोंके लिए और भी रह जाता है। सिंह जब गजोंको मारते हैं तब उनके मस्तकके मोती (गजमुक्ता) रक्तके साथ-साथ उनके पंजोंमें आ जाते हैं और चलते हुए पंजोंसे वे गिरते जाते हैं, इन्हीं मोतियोंसे किरात अपना मार्ग पहचानते हैं—

पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥६॥

पहले भोजपत्रपर पुस्तकें आदि लिखी जाती थीं। भोजपत्रपर लिखे हज़ारों प्राचीन ग्रन्थ आज हमारे संग्रहालयोंमें सुरक्षित हैं। ये भोजपत्र हिमालयमें अनन्त संख्यामें होते हैं। उन पत्तोंपर सिन्दूरादिसे लिखे अक्षर हाथियोंकी सूँडोंकी बुन्दकियों-से लगते हैं। उन्हीं पत्तोंपर विद्याधरोंकी सुन्दरियाँ अपने प्रणयियोंको प्रेमपत्र लिखती हैं। इन प्रणय-पत्रिकाओंको कवि 'अनङ्गलेख' कहता है—

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥७॥

पर्वतपर बाँसोंके वन हैं। गुफाओंके मुँहसे जो हवा निकलती है वह इन बाँसोंके सुराखोंमें प्रवेश करती है, उससे मुरलीकी ध्वनि सदा निकलती रहती है और जब किन्नर लोग ऊँचे स्वरसे गाते हैं तब जैसे बाँसोंसे निकलते स्वर उनसे लय साधते हैं, उनके बाजोंका काम करते हैं—

यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥८॥

पहले पहल इन्हीं वनोंमें रमते मानवने बाँसोंके सुराखोंसे बजते इन्हीं स्वरों

को सुनकर, उनका भेद पाकर, वंशीका आविष्कार किया था। वंशी सम्भवतः आदिम इन्सानका बनाया संसारका पहला बाजा है, हिमालयके निसर्गका अपना।

देवदार वृक्षोंकी छटा हिमालयपर असाधारण है—

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥९॥

इन वृक्षोंसे अक्सर हाथी अपनी कनपटी खुजलाते हैं। कनपटी खुजलाते हुए वे इन देवदारुओंको बुरी तरह रगड़ देते हैं। फिर तो छिल जानेसे इनका छीर (दूध) बह निकलता है और उसकी कड़ी गन्धसे पर्वतकी चोटियाँ सहसा गमक उठती हैं।

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥१०॥

जड़ी-बूटियोंके धनी पर्वतराज हिमालयकी कन्दराओंमें ऐसी औषधियाँ हैं जो रातमें प्रकाश फेंकती रहती हैं। और जब वनिताओंके साथ भ्रमण करनेवाले वनचारी किरात अपनी प्रेयसियोंको लिए उन कन्दराओंमें जा रमते हैं तब रातके समय वहाँकी वे प्रज्वलित औषधियाँ बगैर तेलके ही सुरतकालमें दियोंका काम करती हैं। सुरतके प्रसङ्गमें कवि तेलसे जलनेवाले दीपोंकी अपेक्षा नहीं करता, स्नेहकी जोत जलनेवाली वनस्पतियोंकी करता है। इस प्रकाशसे तात्पर्य फ़ासफोरससे प्रकाशमान औषधियोंसे है। वरना जिन गुफाओंमें दिनमें भी अँधेरा छाया रहता है वहाँ रातमें प्रकाश की फिर क्या गति होगी?

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव ॥१२॥

दिनसे डरे हुए अन्धकारकी हिमालय सूर्यसे अपनी कन्दराओंमें रक्षा करता

है। दिनसे भयभीत भागे उल्लू आदि जीवोंकी ही भाँति उसे अपनी गुफाओंमें शरण देता है। उसके अँधेरेरूपी दुर्गुणकी तब वह परवाह नहीं करता। सज़्जन है न हिमालय, सज्जनोंका-सा बर्ताव करता है। महान् लोग शरण आनेपर नीचोंके प्रति भी ममत्व प्रदर्शित करते हैं। वहाँ चँवरी गायें चन्द्रकिरणों-सी अपनी धवल पूँछ हिलाती फिरती रहती हैं। लगता है जैसे हिमालयको चँवर डुलाकर वे उसका 'गिरिराज' नाम सार्थक कर रही हैं। दूसरे राजाओंको मरे चँवर डुलाये जाते हैं, यहाँ इस गिरि-राजको स्वयं चँवरी गायें जीवित चँवर झलती हैं—

लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥१३॥

कालिदास प्रकृतिसे मानव व्यापारकी ओर और मानवसे प्रकृति-व्यवहारकी ओर बार-बार लौट पड़ते हैं। प्रकृति क्या जो पुरुषके सामने सिर न झुकाये, पुरुष क्या जो अलसायी वैभवशालिनी प्रकृतिको कामार्त हो न भोगे ?—

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किम्पुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥१४॥

और अपने प्रियतमोंके साथ दरीगृहों (गुफाओं) में रमण करती हुई किन्नरियोंके वस्त्र जो कहीं सरक जाते हैं, तो उनकी लज्जाकी रक्षा ये मेघ ही गुफाओंके द्वारपर अकस्मात लटककर, उनके पर्दे बनकर करते हैं। इतनी गूढ़ कल्पना, इतना सूक्ष्म अभिराम वर्णन कवि कालिदास ही कर सकते हैं। जलद वनिताओंके अनेक प्रकारसे विनीत सहायक होते हैं। गाँवकी सूधी नारियाँ उन्हें खेतीका कारण जानकर नेत्रोंसे पीती हैं, प्रोषितपतिकाओंके विरहका जलद अन्त करते हैं, प्रियका सन्देश लाते हैं, उनकी सुरतजनित नग्नतापर पर्दा डालते हैं।

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥१५॥

बार-बार देवदारुओंको कँपानेवाली गंगाके झरनेके सीकरों (बूँदों) से लदी वायु मृग खोजते हुए किरातोंको कटिसे बँधे मोरपंखोंको फरफराती उन किरातोंको सेती है, उनकी मृगयाकी थकान दूर करती हैं ।

सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥१६॥

आगेकी कल्पना अन्यन्त मधुर और चमत्कारिक है । हिमालयकी कुछ झीलें इतनी ऊँची चोटियोंपर हैं कि उनके कमल पूजाके लिए सप्तर्षि अपनेआप ऊपर ही ऊपर तोड़ ले जाया करते हैं । ये झीलें वस्तुतः इतनी ऊँचाई पर हैं कि सूर्यकी गति भी वहाँ ऊपरसे नहीं नीचेसे है । सप्तर्षियोंके तोड़नेसे बचे कमलोंको नीचे सरकता हुआ सूर्य अपनी किरणोंको ऊर्ध्वमुखी कर (ऊपर फेंक) खिलाता है । बहुत थोड़ेमें कविने प्रभूत भाव भरा है— सप्तर्षियोंका अपने-आप कमलोंको तोड़ ले जाना, सरोवरोंका बहुत ऊँचेपर होना कि सूर्यकी किरणोंका उससे नीचे हो जाना, और नीचेसे किरण फेंक-कर कलियोंको खिलाना इस प्रकार 'कुमारसंभव' के पहले सर्गका यह हिमालय-वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है । कविकी कल्पनाएँ नितान्त अछूती हैं और उसके चमत्कारमें सुरुचिका वैभव बड़ा है ।

'मेघदूत' में भी हिमालय सम्बन्धी अनेक दृश्य कविकी लेखनीसे प्रसूत हुए हैं । एक कैलासका इस प्रकार है—

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।
शृंगोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥५८॥

परशुरामकी शक्तिके परिचायक (परशुरामने तीर मारकर हिमालयकी दीवारमें छेद कर दिया था जिससे होकर हंस मानसरोवर आते-जाते हैं और जिसे आज 'नीति-पास' कहते हैं) क्रौंचरन्ध्र (नीतिपास) से निकल

ऊपर उत्तरकी ओर जब मेघ बढ़ता है तब उसे मानसके तटपर खड़े निरन्तर हिमसे मण्डित शिवके निवास कैलासके दर्शन होते हैं। कैसा है वह कैलास ? उसे कभी रावणने बलमदसे चूर हो आमूल हिला दिया था जिससे उसकी सन्धियाँ (जोड़) ढीली हो गई थीं। वह स्फटिकवत् चिकना होनेके कारण देवांगनाओंका दर्पण बन गया है। वही कैलास आकाशमें अपनी कुमुदधवल ऊँची चोटियाँ पसारे ऐसा लगता है जैसे शिवका दैनन्दिन (रोज़मर्रका) अट्टहास एकत्र होकर राशीभूत हो गया हो। हिमधवल कैलासकी उपमा किसी कविने कभी ऐसी न दी। हासका रंग साहित्यिक परम्परामें श्वेत माना जाता है। वह हास भी नहीं अट्टहास है, और शिवका, जो शिव-सा ही अमर है, कभी क्षीण न हो सकनेवाला, कैलासकी चोटियों-सा ही आकाशमें व्यापक, और दिन-दिन इकट्ठा होकर वह उन्हीं-सा घनीभूत (कठोर) भी हो गया है। और उसी कैलासवर्ती भूमिमें वह मानसरोवर है जहाँ सोनेके-से रक्तपीत कमल खिलते हैं (हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं)। संभव है कभी संभवतः कालिदासके समय, पाँचवीं सदी ईसवीमें, मानसके जलमें पीले स्वर्णाभ कमल खिलते रहे हों, आज तो वहाँ किसी प्रकारके कमल नहीं खिलते। वस्तुतः सुन्दर फूलोंका वहाँ प्रायः अभाव ही है। कुछ आश्चर्य नहीं जो कविने बिना जाने कल्पनासे ही मानसका यह वर्णन कर दिया हो। अस्तु।

वहीं कैलासकी गोदमें (ऊर्ध्वभाग, कटि देशमें) अपनी गंगारूपिणी साड़ी खोले अलका (नगरी) नंगी पड़ी है। वर्षाकालमें अपने ऊँचे अट्टों (विमानों) से जब वह जल बरसाते मेघोंको धारण करती है तब, लगता है, जैसे (उस) कामिनीने अपने कुन्तलोंमें मुक्ताजाल गूँथ लिया हो।

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥६३॥

वहीं मन्दाकिनीके तीर उसके शीतल जल-सीकरोंसे सिक्त पवनसे सेवित अमरप्रार्थिता (देवताओं द्वारा अभिलषित) यक्ष-कन्याएँ तीरके मन्दार तरुओंकी छायामें खेलती हैं। उन्हींका-सा असाधारण मूल्यवान् उनका खेल भी है। नदीकी सुनहरी रेतमें मुट्ठी भर-भर रत्न गाड़ती-निकालती हैं और इस प्रकार मणियाँ छिपाने-ढूँढ़नेका खेल खेलती हैं—

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥उत्तरमेघ, ४॥

नीचे नगरके भवनोंकी खिड़कियोंसे होकर मेघके भीतर बरस जानेकी बात लिखी है। गिरिनगरोंमें रहनेवालोंके लिए यह अनुभव साधारण है। खिड़कियाँ खुली छोड़ जानेपर भीतरकी चीजें गीली हो जाती हैं—

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥६॥

वहाँके ऊपरी खण्डों (अट्टों) में सहसा घुसकर बादल अपने नये फुहारों-से वहाँ लिखे चित्रोंको जल्दीसे मिटा देते हैं। फिर डरके वशीभूत हो धुएँका रूप धर लेनेमें निपुण वे मेघ टुकड़े-टुकड़े होकर खिड़कियोंसे निकल भागते हैं।

विन्ध्याचल, सह्याद्रि (पर्वतों) का वर्णन भी कविने किया है, यद्यपि उनका वर्णन इतना मार्मिक और सविस्तर नहीं हुआ है। विन्ध्यपर्वतका निर्देश कुछ 'मेघदूत'में कुछ 'रघुवंश'के पाँचवें और सोलहवें सर्गोंमें हुआ है, और सह्य तथा मलय और दर्दुरका 'रघुवंश'के चौथे सर्गमें।

'मेघदूत'में मेघका अधिकतर मार्ग सतपुड़ा और विन्ध्याचल पहाड़ोंसे होकर ही गया है। विन्ध्यपर्वतकी पूर्वी चोटी आम्रकूट (अमरकंटक) का वर्णन इस प्रकार है—

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥पू०मे०१८॥

अपने वनके पके आमोंसे घिरा आम्रकूट पीला हो गया होगा। तेल लगी वेणीके रंगका मेघ जब उसपर चढ़ेगा तब वह दूर आकाशसे ऐसा लगेगा जैसे धराका उभरा हुआ स्तन हो, बीचमें चूचुक-सा काला, शेष भाग पीला। उसीके चरणोंमें बिखरकर नर्मदा बहती है।

समुद्र—

'रघुवंश'के तेरहवें सर्गमें समुद्रका विशद वर्णन हैं। प्रायः समूचा वर्णन ही आकाशसे समुद्र और वनस्थलीका हुआ है। कविने आकाशमार्गसे जाते पुष्पक-विमानमें बैठे राम द्वारा वह वर्णन सीताके प्रति कराया है। विमान वेगसे चलता जा रहा है और राम नीचेकी सब जगहें, विशेषकर वह जहाँ वन-प्रवासमें वे सीताके साथ या अकेले विरहीके रूपमें रहे थे, बताते जा रहे हैं। लंकासे अयोध्या तकका वर्णन बड़ा यथार्थ हुआ है, जैसे कोई हवाई जहाज पर चढ़ा सब देख रहा हो। हम यहाँ पहले समुद्र फिर वन-स्थली और अन्तमें गंगा-यमुनाके संगम, नर्मदा आदिका कविकृत वर्णन करेंगे।

राम कहते हैं—वैदेहि, देखो, उधर वह नीचे फेनिल अम्बुराशि (सागर) जिसे मेरे सेतु (पुल) ने मलयपर्वत तक दो भागोंमें बाँट दिया है, जैसे शरदृतुके निर्मल सुन्दर तारोंभरे आकाशको छायापथ (आकाश-गंगा) बाँट देता है—

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥२॥

इसी समुद्रसे सूरजकी किरणें गर्भ धारण करती हैं (वर्षाके लिए जल खींचती हैं), धन-रत्न इसीके गर्भमें अनन्त मात्रामें बढ़ते हैं, यही समुद्र भयानक बड़वानल धारण करता है, इसीसे आह्लादकारी चन्द्रमाकी उत्पत्ति हुई है—

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥४॥

नदियों और सागरमें पत्नियों और पतिका असाधारण संबंध है । नदियाँ अपना मुँह प्रदान करनेमें स्वाभाविक ही ढीठ हैं, उधर सागर तरंगरूपी अधरदानमें कुशल है । इस प्रकार समुद्र नदियोंको अपना तरंगरूपी अधर पिलाता भी है, उनका स्वयं पीता भी है—

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥६॥

ह्वेल मछलियाँ नदियोंके मुहानोंका जल जलजीवोंके साथ अपने फटे मैले जबड़ोंमें लेकर फिर मुँहको बन्दकर अपने मस्तकके सुराख़से जलकी धाराएँ ऊपर फेंकती रहती हैं ।

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥१०॥

इन गजाकार मगरमच्छों (सूसों) को तो देखो । इनके सहसा उछल पड़नेसे जो फेन टूट जाती है तो लगता है कि गालों पर लगी वह फेन क्षण भरको कानोंके चँवर बन गई ।

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥११॥

शंखोंके इस दलको देखो—किसी तरह बड़े कष्टसे ये मुँह ऊपर उठाये धीरे-

धीरे सरक पाते हैं। लहरोंके वेगने इन्हें तुम्हारे अधरोंकी ललाईसे होड़ करनेवाले मूँगोंकी चट्टानों पर ला पटका है। (समुद्रमें मूँगेकी श्रेणीवद्ध अँखुएदार चट्टानें बन जाती हैं।)

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥१३॥

अब धीरे-धीरे समुद्र भूमिसे आ लगता है, इससे आगे भूलग्नसागरका नयनाभिराम वर्णन है, मालावारके दक्षिणी तटका—

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥१४॥

जल लेनेके लिए आये घन अभी जल पी भी नहीं पाये (झुके ही हैं) कि भँवरके वेगसे वे स्वयं भी उसके साथ घूमने लगे हैं। उससे सागर अत्यन्त सुन्दर लग रहा है जैसे गिरि द्वारा फिर वह मथा जा रहा हो।

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥१५॥

तट अब भी दूर है। इसीसे वह पहियेकी हालकी तरह बहुत पतला दिख पड़ता है। किनारे दूर तक तमाल, ताल आदि वृक्षोंकी कतार चली गई है जिससे उसका रंग श्यामलनील हो गया है। लगता है जैसे चक्के पर जंग लग गई हो।

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि ।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥१६॥

दीर्घनयने, लहरोंके स्पर्शसे शीतल वायु तुम्हारे मुख पर केतकी (केवड़े) के फूलोंका पराग छिड़क रही है। वह जानती है कि मेरी तृष्णा तुम्हारे बिम्बाधरोंमें बँधी हुई है, उन्हें चूमनेको मैं नितांत विकल हूँ और तुम्हारे प्रसाधन (शृंगार) में लगनेवाले समयका विलंब मेरे लिए असह्य है। इसीसे उस समय-हानिको बचा लेनेके लिए वायुने ही बहुत कुछ तुम्हारा कार्य

सम्पन्न कर दिया। तटकी केतकियोंकी कतारोंमें मकरन्द बँध चुकी है और सागर वायु उसे उड़ा रही है।

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥१७॥

देखो, तट आ गया। विमानकी गतिका वेग इतना है कि मुहूर्त भरमें वह उस तटपर जा पहुँचा जहाँ फलोंसे लदी झुकी सुपारी वृक्षोंकी माला खड़ी है और जहाँ लहरोंके तोड़से सीपीके फूट जानेसे मोती बिखर पड़े हैं।

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम्।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥१८॥

देखो, मेरा यह विमान जिधर मेरी इच्छा होती है उधर ही चलने लगता है। कभी तो यह देवताओंके मार्गमें चलता है, कभी बादलोंके, कभी पक्षियों के। कविकी कल्पनाका विमान है न, और कालिदासकी कल्पनाका। वाल्मीकिकी कल्पना इतनी उर्वर कहाँ कि समुद्र, तटवर्ती तालवन, वनस्थली, नदी-पर्वत निरन्तर उस कल्पना-पथमें उठते चले आयें ?

वनस्थली—

सागरका वर्णन यहाँ समाप्त हो जाता है, पर वर्णन रुकता नहीं, मनोरम गतिसे दृष्टिपथ पर उतरता जाता है। संसारके किसी कविने इस प्रकार प्रकृतिके फैले हुए कलेवरका इतना सरस इतना जीवित इतना स्वाभाविक वर्णन नहीं किया। आजके हवाई जहाज का पाइलट कभी इस सरलतासे, इतने एकके बाद एक गुज़रते हुए नज़ारोंका वर्णन नहीं कर पाता। प्रत्येक श्लोकमें नई बात है, निरन्तर बदलते जाते दृश्यों और स्थलोंका परिगणन है, और उनके उल्लेखमें कुछ ऐसी स्वाभाविक तेज़ी है कि बेगसे उड़ते विमानसे देखी पृथ्वीका रूप सहज व्यक्त हो जाता है। और आगेके दृश्योंमें तो मात्र निसर्गका रुचिकर निरावरण नहीं है बल्कि अपने जीवनसे संबंधित अनुभूतियाँ हैं, उन स्थलोंमें राम-

सीताके संयोग-वियोगकी स्मृतियाँ निहित हैं, स्वाभाविक ही उनका क्षिप्रावलोकन सुखद और दुःखद दोनों है।

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥२१॥

हे चंडि, जब विमानकी खिड़कीसे हाथ बाहर निकालकर कुतूहलसे बादल छूती हो तब तुम्हारी कलाईके चारों ओर बिजली कौंध जाती है। लगता है, मेघ तुम्हें बिजलीका कड़ा पहना रहा है।

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥२२॥

ये नीचे बहुत दिनोंसे छोड़े खाली पड़े हुए नई पर्णकुटियोंवाले आश्रम हैं। इस जनस्थानको निर्विघ्न जानकर तपस्वियोंने इन आश्रमोंकी कुटियोंको बनाना शुरू किया था पर राक्षसोंके भयसे उन्हें छोड़कर चला जाना पड़ा जिससे नई कुटियोंवाले ये आश्रम आज निर्जन पड़े हैं।

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥२३॥

और इधर वह स्थली है जहाँ तुम्हें ढूँढ़ते हुए मैंने पृथ्वीपर पड़ा हुआ तुम्हारा एक पाजेब देखा। वह वहाँ ऐसा चुप पड़ा था कि लगता था जैसे तुम्हारे चरणकमलसे अलग हो जानेके कारण दुःखसे निःशब्द हो गया हो। अद्भुत वेगसे कविकल्पनामें एकके बाद एक भाव उठते चले आते हैं और भावोंकी सद्यःपरिवर्तनशीलता निरन्तर बदलते हुए स्थानोंसे सम्बन्धित है। जैसे-जैसे विमान आकाश लाँघता है वैसे ही वैसे पहलेके जाने हुए स्थल दृष्टि-पथमें उठते जाते हैं। प्रत्येकसे स्वयं राम या राम-सीताके वनवासी जीवनकी कोई न कोई स्मृति बँधी है जिसका उल्लेख कवि करता जाता है। कल्पनाका यथार्थसे यह अद्भुत संयोग सत्यका अटूट आभास उत्पन्न करता जाता है। नूपुरका सीताके चरणसे छूटकर

धरापर गिर पड़ना, प्रियाके अभावमें रामका विरह, सीताके चरणारविन्दोंकी सुधि सभी राम और सीता दोनोंके लिए अभिराम स्मृतिके कारण हो उठे होंगे। तबकी रामकी स्थितिका बोध अब सीताको हो रहा होगा। जब निर्जीव नूपुरका यह हाल था कि सीताके चरणोंसे विलग होकर मिट्टीमें लोट वह मौन हो गया था तब ग्यारहों प्राणोंसे सजीव रामकी स्थिति प्रियके अभावमें क्या हो गई होगी ?

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥२४॥

और, हे भीरु, इन लताओंको देखो जिनका बड़ा उपकार मानता हूँ। जब तुम्हारी खोजमें भटकता फिर रहा था तब बोलनेमें असमर्थ इन लताओंने कृपाकर पल्लवभरी डालोंको झुकाकर तुम्हें जिस मार्गसे राक्षस ले गया था वह मार्ग चुपचाप मुझे दिखा दिया था। मेरी उस कातर स्थितिसे चराचर रो उठा था। हिरनियों तकने तब अपना सहज व्यापार छोड़ दिया था—

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥२५॥

यही वे हिरनियाँ हैं जो मेरे दुःखसे कातर हो उठी थीं, दूबके अङ्कुरोंको खाना बन्द कर दिया था। अपने आहारसे उदासीन हो उन्होंने मुझ अभागेको, जिसे वह मार्ग अज्ञात था, मार्ग बताया था। और तब उस मार्गका मर्म बताते हुए उनके लोचनोंकी पलकें चुपचाप दक्षिण दिशाकी ओर उठ गई थीं। इससे मिलता-जुलता मानवोपम नेत्र-व्यापार अश्वघोषके 'सौन्दरनन्द'में भी है—

सा तं प्रयान्तं रमणं प्रदध्यौ प्रध्यानशून्यस्थितनिश्चलाक्षी ।
स्थितोच्चकर्णा व्यपविद्धशष्पा भ्रान्तं मृगं भ्रान्तमुखी मृगीव ॥४,३६॥

सुन्दरी चिन्तासे उदास शून्य नेत्रोंसे उस अपने जाते हुए रमणनन्दको ध्यानमग्न अपलक देर तक देखती रही, जैसे दूर जाते अपने भ्रान्त प्रिय मृगको कान खड़े कर भ्रान्तमुखी हो मुँहकी चबायी घासको गिराती हुई मृगी चुपचाप देखती रहती है। तब मृगीकी दृष्टि उसकी अन्तर्वृत्तिके साथ मृगसे ऐसी बँध जाती है कि वह यह भो नहीं जान पाती कि मुँहमें ली हुई अंशतः चबाई घास झागके साथ नीरव मुँहसे गिरती जा रही है। प्रेमविह्वल उदास आँखोंका आहारके प्रति उदासीन व्यापार का यह रुचिर प्रसंग है।

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥२६॥

सामने नीचे यह माल्यवान् पर्वत है। विरहमें पावस दारुण होता है। सो इसके शिखर पर जब तुम्हारे अभावमें मेघ मँडराने लगे, उसके अंगसे जब नया जल गिरने लगा तब तुम्हारे वियोगमें मेरी आँखें भी बरस पड़ी थीं। यही है वह माल्यवान्की गगनचुंबी चोटी, निहार लो।

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥२७॥

तब प्रकृतिका सौन्दर्य, उसके विविध उपकरण, मुझे जहरसे लगने लगे, खल उठे--मेघकी मारसे पोखरोंसे उठती हुई सोंधी गमक, अधखिले बौरों वाले कदम्बके फूल, मयूरोंकी स्नेहभरी, अपनी मयूरीको पुकारनेवाली 'द्विधाभिन्ना' वाणी, सभी।

और तब—

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥२८॥

पावसने धराकी गाँठें खोल दीं, उनसे निकलकर भापने कन्दलीकी कलियों को परसा और वे खिल उठीं, लाल। उनसे याद आईं तुम, विवाहके समय

धुएँके स्पर्शसे तुम्हारी आँखें, लाल-लाल। याद-बोझिल मन फिर तो बेचैन हो उठा। पंचवटीके आसपासकी वह भूमि जो राम-सीताके विलास से पवित्र हो चुकी थी, अपनी विविध स्मृतियोंके साथ दोनोंके दृष्टिपथमें उठ आई।

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥३०॥

वह देखो, वह पम्पासर, बेंतके वनोंके पीछे। इसीसे उसका जल भी साफ नहीं दीखता, बेतोंसे छिप गया है। पर जलके ऊपर तैरते हुए सारस दिखाई पड़ रहे हैं। दृष्टि भी तो दूर की है, दूर ऊँचाईसे फेंकी।

अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥३१॥

यही स्थल है, प्रिये, जहाँ चकवा-चकवी एक-दूसरेको कमलकी केसर दिया करते थे। काश कि तुम भी मेरे पास होतीं और मैं भी उस पम्पाके पद्मोंकी सुरभि तुम्हारे साथ भोग पाता। उन्हें जब इस प्रकार एक दूसरेका प्रिय साधते देखता तो तुम्हारा अभाव मुझे सहसा खल उठता, उन दिनों-की बड़ी उत्कण्ठासे अभिलाष करने लगता जब तुम मेरे साथ होंगी।

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥३२॥

यह सामने जो नीचे स्तबकों (गुच्छों) से झुकी अशोकलता देख रही हो उससे मुझे स्तनभारसे झुकी तुम्हारा धोखा हुआ। फिर जो मैं उसके आलिंगनको बढ़ा तो लक्ष्मणने मुझे रोका। मेरी यह विक्षिप्त दशा देख लक्ष्मणके आँखोंमें आसूं उमड़ आये और अब यह देखो, प्रिये, यह गोदावरी आ गई—

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम्।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥३३॥

और उसकी धारासे यह सारसोंकी कतारें आसमानमें उठीं। विमानसे नीचे लटकतीं किंकिणियोंके स्वरसे आकृष्ट हो वे उड़ी आ रही हैं, जैसे तुम्हारे स्वागतके लिए आ रही हों।

एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥३४॥

इतने दिनों बाद आज फिर यह पंचवटी देखनेको मिली। मन आनन्दसे पुलक उठा है। वह देखो, उन काले मृगोंको, सिर उठाये ऊपर देख रहे हैं। रानी, यहीं इसी पंचवटीके अमोलों (आमके नन्हें पौधों) को, दुर्बल कमरकी होती हुई भी, तुमने घड़ेके जलसे सींचा और बढ़ाया था।

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥३५॥

भले याद है, एक दिन शिकारसे छुट्टी पाकर गोदावरीकी शीतल वायुसे थकान मिटाकर नदीतटके उसी बेतोंके कुंजमें तुम्हारी गोदमें सिर रखकर सो गया था।

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥३८॥

मानिनि, यह सामने मुनि शातकर्णीका पंचाप्सर नामका क्रीड़ा-सरोवर है, वनसे घिरा, जो दूरसे ऐसा लगता है जैसे बादलोंके बीचसे किंचितमात्र दिखाई देनेवाला चन्द्रमाका गोला।

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥४१॥

यह जो पंचाग्नि ले रहे हैं, चार अग्नि चारों कोनोंपर जलाये, बीचमें बैठे, पाँचवीं अग्नि सूर्यको सिरपर लिये, सुतीक्ष्ण नामके तपस्वी हैं। इनका नाममात्र ही सुतीक्ष्ण है, वैसे हैं ये स्वभावसे शान्त।

एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥४३॥

देखो, उधर वे मृगाओंको खुजानेवाली, कुश काटनेवाली, अक्षमालाधारिणी दाहिनी भुजा उठाकर मेरा स्वागत कर रहे हैं ।

अब शीघ्र बुन्देलखण्डके वन-पर्वतके ऊपर पुष्पक जा पहुँचता है । आगे चित्रकूट पर्वत है । कविके शब्दोंमें उसका वर्णन राम करते हैं—

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥४७॥

सुन्दरी, यह विशाल गर्वीले साँड़-सा चित्रकूट पर्वत मेरे मनको बाँध लेता है । निर्झरिणी गुफा ही निरंतर नन्दीनाद करनेवाला उसका मुख है, उसकी चोटीपर घुमड़ता बादल जैसे उस साँड़की सींगपर वप्रक्रीड़ामें लगी पाँक है ।

नीचे मंदाकिनी, गंगा, यमुना, त्रिवेणी आदिका वर्णन है । राम कहते हैं—

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥४८॥

यह मन्दाकिनीकी कलकल मन्द बहनेवाली मंदाकिनीकी निर्मल धारा है, दूरीके कारण अत्यन्त पतली दीख रही है । पर्वतके नीचे वह पृथ्वीके गलेमें पड़ी मोतियोंकी माला-सी लग रही है, अत्यन्त आकर्षक ।

आगे यह महर्षि अत्रिका उपवन है जहाँ महामुनि तप साधते हैं, जहाँके पशु विनीत हैं और वृक्ष विना फूलोंके ही फल देते हैं । उन्हीं महात्माकी पत्नी अनुसूया शिवकी जटाओंकी माला त्रिपथगा गंगाको ऋषियोंके स्नानके लिए यहाँ ले आई हैं । इसकी उपरली धारासे सप्तर्षि सोनेके कंवल लोढ़ा करते हैं ।

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥५२॥

आश्रम वृक्षोंकी छायामें वेदियोंपर ये ऋषिलोग वीरासनमें बैठे ध्यानमग्न हैं । और स्वयं इन वृक्षोंको देखो, यह भी निष्कम्प दीपशिखा 'दियेकी लौ' की भाँति ऐसे शान्त निरव खड़े हैं जैसे योग साध रहे हों ।

और सामने यह महान् (अक्षय ?) वट-वृक्ष है जिसकी तुमने पहले पूजा की थी । यह श्याम महावृक्ष अपने फलोंके साथ ऐसा लगता है जैसे मणियोंकी राशिमें लाल फले हों—

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥५३॥

आगे व्यक्त गंगा यमुना और अन्तःसलिला सरस्वतीका संगम है । प्रयागमें मिली दोनों धाराओंका वर्णन कविने रामकी वाणीमें अभिराम किया है—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥५४॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्द्रनकल्पितेव ॥५५॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥५६॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥५७॥

अनिन्द्य सुन्दरि सीते, देखो इन गंगा-यमुनाकी सम्मिलित पर अपने भिन्न रंगोंसे पहचानी जानेवाली धाराओं को । श्वेत और श्याम दोनों धाराएँ जैसे एक साथ रस्सीकी भाँति बट दी गई हैं । कहीं ये सम्मिलित धाराएँ इन्द्रनोल मणियोंके साथ गुंथे मोतियोंके हार-सी लगती हैं, कहीं श्वेत और

नीले कमलोंकी माला-सी। कहीं तो नील हँसोंसे मिले धवल हँसोंकी सम्मिलित पंक्तिके समान और कहीं श्वेत चन्दन और कालागुरुसे पृथ्वीपर रची 'भक्ति' (अल्पना)-सी धाराएँ दमक रही हैं। कहीं यह प्रवाह-छाया-मिश्रित चितकबरी चाँदनी-सी लगती हैं और कहीं शरत्कालकी उस धवल मेघमालाकी तरह जिसके बीच-बीचसे नीलाम्बर झाँक रहा हो और कहींपर यह धारा भस्म रमाये शंकरके तनपर काले नागोंके आभूषण-सी जच रही है। गंगा-यमुना दोनोंका सम्मिलित प्रवाह कितना दर्शनीय है। इन 'समुद्रपत्नियों' के संगमपर स्नानकर पवित्र हुए मर्त्योंका मरनेके बाद फिर दूसरा जन्म नहीं होता, शरीरबन्धसे वे मुक्त हो जाते हैं।

और कुछ दूर आगे अयोध्याकी दिशामें ब्रह्मसर मानससे निकली यह सरयू नदी है, यक्षस्त्रियोंके स्तनोंकी रगड़से झड़ा स्वर्णकमलोंका मकरन्द बहा लाती है। फिर वही पुण्यसलिला सरयू धीरे-धीरे बहती अवधकी राजधानी उस अयोध्याको पहुँचती है जहाँका जल इक्ष्वाकु राजाओंके अश्वमेधके अवभृथस्नानसे और भी पवित्र हो चुका है। वहाँ उसके तीरपर उन अश्वमेधोंके स्मारक ये यज्ञयूप हैं। उसके पुलिनोंमें उत्तर कोसल के राजा खेलते रहे हैं जिनके प्रति सरयूकी धारा दूध पिलानेवाली साधारण धायकी भाँति रही है—

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूवियुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ॥६३॥

वही यह सरयू पूज्य राजा दशरथसे वियुक्त मेरी माताकी ही भाँति शीतल वायु द्वारा आन्दोलित लहरोंके करसे दूर नीचेसे ही मेरा आलिंगन कर लेना चाहती है। और उधर देखो वह—

विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥६४॥

अत्यन्त लाल संध्या-सी जो ताँबेके रंगकी धूल पृथ्वीसे सामने उठ रही है,

उससे लगता है हनुमानसे संवाद पाकर भरत सेना लेकर मेरे स्वागतको चले आ रहे हैं।

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥६६॥

आ गये भरत वह, उधर देखो—गुरु वशिष्टको आगे किये सेनाको पीछे किये बीचमें वृद्ध मंत्रियोंको साथ लिये भरत स्वयं वल्कल वस्त्र पहने हाथमें मेरे स्वागतके लिए अर्घ्य आदि लिये पैदल चले आ रहे हैं।

नदियाँ—

कुछ नदियोंके वर्णन 'मेघदूत'में आये हैं, पूर्वमेघमें, जिन्हें उत्तर हिमालयकी ओर अलका जानेवाला मेघ मध्यभारतमें लाँघता है। रेवा (नर्मदा) और सरयूका वर्णन 'रघुवंश'में हुआ है। पूर्वमेघकी नदियोंकी ओर संकेत कर देना यहाँ अरुचिकर न होगा।

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥१९॥

यक्ष कहता है, हे मित्र (मेघ), उसी अमरकंटकको वनचर-बहुओं द्वारा सुरत सुख भोगे लताकुंजमें क्षणभर ठहरकर ज़रा बरस लेना जिससे जलका भार निकल जानेसे हल्के हो जाओ और तुम्हारी गति तेज़ हो जाय। आगे नर्मदाको देखोगे। नर्मदा विन्ध्याचलके चरणमें, उसकी बाहरी पहाड़ियोंके ऊबड़-खाबड़ पड़े पत्थरोंमें फैली हुई है, अनेक धाराओंमें बँटी हुई, जैसे गजके शरीर पर किसीने रेखाओंसे भक्ति (पत्ररचना) अंकित कर दी हो। वहाँ पुराना जल छोड़ देना, वमन कर देना, और नर्मदा जो वनहाथियोंके मदकी तेज गन्धसे बस गई है और जिसकी धाराका वेग तटके जामनकी झुरमुटोंसे रुककर धीमी हो जाती है, उसका जल लेकर

फिर आगे बढ़ना। भूलना नहीं कि भीतर सार भरे रहनेसे आकाशवायु तुम्हें ओछा न गिनेगी, मनमाना नहीं उड़ा सकेगी—जो सारशून्य होता है, रिक्त, वह हल्का होता है, ओछा, जो पूर्ण होता है, भरा, वह गौरव पाता है—

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥२०॥

और आगे दशार्णकी राजधानी विदिशा (भिलसा) है। वहाँ पहुँचकर शीघ्र कामुकता (विलास) संबंधी सारा सुख पालोगे। क्योंकि वहीं तो बेतवा का सुखद तीर है। वहाँ गरजकर जो माँगोगे तो चंचल लहरों वाली नदीका जल भृकुटियुक्त सुस्वादु अधरकी भाँति पाकर पी लोगे—

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वैत्रवत्याश्चलोर्मि ॥२४॥

उज्जैनीकी राहमें निर्विन्ध्या नामकी नदी है—

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥२८॥

यह निर्विन्ध्या अपनी लहरोंके चलनेसे मुखरित हंसमालारूपी तागड़ी (करधनी)को सरकाकर अपनी सुंदर भँवरोंरूपी गहरी नाभि दिखा देगी। सो उस नदीको भेंटकर उसका रस लेना। जानना कि नारियोंका विलास ही (जैसे यहाँ नाभि-प्रदर्शन ही) अपने प्रियोंके प्रति बोला हुआ पहला प्रणय-

वचन होता है। वे मुँहसे पहले बोलतीं नहीं विलास-प्रदर्शन द्वारा ही अपना मन्तव्य प्रगट करती हैं।

कालीसिन्धकी छटा भी मनोहर है—

वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥२६॥

इतने काल तक तुमसे वियुक्त हो जानेके कारण दुबली हो गई है, उसकी पतली धाराने वेणीका आकार धारण कर लिया है। वह निरंतर तटके वृक्षोंसे सूखे पत्ते गिरते रहनेसे पीली हो गई है (आँसू गिराकर पीली पड़ गई है)। सो जिस उपायसे उसका दुबलापन दूर हो वह करना।

उज्जैनी सिप्रा नदीके तटपर बसी है। उसका पवन प्रियतम प्रणयीकी भाँति चतुर चापलूस है—

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥२१॥

वह सारसोंकी मस्ती भरी बोलीको दूर दिशाओं तक पहुँचाता है, प्रातः खिलनेवाले कमलोंकी मधुर गंधसे भरा है, स्त्रियोंकी सुरतसंबंधी थकान-को शरीरसे लगकर हर लेता है। सच ही वह चाटुकार है। चाटुकार प्रियतमकी ही तरह प्रियाके प्रति उसका आचरण होता है—मधुर बातें करता है, फूलोंकी बसी गंधसे युक्त हवा करता है, पंखा झलता है।

उज्जैनीके बाद उत्तरके मार्गमें गंभीरा नदी पड़ती है—

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।

तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥४०॥

गंभीराका जल, उदात्त नायिकाके चित्तकी तरह, अत्यन्त निर्मल है, उसमें स्वभावसे ही सुन्दर तुम्हारी छाया और आत्मा दोनों द्वारा प्रवेश हो जायेगा। आखिर कोईं की-सी सफेद चंचल मछलियों रूपी उसके चपल कटाक्षोंको तुम विफल कैसे कर पावोगे? फिर तो उसका रस पीनेसे तुम चूकोगे नहीं, पर उससे उसका जल कम होकर तटोंको नंगा कर देगा। तटों पर पानी तक बेंतके जंगल हैं। जलरूपी साड़ीके सरक जानेसे लगेगा कि नदीके नितंब नंगे हो गए हैं और वह उन्हीं अपने बेंतरूपी हाथोंसे जैसे-तैसे सरकती साड़ीको पकड़े लज्जासे नितंब ढकनेका असफल प्रयत्न कर रही है। पर, सखे! यह सब लुभावने दृश्य देखकर कहीं विलम मत जाना, आगे, बढ़ जाना, यद्यपि जानता हूँ, है यह बड़ा कठिन क्योंकि एक बार स्वाद पा लेने पर भला कौन अभागा खुली जाँघोंको छोड़ सकता है?—

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४१॥

आगे जो पृथ्वी पर राजा रन्तिदेवकी कीर्तिकी मूर्तिमती धारा बनी चम्बल मिलेगी उसे मान देते हुए पार कर जाना—

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥४६॥

उस नदी पर जल लेनेके लिए झुके कृष्णके वर्णचोर (श्याम) तुमको और उस चम्बलकी मोटी होती हुई भी दूरके कारण क्षीण दिखती धाराको

जब गगनचारी सिद्धादि देखेंगे तब उन्हें निश्चय ऐसा लगेगा कि वह धारा पृथ्वीके गलेमें पड़ी मोतियोंकी एकलड़ी माला है जिसमें वज़नी इन्द्रनील (नीलम) गुँथा हुआ है ।

नज़रबाग—

प्रासादोंके प्रमदवनों या नज़रबागोंके अनेक दृश्य कालिदासके ग्रंथोंमें मिलते हैं । मेघदूत, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय आदिमें अनेकधा उनका वर्णन हुआ है । नज़रबाग प्राचीनकालके समृद्ध भवनोंका आवश्यक अंग था । 'शार्गधरपद्धति', 'उपवनविनोद' आदिमें घरकी बगीची, उसके विविध लताकुंजों, पौधों, तरुओंको लगाने-सींचनेका उल्लेख हुआ है; घरकी बावली, बगीचेकी कृत्रिम पहाड़ी (क्रीड़ाशैल) आदिका भी । सेल्यूकसके ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज़ने चन्द्रगुप्त मौर्यके पाटलिपुत्रके राजप्रासादके वर्णनमें नज़रबागके पार्क और तालाब आदिका उल्लेख किया है । कौटिल्यके 'अर्थशास्त्र'में भी राजकुमारोंके अपने नज़रबागमें खेलने, तालाबोंसे मछली आदि पकड़नेका उल्लेख हुआ है । यहाँ कालिदासके 'उत्तर मेघदूत' से एक स्थल उद्धृत किया जा रहा है । अपने घरका पता देता हुआ यक्ष घर और उसके नज़रबागसे मेघका परिचय कराता उसका चित्र खींच देता है ।

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥१२॥

वहीं धनपति कुबेरके महलोंसे तनिक उत्तर हमारा भवन है । इन्द्रधनुषकी शक्लके सुन्दर तोरणसे युक्त उसका द्वार दूरसे ही दिखाई पड़ने लगता है । उस तोरणद्वारके पास ही वह बालमन्दारका वृक्ष (कल्पतरु) है, अल्पकाय, छोटा, इतना कि हाथ बढ़ाकर आदमी उसके स्तबक (फूलोंके गुच्छे) तोड़ ले । और सबसे अधिक महत्त्वकी बात उस सम्बन्धमें यह

है कि उस बालमन्दारको मेरी पत्नीने अपना पुत्र मानकर बढ़ाया है। बगीचेमें तरुओंको पुत्र मानकर बढ़ाने, सींचने आदिकी परंपरा प्राचीन थी। कविने अपने ग्रंथोंमें अनेक स्थलोंपर अपनी नायिकाओं द्वारा बागके पौधे सिंचवाये हैं और उनको पुत्रवत् माननेकी बात कही है। 'रघुवंश' के तेरहवें सर्गमें सीताके आश्रम-वृक्षोंको घड़ेसे सींचनेकी बात लिखी है। उसके दूसरे सर्गमें देवदारके एक तरुको पुत्रवत् बढ़ानेकी बात पार्वतीके संबंधमें कही गई है। 'शाकुन्तल' में शकुन्तला आश्रम-वृक्षों और लताओंको घड़ा लेकर सखियोंके साथ सींचती है और उनमेंसे एकको उसने पुत्र बनाकर रक्खा है जो उसके पति-गृहगमनके समय उत्कंठित हो जाता है। अपने चतुर्दिक्की प्रकृति, तरुलताओं तकके साथ संस्कृतके कवियोंकी इतनी सहनुभूति है कि वे उनके पात्रोंके जीवनके अंग बन गये हैं। वे उनके बीच ही रहते-फिरते हैं, उनसे बात करते हैं, अपने कष्टमें उनसे अपना कष्ट कहते है। सो यक्ष-पत्नीने भी बालमन्दारको अपना पुत्र मान रक्खा है। कितना यथार्थ कितना साक्षात् अलकाके इस घरका वर्णन हुआ है, जैसे दिखाई पड़ रहा हो और उस पतेपर आज भी सुननेवाला पहुँच जाय—वही तो है, कुबेरके महलोंसे जरा उत्तर हटकर पास ही, दूरसे ही दिखाई पड़ जायेगा—इन्द्रधनुषकी तरह अनेक रंगोंसे रँगा उसका तोरणसे सजा द्वार है, कहीं भूला जा सकता है? फिर उस द्वारपर शंख और पद्मोंके चित्र भी बने हुए हैं (आगे—'शंखपद्मौ च दृष्ट्वा'), आसानीसे पहचान लोगे, मेघ, जाओ। और हाँ, उसके द्वारके पास ही मन्दारका हाथकी पहुँचके भीतर फूलोंसे लदा एक वृक्ष है। साथ ही बगीचा है जिसमें बावली है, क्रीड़ा-शैल है, लतागृह है, कदलीकी बाढ़े हैं, स्फटिक शिलाएँ हैं, सारिकाएँ हैं, मोर हैं। कविके शब्दोंमें उस नज़र-बागका वर्णन पढ़िए—

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।

यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥१३॥

घरकी बगीचीमें एक बावली है, सीढ़ियाँ उसकी मरकत (मणि) की पट्टियोंसे बनी हैं, सुनहरी आभावाले रक्तपीत कमल वैदूर्य (बिल्लौर) की सी हरी चिकनी नालोंपर उसमें खिलते हैं और उनकी छायामें स्वच्छ जलपर रमनेवाले हंस मानसरोवर तकको तुच्छ मानकर भूल जाते हैं, वर्षाऋतु तक में वहाँ नहीं जाते यद्यपि मानससर बिलकुल पास ही है।

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीड़ाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥१४॥

उसी बावलीके तीर सुनहरे केलोंकी बाढ़से घिरा कृत्रिम (बनावटी) शैल (पहाड़) है। उसकी चोटी नीलमकी बनी है, अत्यन्त सुन्दर, बस देखते ही बनता है। सखे, बड़ा प्रिय है वह क्रीड़ाशैल, मेरी प्रियाको और जब तुम्हें अपनी कौंधती चपलाके साथ देखता हूँ, तब वह सहसा मेरी आँखोंमें उठ आता है और मेरा चित्त अत्यन्त कातर हो उठता है—

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
कांक्ष्यत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥१५॥

उस क्रीड़ापर्वतपर कुरबककी पत्रच्छाया तले माधवीलताका मंडप है, पास ही चंचल कोमल पत्तियोंवाला लाल अशोक है, कान्त केसर, मनोहर बकुल। दोहदके बहाने इनमेंसे एक (रक्ताशोक) मेरी प्रियाके बायें पैरोंकी कामना करता है, दूसरा (बकुल) उसके मुखके मद्यके कुल्लेकी। दोहदकी महिमा संस्कृत काव्यमें बड़ी है। बगीचेके वर्णनमें जहाँ-जहाँ

अशोक और बकुलका उल्लेख है वहाँ-वहाँ दोहदका वर्णन भी कवि बड़े प्रेमसे करते हैं। दोहद कहते हैं एक बड़ी सरस रीतिसे अशोक और बकुलको खिलानेको। वह सरस रीति है इन वृक्षोंका नारी द्वारा स्पर्श। कहते हैं कि जब सुन्दर नारी पाजेब पहनकर बायें पैरसे अशोकको ठोकर मारती है तभी वह फूलता है, अन्यथा नहीं। वैसे ही जब वह मुँहमें मदिरा भरकर उसका कुल्ला बकुल वृक्षपर फेंकती है तभी वह कलियाता है। निश्चय यह कवि-परंपरा है, जैसे हंसका नीर-क्षीर विवेक, जैसे कोयलका अपने अंडोंको सेनेके लिए कौएके घोंसलेमें रख आना, जैसे चातकका स्वातीका ही जल पीना, उस जलसे सीपीसे मोती निकलना, आदि, पर है वह वर्णन बड़ा अभिराम और प्रचुर। वर्णनोंसे तो लगता है कि जैसे वाटिकाके वृक्षलताओंके विवाहकी परिपाटी थी वैसे ही दोहद भी प्रायः नियमतः मनाया जाता था।

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥१६॥

उन रक्ताशोक और बकुल वृक्षोंके बीच मोरके रहनेके लिए वासयष्टि (चौकी, स्तंभ) बाँसकी नई कोपलकी आभावाली मणियोंसे जटित सोनेकी बनी है। ऊपर उसके स्फटिककी एक पटिया है जिसपर संध्या समय तुम्हारा मित्र मयूर जा बैठता है। उसे बजते घुँघरुओंके कड़ोंवाले हाथोंसे ताल दे-देकर (ताली बजाकर) मेरी प्रिया नित्य नचाती है।

एभिः साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥१७॥

निपुण मेघ, इनको मनमें धर लो। इन्हीं लक्षणोंसे और द्वारपर बने शंख और पद्मोंके चित्रोंसे मेरे वियोगसे मलिन उस मेरे घरको पहचानोगे। निश्चय मलिनकान्त हो गया होगा वह। गृहस्वामीके अभावमें गृह कैसा ? सूर्यके अभावमें कमल कहाँ अपनी शोभा धारण कर पाता है ?

प्रातः-संध्या

प्रातः और संध्या भी दिन और रातकी ही भाँति कविकी प्रतिभासे मुखरित हुए हैं। दिन और रातका ऋतुतः वर्णन कालिदासने 'ऋतुसंहार' में किया है। उनका आंशिक उल्लेख हम यथाप्रसंग पहले कर भी आये हैं। यहाँ हम केवल प्रभात और संध्याकी सुषमाके कविवाणीमें संक्षेपमें उद्धरण देंगे। पहले प्रभात।

प्रभातका वर्णन कविने कई स्थलोंपर किया है, पर 'रघुवंश'के पंचम सर्गका विशेष स्पृहणीय है। नीचे हम उसके कुछ अंश दे रहे हैं। अजको वैतालिक प्रातःकाल जगा रहे हैं—

रात्रिर्गता मतिमतां वर मुञ्च शय्यां
धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्र-
स्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥६६॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ, रात बीती, अब शय्या छोड़ दो। विधाताने जगत्‌का भार केवल दो भागोंमें बाँटा है। उनमें एक तुम्हारे पिता वहन करते हैं, दूसरा जागकर तुम वहन करोगे।

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्षमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥६७॥

लक्ष्मी तुम्हारे प्रति अनुरक्त होती हुई भी तुम्हें दूसरी नायिका निद्राके वशीभूत देख खण्डिता (नायिका) अबलाकी भाँति तुम्हारे ही मुखकी सुन्दरता वाले अपने प्रकृतस्थान चंद्रमामें चली गई थी। वह चंद्रमा भी अब रात्रिके अन्तमें अस्त हो गया। लक्ष्मी अब वहाँसे भी निराधार हो उसे भी छोड़ बैठी है। ग्रहण करो उसे।

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन ताव-
त्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥६८॥

कमलमें अब तक भौंरा बन्द था जैसे तुम्हारे नेत्रोंमें पुतलियाँ बंद थीं। अब दोनों भीतर ही भीतर गतिमान हो चले हैं। जागो कि तुम्हारे नेत्र और कमल समान रूपसे सुन्दर लगें।

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां
संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः
सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥६९॥

प्रातःकालीन दक्षिण पवनको तुम्हारे अभावमें अन्य कार्योंमें लग जाना पड़ा है। स्वाभाविक रीतिसे तो वह तुम्हारे मुखके सौरभकी इच्छा करनेवाला है, पर तुम्हारे निद्रावश हो जानेसे जब वह उसे उपलब्ध न हो सका तब उसने दूसरी ओर अपना चित्त लगाया—तरुशाखाओंकी जालोंमें गिरकर अटके हुए फूलोंको गिराने लगा है, सूर्यके कणोंके स्पर्शसे खिलते जाते कमलोंको परस रहा है। जागकर उस प्रभात पवनको अपने मुख-सौरभ द्वारा सनाथ करो।

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः।

आभाति लब्धपरिभागतयाधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥७०॥

तरुओंकी लाल पत्तियोंमें पड़ी ओसकी मोती-सी सफेद बूँद तुम्हारे दाँतों सहित रक्तिम होठों पर हल्की मुसकानकी आभा धारण करती है ।

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानु-
रह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते
किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥७१॥

अभी सूर्यका समुचित उदय भी नहीं हो पाया और प्रभातकी लालिमासे ही अंधकार छँट चला है, वैसे ही तुम्हारे युद्धमें अग्रसर होते अब पिताको शत्रुओंका नाश करनेकी आवश्यकता क्या होगी ?

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः
स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगा-
द्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥७२॥

ये तुम्हारे हाथी भी जागकर दोनों करवटें लेकर शय्या छोड़ चुके हैं, अब ये अपनी ज़ंजीरोंको खींच-खींचकर बजा रहे हैं। उनके दाँतों पर जब बालसूर्यकी अरुणाभ किरणें पड़ती हैं तब वे कटे गेरुके पहाड़की सुंदरता धारण करते हैं ।

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु
निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः ।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि
लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥७३॥

हे नलिनाक्ष, बड़े-बड़े खेमोंमें बंधे तुम्हारे ये वनायु देश (फारस, अरब ?) के घोड़े जागकर चाटनेके लिए आगे रक्खे सेंधे नमकके टुकड़ोंको अपने मुँहकी गरम सांससे मलिन कर रहे हैं। हाथियों और घोड़ोंका यह सुबहका वर्णन निश्चय आँखों देखा है। कवि जैसे लिखता हुआ उनका वह प्रातःका आचरण देख रहा हो। चंद्रगुप्त विक्रमादित्यके मित्र उस कविको ये दृश्य नित्य देखनेको मिलते रहे होंगे। फिर जब उसकी लेखनी केवल कल्पनासे आकाशको नापने वाले वायुयानकी गति और ऊपरसे पृथ्वीके रूपका इतना सही वर्णन कर सकती है तब इन नित्यके देखे दृश्योंका उल्लेख तो नितान्त साधारण है।

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मंजुवाक्पञ्जरस्थः ॥७४॥

प्रातःके आगमनसे रातके ये पूजाके फूल कुम्हला गये हैं, दियोंके प्रकाश अपनी लौके मंडलको ही नहीं भेद पाते, उनकी किरणें अब निस्तेज हो गई हैं और पिंजड़ेमें बैठा यह मधुरभाषी तोता तुम्हें जगानेके लिए कही गई हमारी ही वाणी दुहरा रहा है।

सही प्रभातका यह वर्णन शुद्ध प्रभातका ही नहीं है, मानव जीवन की साँस उसमें बसी है, इससे वह और भी सरस और अनुभूतिपरक हो जाता है। कवि प्रकृतिका अनन्य भक्त है पर प्रकृति पुरुषके अभावमें वन्ध्या है इससे वह सदा उसे उसके सान्निध्यमें रखता है।

अब संध्याके कुछ मनोहर उदाहरण 'कुमारसंभव'के आठवें सर्गसे लें— देखो, प्रियभाषिणि प्रिये, (शिव पार्वतीसे कहते हैं—) सरोवरकी उन लहरियोंको देखो—पश्चिमकी ओर अस्त होने वाले सूर्यने तालाबके जलमें अपने हिलते प्रतिबिंबोंसे मानो सोनेका पुल बाँध दिया हो—

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता ।
लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥३४॥

आकाशसे सूर्यने जो अपनी धूपको खींच लिया है तो वह थोड़ा बचे जल वाले सूखे तालाब-सा लग रहा है। उस आकाशके पूर्व भागमें, सूर्यके संध्या समय पश्चिम होनेके कारण, जो अंधकारका पुंज दिखाई पड़ने लगा है वह, लगता है, जैसे तालाबका इकट्ठा हुआ कीच है—

पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिर्व्यक्तपङ्कमिव जातमेकतः ।
खं हृतातपजलं विवस्वता भाति किञ्चिदिव शेषवत्सरः ॥३७॥

आगे कमलकी मानवीय चेष्टाका अत्यन्त सुन्दर वर्णन है—

बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम् ।
षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ॥३६॥

बद्धकोश यानी सम्पुट (बंद) होता हुआ भी कमल क्षणभरके लिए अपने मुखविवर (सुराख) को थोड़ा खुला रखता है जिससे बाहर भटक रहे भौंरेको वह प्रीति पूर्वक भीतर बुला सके। उत्प्रेक्षा सुन्दर है।

दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना ।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥४०॥

दूर पश्चिममें सूरज डूब रहा है, उसकी क्षीण किरणोंकी लाल रेखा दिख रही है। उससे वह वरुणकी दिशा कन्या-सी बन गई है। लगता है, जैसे उसने केसरमंडित बंधुजीव फूलका तिलक कर लिया हो। बटुरते हुए अँधेरे रूपी केशोंके नीचे ललाट जैसे यह अरुणाभ शृङ्गार कर लिये हो।

सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः ।
अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ ॥४२॥

सूर्य दिनका भार उठाये आकाशको लाँघ चुका था। भार दोनोंके लिए कठिन था, सूर्यके लिए भी उसके घोड़ेके लिए भी। अब उसने दिनको

समुद्रमें डालकर शान्तिकी साँस ली और अपने घोड़ोंका भार भी हल्का किया। कानके चँवरोंसे छूटी आँखें मिचमिचा रही थीं, दिनभर कन्धों पर रक्खे जुएसे घोड़ोंके अयाल (केसर, सटा) मसल गये थे, गरदनें झुक गई थीं। उन घोड़ोंको इस प्रकार विश्राम दे सूर्य स्वयं अस्त हो गया।

इसके बाद कवि सूर्यके तेज और आकाशकी सापेक्ष्य स्थितिपर कहता है कि—

खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः ।
तत्प्रकाशयति यावदुद्गतं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम् ॥४३॥

सूर्यके डूब जानेपर आकाश जैसे गहरी नींदमें सो गया है। तेजवानोंका यही हाल है, जब तक जहाँ तक उनका उदय रहा तब तक वहाँ तक तो उनका प्रकाश फैला रहेगा, पर जहाँ वे वहाँसे हटे कि उनका प्रकाश गया, अन्धकार फैला।

सन्ध्ययाप्यनुगतं रवेर्वपुर्वन्द्यमस्तशिखरे समर्पितम् ।
येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥४४॥

इस प्रकार सूर्यके पूज्य शरीर (गोले) के अस्ताचल समर्पित हो जानेपर साध्वी सन्ध्याने भी उसका अनुगमन किया। वह सती है न। फिर जब उदयकाल (प्रातःकाल) सूर्य उसे आगेकर सम्मानित करता है तब भला विपद्में (अस्तकाल) वह स्वयं सूर्यकी अनुगामिनी क्यों न बने ? कालिदास की यह स्वाभाविक रीति है कि वह ऐसी स्थितिमें वे जड़-चेतनका भेद नहीं करते। निसर्गके अवयवोंसे भी वह मानवोचित आचरणकी आशा करते हैं।

रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः ।
द्रक्ष्यसि त्वमिति सन्ध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥४५॥

हे कुञ्चित कुन्तलों वाली, ये सामने लाल-पीले-भूरे बादलोंके टुकड़े फैले हुए हैं। यह जानकर कि तुम इन्हें देखोगी सन्ध्याने इन्हें मानो तूलिकासे अनेक रंगोंमें सुन्दर रंग दिया है।

सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च।
पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सान्ध्यमातपम् ॥४६॥

देखो, डूबते हुए सूर्यने साँझकी धूप हिमालयके सिंहोंके सटों और पल्लवधारी वृक्षों और धातुमयी चोटियोंको बाँट दी है, जभी तो ये सभी लाल हैं।

तामिमां तिमिरवृद्धिपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम्।
एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगा इव ॥५३॥

पार्वति, देखो, एक ओरसे बढ़ते चले आते अन्धकारसे घिरी पीड़ित संध्या इस समय कुछ ऐसी लग रही है जैसे गेरुको नदीके एक तटपर तमाल वृक्षोंकी श्यामल माला खड़ी हो। अद्‌भुत सजीव उपमा है। यह एक ओरका हाल है, दूसरी ओर—

सान्ध्यमस्तमितशेषमातपं रक्तलेखमपरा बिभर्ति दिक्।
सांपरायवसुधासशोणितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्झितम् ॥५४॥

दूसरी ओर सूर्यकी डूबती किरणोंको लाली अभी कुछ बच रही है। उस साँझकी धूपमयी लालरेखासे पच्छिम दिशाका छोर ऐसा लगता है जैसे रणभूमिमें किसीकी तिरछी चलाई लहू-भरी तलवारकी कौंधका गोलांश हो। उपमा बड़ी पेंचकी है पर है बड़ी सबल। सन्ध्याकी क्षण-क्षण क्षीण होती प्रकाशकी किरणों और पल-पल अन्धकारके बढ़ते आनेका इन दो श्लोकोंमें साक्षात् रूप खींचा गया है। फिर सहसा रात आ जाती है।

'विक्रमोर्वशीय'के तीसरे अङ्कमें भी सन्ध्याका एक मनहर वर्णन है। संध्या समाप्तप्राया है, निशा बस आ ही गई है—

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः।

आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः
सन्ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः ॥२॥

राजप्रासादके बाहरी भागका देर संध्या, प्रायः रातके आरम्भका दृश्य है—सुहावना लगता है यह राजद्वार अपनी सांध्य सम्पदामें—अपने वासदण्डों (अड्डों) पर बैठे मोर रातकी नींदमें अलसाये ऐसे लगते हैं जैसे पत्थरमें उत्कीर्ण हों, उभार दिये गये हों, खिड़कीकी जालीसे निकले धूपके धुएँसे ओरियोंके कबूतर पहचानमें नहीं आते, धुएँमें मिल गये हैं; रनिवासके बूढ़े नौकर (रनिवासमें नौकर बूढ़े ही रक्खे जाते थे) स्नानादिसे शुद्ध होकर पूजाके फूलोंसे भरी देहली वाले भवनोंमें साँझके मङ्गल दीप यथा-स्थान रखते जा रहे हैं।

रात्रि—

संध्याको निशामुख कहा जाता है क्योंकि वह रात्रिका आरम्भ करती है। रातका वर्णन कालिदासकी कृतियोंमें अनन्त है। 'ऋतुसंहार'में प्रत्येक ऋतुकी रातों और उनके प्रासङ्गिक विलासका वर्णन हुआ है। चाँदनी और तारों-भरी रातें दोनों ही कविकी कल्पनासे अर्चित होती हैं, वैसे चाँदनी रातके साथ निश्चय उसका कुछ पक्षपात है। नीचे 'कुमारसंभव'के आठवें सर्गके एक स्थलसे कुछ श्लोक दिये जाते हैं। प्रसंग शिव-पार्वतीके विलास-भूमिका है। सूरज डूब चुका है, साँझकी लाली भी प्रतीचीके अम्बरसे धीरे-धीरे मिट चुकी है, संध्याका भाल-सिन्दूर सूर्यके अस्त हो जाने पर पुँछ गया है और वह सती पतिके साथ ही तिरोहित हो चुकी है। अब रात प्रकृति पर छाती जाती है—

यामिनीदिवससन्धिसम्भवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुणा।
एतदन्धतमसं निरङ्कुशं दिक्षु दीर्घनयने विजृम्भते ॥५५॥

दीर्घनयने, देखो न, रात और दिनकी संधि इस साँझके तेजके सुमेरुके पीछे

डूब जानेसे यह गाढ़ा अन्धकार निरंकुश होकर दिशाओं पर छाया पसरता चला आ रहा है।

नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि ॥५६॥

अन्धकारकी निबिड़तासे न तो कुछ ऊपर दिखाई देता है न नीचे, न चारों ओर, न आगे न पीछे। रातके आ जानेसे सारा चराचर तमसे उसी प्रकार घिर गया है जैसे गर्भकी झिल्लीसे शिशु।

बाद आकाशमें गगनविहारी उग आता है, चारों ओर चाँदनी छिटक जाती है। रजनी जैसे नायिका बन जाती है और चन्द्रमा उसके साथ विलास करता है। इस निचले श्लोकमें रात्रिके वर्णनके अतिरिक्त कविने अत्यन्त कोमल भावका सृजन किया है।

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥६३॥

अपनी किरण रूपी उँगलियोंसे अन्धकाररूपी केशराशिको सँभाल कर चन्द्रमा सम्पुट कमललोचनों वाली रजनीके मुँहको चूम रहा है। उगते हुए चाँदका, अन्धकारसे उलझी चाँदनी रातका इतना मोहक वर्णन कभी कविने नहीं किया। बड़ी स्निग्ध कल्पना की है कालिदासने। चन्द्रमाने अपनी किरणोंसे तिमिरका अन्त कर दिया है। रजनी जैसे तिमिररूपी दैत्यके पंजों से छूट आई है। अब चन्द्रमा चुपचाप भले प्रकार अपनी उँगलियोंसे रजनी के केश-कलापको हटाकर उसे सहलाता-सम्हालता हुआ जैसे उसको चूम रहा है। उस चुंबन-सुखसे पुलकित निशाने अपने कमलरूपी नयन मूँद लिये हैं। जब आनन्दका स्वाद मिलने लगता है, बाहरके विषयोंसे तब इन्द्रियाँ हटकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। नेत्र भी उसी प्रकार चुम्बन-स्पर्शका सुख अविभक्त चित्तसे लेनेके लिए मुँद जाते हैं। अन्यत्र भी कविने ऐसी ही कल्पना की है—*शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्ण-*

सार:—कृष्णसार मृग अपनी मृगीको सींगसे खुजला रहा है और उसका वह स्पर्श मृगीको इतना स्वादु और सुखद प्रतीत हो रहा है कि उसने अपनी आँखें मींच ली हैं ।

पश्य पार्वति नवेन्दुरश्मिभिर्भिन्नसान्द्रतिमिरं नभस्तलम् ।
लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सम्प्रसादमिव मानसं सरः ॥६४॥

देखो, पार्वति, उधर उस नये चन्द्रमाके उगनेसे सघन अन्धकारके छँट जानेसे निर्मल नीले आकाशको, जैसे हाथियोंकी क्रीड़ासे मलिन जलवाला मानसरोवर कुछ काल बाद निर्मल नील हो गया हो। कविने यहाँ अपनी कल्पनाको ज़रा ढील दे दी है। जैसे अनेक स्थलोंका वर्णन उसने कवि-परम्परासे किया है, यहाँ भी मानसरोवरके सम्बन्धमें उसका यह हाथियों सम्बन्धी वक्तव्य कुछ कल्पनामात्रकी वस्तु है। सोलह हज़ार फुट प्रायः सदा वर्फसे भरे उस प्रान्तरमें हाथी नहीं जाते। मानसरोवरमें उनका क्रीड़ा करना सम्भव नहीं। पर कवि-कल्पना सदा संभाव्य ही नहीं हुआ करती।

'विक्रमोर्वशीय'में भी चाँदनी रातका एक स्निग्ध वर्णन है—

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभि-
स्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते ।
अलकसंयमनादिव लोचने
हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् ॥

राजा कहता है—उदयाचलके पीछे छिपी चन्द्रकिरणोंसे अन्धकार दूर हटता जा रहा है, उससे लगता है पूर्व दिशारूपी नायिकाका मुँह जैसे खुल पड़ा है। बालोंके आँखोंसे हट जाने पर दिशा का स्वच्छ मुँह मेरे मनको हर लेता है।

: अध्याय ३ :

शृङ्गार-साधना

कालिदास सुकुमार कवि हैं, अत्यन्त मार्मिक। मृदुता उनके वर्णनका प्राण है। परुष और कठोर भाव-बोध उन्हें नहीं रुचते, मृदु और तरल ही उनके उपास्य और पोष्य हैं। उसीसे युद्धका वर्णन भी उनसे ओजकी इतनी अपेक्षा नहीं करता जितनी ललित की। उनका काव्य-वैभव शृङ्गार-प्रधान है। उसमें उल्लास-विलासके साथ साथ करुण-विरह अत्यन्त मर्मघाती हो उठते हैं। संयोग, वियोग, मान, अभिसार सभी उनकी शृङ्गार-भारतीमें असामान्य संवेदनासे मुखरित हुए हैं। उनका प्रेम-विह्वल हृदय शृङ्गारका धनी है और यद्यपि वे दाम्पत्यके 'भावबन्धन प्रेम' की सराहना करते हैं परन्तु उनकी शृङ्गार-साधनामें शुद्ध ललित-विलासकी कमी नहीं। अधिकतर उन्होंने विलासकी समाराधना दम्पतिके ही सम्बन्धमें की है परन्तु अनैतिक प्रणयके भी उनके काव्योंमें अनन्त संकेत हैं। वात्स्यायनके 'कामसूत्रों' को उन्होंने खूब दुहा है और विलासके सांगोपांग वर्णनमें वे जहाँ-तहाँ इतने शास्त्रीय हो उठते हैं कि स्थल जब-तब शिथिल भी पड़ जाते हैं। 'रघुवंश' का उन्नीसवाँ सर्ग और 'कुमारसम्भव' का आठवाँ इस सम्बन्धमें पर्याप्त प्रमाण हैं यद्यपि वहाँ भी कविके वाग्विलास या वर्णन-चातुरीको दूसरी श्रेणीका नहीं कहा जा सकता, विशेषकर शिवका विलास तो निःसंदेह स्तुत्य है।

प्रणयका मोह कवि नहीं छोड़ पाता, पर आज हम कविके उसी मोहके ऋणी हैं। यदि कवि मोहसे आहत न हुआ होता तो हमारा साहित्य कितना नीरस होता। उसके वर्णनोंमें पग-पगपर श्लोक-श्लोकसे रस टपकने

लगता है, और रस वह अभिनव शृङ्गारका है। उसके प्रकृति वर्णनमें, ऋतु-विलासमें, जलक्रीड़ा, नदियों, पर्वतों, वनों, समुद्रों, नगरोंके वर्णनमें सर्वत्र प्रणयका रस छलक पड़ता है। यहाँ तक कि विरह-वर्णनमें भी करुणा की धाराके नीचे उल्लास-विलासकी, संयोग-सुरतकी स्मृतिका रस प्रवहमान है। कालिदासने दो शुद्ध विलाप लिखे हैं, शुद्ध करुण विलाप, मरण-विरहसे प्रजनित विलाप, 'रघुवंश' में अजका और 'कुमारसंभव' में रति का। इन्दुमतीकी मृत्युसे अज विधुर होकर रोते हैं, कामकी मृत्युसे रति दीन हो विलाप करती है। वैसे 'मेघदूत' भी प्रधानतः विरह-संवाद ही है। इनके अतिरिक्त शकुन्तला, उर्वशी, मालविका और राम आदिकी विरह-वेदना भी बड़ी मार्मिकतासे सूचित हुई है। चकवा-चकवी, फूल-भौंरा, कमल-सूर्य, रात्रि-चन्द्रमा, वृक्ष-लता समूचे जीव-संसार पर कविके प्रणयका जादू चला है, सबके प्रणय-निवेदन और विरह-वेदनाको कविने अपनी संवेदनाका सौरभ दिया है। उसकी रचनाओंके कुछ स्थल उसकी शृङ्गार-साधनाको व्यक्त करेंगे। नीचे उन अनन्त स्थलों और प्रसङ्गोंमेंसे केवल कुछ दिये जाते हैं।

प्रेमका पहला प्रभाव कैसे गोचर होता है यह स्वयंवरके बाद इन्दुमती में कविने 'रघुवंश' ६, ८२ में इस प्रकार दर्शाया है—

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्वा निराक्रामदरालकेश्याः॥

वह उस युवाके प्रति अपनी अनुराग-ग्रंथि (प्रेम) खोल तो न सकी, लज्जा-वश कुछ कह तो न सकी, पर घुँघराले बालों वाली उस इन्दुमतीका शरीर फोड़कर प्रेम स्वयं रोमांचके रूपमें बाहर निकल आया। प्रेमका जब उद्रेक होता है तब वह छिपाया नहीं जा सकता।

यही स्थिति इन्दुमती और पार्वती और उनके वरोंकी विवाहके समय परस्पर स्पर्श करते होती है—(रघु० ७, २२, कुमार०, ७, ७७)—

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥

रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत् ।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य ॥

पाणिग्रहणके अवसर पर हाथ छूते ही वरके पहुँचेमें रोमांच हो आया, वैसे ही कुमारीकी अँगुलियोंसे भी पसीना छूट चला। लगा, जैसे कामदेवने प्रेमका भाव उन दोनोंके बीच बराबर-बराबर बाँट दिया हो। समान रूपसे प्रेमका दोनों पर असर हुआ।

इसी प्रकार शिवके प्रति प्रेमकी स्थितिमें जब सखियोंके साथ उमा गाती है तब उसकी दशा कठिन हो जाती है—

उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम् ।
अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्तसङ्गीतसखीररोदयत्
॥ कु० ५,५६ ॥

शिवका चरित गाते समय सहसा उसका कंठ भर आता था, वाणी विकृत हो जाती थी और उसके साथ गाने वाली सखियाँ, किन्नरकुमारियाँ भी फिर तो रो पड़ती थीं।

प्रेम किस प्रकार अनायास दर्शन मात्रसे घर करता है यह दुष्यन्तके शब्दोंमें (अभिज्ञान शाकुन्तल, १, १९) सुनिये—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

निश्चय इस (शकुन्तला) का विवाह मुझ क्षत्रियसे हो सकना संभव है, अभी मेरा पवित्र मन इसकी कामना करने लगा है, इसके प्रति मेरा अनुराग हुआ है। निःसंदेह वस्तुओंके विषयमें सज्जनोंके मनमें शंका होनेपर

उनका अन्तःकरण ही प्रमाण हुआ करता है, मनके अनुकूल ही उन्हें आचरण करना चाहिए। मनमें प्रेमका उद्रेक ही उसके औचित्यका प्रमाण है, शंकाका समुचित समाधान।

और जब मन कहीं बँध जाता है, और उसका इष्ट उसे प्राप्त नहीं हो पाता, पास होता भी नहीं, तब संगीत, सुदर्शन दृश्य आदि सुन-देख कर प्रेमीका मन उत्कण्ठित हो जाता है। दुष्यन्तको संगीतका स्वर उदास कर देता है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-
न्पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥५,२॥

सहसा मेरा मन संगीत सुनकर अनमना हो उठा है। रम्यको देखकर और मधुर शब्दको सुनकर जब सभी प्रकारसे सुखी जन भी उदास-उत्सुक हो उठें तब जानो कि वह जन्मान्तर प्रणयकी संगति है, पिछले जन्मके प्रेमियोंके सम्बन्धके भाव जो हृदयमें जमे-बैठे हैं अनायास स्मरण हो आते हैं, फिर तो मन जाने कैसा हो आता है।

विरह—

कामसे प्रेम होता है, प्रेमसे आनन्द। आनन्द प्रेमकी परिणति है। पर उस परिणतिके पहले और प्रेमाधानके पीछे प्रायः विरहका स्थान है। प्रेम की सुगम परिणति आनन्द और उल्लास-विलासमें अक्सर नहीं होती। उसका विकास तपनकी राह होता है। कालिदासकी दृष्टिमें प्रेमका परिपाक परिणाममें श्रेयस्कर होकर भी कष्टजन्य है। उसकी परिणतिके लिए व्रत और तपकी आवश्यकता होती है। नारीके पक्षमें प्रायः स्वाभाविक स्थिति यही रही है—शकुन्तला, उर्वशी, सीता, पार्वती सभी व्यापक विरहके वशीभूत होती हैं, वैसे ही उनके प्रणयी दुष्यन्त, पुरूरवा, राम भी।

विलासकी मात्रा भी कालिदासमें कुछ कम नहीं है, 'रघुवंश' का उन्नीसवाँ और 'कुमारसंभव'का आठवाँ सर्ग तो प्रायः विलासके ही हैं। पर विरह वर्णन अधिक व्यापक हुआ है। इससे पहले उसी विरहके स्थलोंका उल्लेख समुचित होगा। तीन स्थल उसके विशेष व्यापक हैं—यक्षसंदेश, अज-विलाप और रतिविलाप। ये तीनों क्रमशः 'मेघदूत', 'रघुवंश', और 'कुमारसंभव' में आते हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक स्थल, नाटकों आदि में, अत्यन्त करुण और विषाद युक्त हैं जिनका उल्लेख यथास्थान करेंगे।

पहले 'मेघदूत'। यक्ष यक्षराज कुबेरका अनुचर है। पत्नीके प्रति आसक्तिके असंयमसे स्वामीके कार्यमें शिथिल होता है। कुबेर उसे साल भरके लिए अलकासे निर्वासित कर देते हैं। निर्वासित होकर वह मध्य-प्रदेशमें रामटेक (रामगिरि) में प्रवास करता है। वहाँ जैसे-तैसे करके तो वह कुछ मास काट लेता है पर जब आषाढ़के आरम्भमें उसके पर्वत पर मेघ मँडराने लगते हैं तब वह पत्नीकी यादमें विकल हो उठता है, मेघको धुआँ, आग, पानी और हवाका संघात जान कर भी अति दीन हो उसे अपना सन्देश देकर प्रियके निकट अलका भेजता है। राह भली भाँति उसे समझा कर वह अपना संदेश देता है—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥
२०, उ० मे०॥

मेरी उस प्रियाको पहचानना कठिन न होगा। बड़ी आसानीसे उस मेरी दूसरी प्राणको पहचान लोगे, उस विरहकी मारी नितान्त कम बोलनेवाली को, जो मुझ अपने सहचर चकवेके दूर हट जानेके कारण अकेली चकवी की भाँति (निस्पन्द) हो गई होगी। प्रबल विरह-वेदनाके बचे हुए लम्बे दिन काटनेवाली उस बालाके विषयमें तुम्हें क्या कोई भ्रम हो सकता है ?

अरे, जानता हूँ, पालेकी मारी कमलिनीकी दशा तो उसकी हो गई होगी। सहज ही उसे जान लेना, शिशिरमथिता नलिनी मान कहीं छोड़ न देना।

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥२१॥

निःसंदेह दिनरात बुरी तरह रोते रहनेसे मेरी उस प्रियाकी आँखें सूज गई होंगी, तप्त उच्छ्वासों, गरम आहों से होठोंका (स्वाभाविक अथवा प्रसाधित लोध्र चूर्णमिला आलते) का रंग उड़ गया होगा, फीका पड़ गया होगा। हाथके ऊपर चिन्ताकुल मुख टिका होगा, लंबी रूखी अलकोंसे कुछ-कुछ छिपा, उदास, जैसे, तुमसे (मेघसे) छिपे चन्द्रमाका दीन कान्ति-हीन मण्डल। नयन अंजनसे सूने, होठ रंग (लिपिस्टिकका पूर्ववर्ती) से सूने, अलकें स्नेह (तेल) विरहित होनेसे सूनीं, विरहसे अलग भी ऐसा चेहरा भला कितना सूना होगा? और यह तो बस एक स्थिति हुई। उसकी तो इस प्रकारकी अनेक विरहाकुल स्थितियाँ निरन्तर बदलती जा रही होंगी। अपने सूनेको भरनेके लिए वह कभी कुछ कभी कुछ करती रहती होगी। सुनो, मेघ—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥२२॥

या तो वह तुम्हें व्याकुल मनसे देवताओंको बलि (पूजा) चढ़ाती मिलेगी या कल्पनासे देखे विरहसे दुबले मेरे तनका चित्र बनाती हुई। या कुछ अजब नहीं जो वह पिंजड़ेमें बसी मधुरभाषिणी सारिका (मैना) से पूछ

रही हो—रसिके, कभी स्वामीकी भी याद करती है ? तू भी तो उनकी बड़ी प्रिय है । या मित्र, सम्भव है—

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्-
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ।।२३।।

वह मैले वस्त्र पहने (भूमिपर बैठी) गोदमें वीणा रक्खे, मेरे कुलनामसे मुखरित पद गानेका प्रयत्न कर रही होगी । पर बेबस गरीब कर वह भी न पाती होगी । आँखोंसे निरन्तर गिरते रहनेवाले आँसू वीणाके तारोंको गीला कर देते होंगे । गीली तन्त्रीको जैसे तैसे पोंछकर फिर जब आरोह-अवरोहके स्वर सम्हालने चलती होगी तब बारबार अपने ही अभ्यास की हुई मूर्च्छना भूल जाती होगी । अरे, और क्या कहूँ—

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ।।२७।।

सुखके दिनोंमें जब हम दोनों साथ थे, चन्द्रमाकी किरणें अमृतकी तरह शीतल लगती थीं । उसी बोधको साक्षी बना खिड़कीकी जालीसे आनेवाली चन्द्रकिरणोंके अमृत-शीतल स्पर्शके अर्थ विरहाग्निसे तपी अपनी कायाको शान्त करने जब प्रीतिपूर्वक उधर बढ़ती होगी तभी वह नये अनुभवसे उद्विग्न लौट भी उसी शीघ्रतासे आती होगी । उन किरणोंको छूते ही उसे लगता होगा कि उनका स्पर्श अब पूर्ववत् शीतल न रहा, अब तो वे उत्तप्त हो उठी हैं, जलाती हैं, जलाकर तनको पिघला देती हैं । फिर तो सम्भवतः उसी तपनसे पिघल चलनेसे, आँखें आँसुओंकी भरी बूँदोंसे भर आती होंगी और तब भारी पलकोंसे उन्हें ढकती हुई वह ऐसी लगती होगी

जैसे दुर्दिन (बरसात या बदलीके दिन) की स्थलकमलिनी हो, न पूरी खिली हुई न पूरी संपुट, न पूरी जगी न पूरी सोई।

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥२६॥

उस विरहिणोकी जो अनेक दशाएँ हो सकती हैं, जिनमेंसे एक या अनेकमें तुम उसे देखोगे, उनमेंसे एक यह भी है कि वह अपने कपोलों (के विस्तार) से बारबार अपनी एक ही चोटी (वेणी) को बढ़े नाखूनों वाले हाथसे सरका रही होगी। वह चोटी अब तेल आदिके अभावमें छूनेमें बड़ी खुरदरी और रूखी, केशोंके उलझकर असम हो जानेके कारण कहीं मोटी कहीं पतली, हो गई होगी। विरहके पहले दिन फूलोंकी माला तजकर जो वेणी गूँथ दी गई थी उसे शापकी अवधि समाप्त होनेपर शोकरहित होकर मैं ही खोलूँगा। पर अभी तो उस रूखी वेणीको धारण करना अत्यन्त कठिन होगा। मुँहपर स्नेहहीन होनेसे वह गिरगिर आती होगी और उसीको वह बार-बार सम्हाल रही होगी। यक्ष सारी स्थितियोंकी कल्पना कर लेता है। जब प्रसाधनका उद्देश्य यही है कि जिसके लिए वह सम्पन्न किया जाय वह प्रिय उसे एक नज़र देख ले—*स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः*—तब भला वह विरहिणी अपने केशोंमें तेल क्यों लगाये, अपने नाखूनोंको काटे ही क्यों ?

स्निग्ध अञ्जन न लगानेसे आँखें सूनी हो गई होंगी, उनके कोनोंके प्रसार रूखी अलकों (केशों) से ढक जाते होंगे। बहुत दिनोंसे मदिराका सेवन न करनेसे उसके नयनोंको भ्रूविलास (भौंह-संचालन) भी भूल ही गया होगा। परन्तु तुम्हारे वहाँ पहुँचते ही उस मृगाक्षीकी आँख—कुशल सूचक कदाचित् बायीं आँख—सहसा फड़क उठेगी, और तब, मैं कहता हूँ,

क्षणभर वह आँख उस कमल-सी लगेगी जो मछलियोंके चलनेसे काँप जाने वाली हल्की लहरियोंके स्पर्शसे एकाएक हिल उठा हो—

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥३२॥

अस्तु, बन्धुवर मेघ, उस विरहिणीसे मुझ अभागे विरहीका सन्देश कहना। कहना कि नितान्त अकेला हूँ, प्राणहीन, तुमसे विरहित वातावरणमें विक्षिप्त पड़ा हूँ। तुम्हारे दर्शनको लालायित इधर-उधर सर्वत्र देखता हूँ पर तुम्हें देख पाता नहीं, हाँ, तुम्हारा आभास निश्चय जहाँ-तहाँ दिख जाया करता है, पर वह भी समग्र एकत्र नहीं, अंशतः बिखरा, कुछ यहाँ कुछ वहाँ—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीथिषु भ्रूविलासा-
न्हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥४१॥

जैसे श्यामा (प्रियंगु) लतामें तुम्हारा शरीर भंग (तन) देख लेता हूँ, डरी हुई हरिणी (मृगी सभीता) में तुम्हारी चितवन भी, वैसे ही चन्द्रमाके बिम्बमें तुम्हारे मुखकी कान्ति देख लेता हूँ, मोरके पंख-मंडलमें तुम्हारा केशकलाप, और नदीकी लघु-लघु लहरियोंमें तुम्हारी बंकिम कटीली भौंहोंके तेवर भी। पर, मेरी मानिनी प्रिये, कहीं एक ही जगह तुम्हारा समूचा सादृश्य देख पाना, भगवान् जाने, सपना हो गया है, संभव ही नहीं है।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥४३॥

और इसी कारण तब तुम्हें कल्पना द्वारा समूचा एकत्र देखना चाहता हूँ—चाहता हूँ कि वर्ण और रेखामें तुम्हारी कमनीय काया सिरजकर देख लूं, इसीसे उसे राग-रेखाओंमें सजानेका प्रयास भी करता हूँ, पर जब-तक तुम्हें मानावस्था (कुपित) में गेरूसे शिला पर (चित्ररूपमें) लिखकर तुम्हारे प्रसादनके निमित्त अपने आपको तुम्हारे चरणोंमें पड़ा दर्शाना (चित्रमें खींचना) चाहता हूँ तबतक नेत्रोंमें आँसू उमड़ कर दृष्टिपथ बन्द कर देते हैं। हाय, यह निर्दय दैव हम दोनोंका संयोग चित्र तक में—सत्यके आभास (धोखे) तक में—नहीं सह पाता। परन्तु जीनेका उपचार फिर भी कर लेता हूँ, कुछ साधन प्राणोंको रोक रखनेके लिए जुट गये हैं—

भित्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥४४॥

देवदारके कोमल पल्लवोंको तत्काल तोड़कर उसके रससे गमकती हिमालय की जो वायु दक्षिणकी ओर बहती आती है उसे, गुणवति, इसी विचारसे ललकार कर भेटता हूँ कि तुम्हारे अंगोंको परसकर वह आती होगी।

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात्।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥४५॥

चंचलनयने, सोचता रहता हूँ कि किस प्रकार रातके लम्बे पहरोंको क्षण भरमें काट लूं, कि किस प्रकार यह दिनकी मन्द तपन भी सदाके लिए मिट जाय। पर ऐसा हो कहाँ पाता है? मेरी प्रार्थना व्यर्थ हो जाती है,

तुम्हारे वियोगकी तपनकी घनी व्यथा मुझे सर्वथा अनाथ किये दे रही है। पर यह तपन भी कटेगी रानी, व्याकुल न हो—

नन्वात्मानं बहुविगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥४६॥

कल्याणि, क्योंकि आखिर किसने सर्वथा नियमसे केवल सुख ही भोगा? किसने नियमसे सर्वथा मात्र दुःख ही? अरे सुख-दुःख तो रथके चक्केकी भाँति कभी ऊपर कभी नीचे होते रहते हैं, कभी सुख भोगनेको मिलता है कभी दुःख—यही बार-बार विचार कर मैं अपने आप ढाढ़स बाँध लिया करता हूँ, आत्माकी रक्षा आत्मासे ही करता हूँ। (*उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ गीता*) सो तुम भी यही समझकर धैर्य धारण करो। आज हमारे दुःखका पहिया ऊपर आ गया है, एक दिन शापका अन्त हो जायेगा और सुखका पहिया तब ऊपर आ जायेगा, हमारे दिन लौटेंगे।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में अनेक स्थल हैं जहाँ कविने विरह-वर्णन किया है। दुष्यन्त अभी कण्वके आश्रमके पास ही है जब उसकी दशा शोचनीय हो उठती है और वह कामदेवको लक्ष्य कर कहता है—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि ॥३,३॥

सुनो, मदन, तुम्हारे बाणोंका कुसुमका बना होना और चन्द्रमाकी किरणोंका शीतल होना—दोनों ही बातें (लोकोक्तियाँ) मुझ जैसे विरहियोंको

तो झूठ ही लगती है। हिमगर्भ यह चन्द्रमा तो अपनी किरणोंसे आग बरसा रहा है और तुमने अपने फूलके बाणोंमें वज्र की कठोरता भर ली है।

धीरे-धीरे राजाकी दशा और दयनीय हो उठती है, वह विरहकी तपनसे अत्यन्त कृशित हो जाता है, कहता है—

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः ।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धना-
त्कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥३,१०॥

यह कैसी स्थिति है मेरी ? भीतरके विरह-तापसे मेरे इस मणिजटित सोनेके भुजबन्दका रंग फीका पड़ गया है। रात-रात भर नयनकोरोंसे निरन्तर झरते आँसुओंका असर और हो ही क्या सकता है ? भुजबन्द, बाहुके ऊपर सिर रखकर पड़े रहनेके कारण, आँसुओंके स्पर्शसे मलिन पड़ जाते हैं। और दुबला इतना हो गया हूँ कि यह भुजबन्द बार-बार कलाई पर सरक आता है, बार-बार इसे ऊपर सरकाता हूँ पर यह ऊपर रुकता नहीं, धनुषकी डोरीके घट्ठेतक पर नहीं रुक पाता। यही दशा विरही यक्षकी भी थी—उसका प्रकोष्ठ (पहुँचा) भी दुबलापनके कारण कंगनके बार-बार सरक जानेसे रिक्त हो जाया करता था—*कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः* *(मेघदूत, पूर्व, २)*। 'शाकुन्तल' के इस श्लोकमें 'निशि-निशि' और स्रस्तं-स्रस्तं' का प्रयोग द्विरुक्ति द्वारा स्थितिको अत्यन्त करुण बनानेके लिए हुआ है। निशि-निशि, रात-रात, रातके बाद रात, एकके बाद एक लगातार रातें जैसे शेक्सपियर 'मैक्वेथ'में कहता है—Tomorrow and tomorrow—वैसे ही 'स्रस्तं-स्रस्तं' में निरन्तर सरकते रहनेकी ध्वनि है और दोनोंकी इस ध्वनिमें एक अजीब दर्दभरी बेबसी है, संभालसे परेकी लाचारी।

उसी नाटकमें दुष्यन्त एकबार शकुन्तलाके आकर चले जानेके बाद

अत्यन्त व्याकुल हो कलप उठता है, अपने हतभागे हृदयको सहसा कोस उठता है—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥६,७॥

अब जागा, अभागा हृदय, अब जागा ? मृगाक्षी प्रियाने बार-बार जगाया तुझे, उठ, उठ, पहचान मुझे । तब तो तू जागा नहीं और अब जब उसके चले जानेपर यह विरहकी घनीभूत वेदना ठोकर लगाने लगी है तब तू उसकी घनता आँकनेके लिए जाग उठा है ! इतनी करुण पंक्तियाँ कभी किसी विरहीने नहीं कहीं । फिर राजा अपने मित्रसे कहता है (छठे अंक में), सरल नितान्त साधारण भाषामें अनन्त भाव भरता हुआ—

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते
मनोरथा नाम तटप्रपाताः ॥१०॥

समझ नहीं पाता, मित्र, यह संयोग (शकुन्तला का प्रणय-सुख) सपना था, या जादू था, या मुझे मतिभ्रम हो गया था, या कि वह मेरे ऐसे पुण्यका फल था जो अब चुक गया है ? वह सब, लगता है, समाप्त हो गया, अब नहीं लौटने का । लौटे भी कैसे ? मनोरथ तो तटके गिरनेका नाम है । जैसे वर्षामें बढ़ी नदीके तट जलके रसनेसे निरन्तर गिरते रहते हैं, एकके बाद एक, और जो एक बार गिरा फिर नहीं उठा, वैसी ही गति इन मनोरथोंकी है, एक आया लय हुआ, दूसरा आया विलीन हुआ । यही इनका सिलसिला है, अनिवर्त्य परम्परा ।

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम् ।

तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥१२॥

शकुन्तलासे, मित्र, मैंने कहा था—(लो यह मेरी अँगूठी, धारण करो इसे) मेरा नाम इस पर खुदा है, नित्य उसका एक-एक अक्षर गिनती जाओ, जिस दिन इन अक्षरोंका गिनना समाप्त हो जायेगा उसी दिन, प्रिये, तुम्हें हमारे अवरोध (अन्तःपुर) में पहुँचाने वाला राजपुरुष तुम्हारे पास पहुँच जायेगा। पर, ध्वनि है कि, ऐसा हो न सका। मुद्रिकाके नामाङ्कके अक्षर—जिनका कभी क्षय न हो सके ऐसे 'अक्षर' तक—कबके चुक गये और मेरा आदमी आश्रम नहीं पहुँचा। और जो वह स्वयं आई तो मैं यह अनिष्ट कर बैठा। इस श्लोकमें भी बड़ी वेदना एकत्र हो आई है। इतनी सरल इतनी कोमल वैदर्भी मुखरित पदावली ही इतनी वेदनाका भार वहन कर सकती है। एक-एक पद अलग-अलग हैं और कहीं वह अकेला दुहराया जाकर शकुन्तलाके विरहकी न बीत पाने वाली व्यथाको, राजाकी उस व्यथाकी पहचान और यादको स्वयं उसकी अपनी व्यथाको बढ़ाता है—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम्।

'एकैक'—एक एक कर—कितनी देर लगती है शब्दोंके उच्चारणमें, उसकी ध्वनि और अर्थके साम्यमें! 'दिवसे दिवसे'—दिन और दिन–Tomorrow and tomorrow—जैसे दिन बीत नहीं पाते, न पहले प्रियाके बीत पाये न उसके अपने अब बीत पाते हैं—इस 'दिवसे दिवसे' की पुनरुक्तिमें वेदनाकी कितनी 'अटूट' धारा है। इसी प्रकार 'नामाक्षरं गणय गच्छति' में असाधारण बिलम्बकी कष्टकर ध्वनि है, इस 'गच्छति' में अगतिका 'अगच्छति' का नहीं कट सकनेका संकेत है, जैसे अगले पद 'यावदन्तम्' में अनन्तका विस्तार ध्वनित है।

कविकी कृतियोंमें प्रसंगतः स्थान-स्थान पर विरह वर्णनके अतिरिक्त

'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' में दो समूचे सर्ग हैं जिनमें करुणासे ओत-प्रोत मरणान्तरवियोगसे रुदन हुआ है। अन्य स्थलोंके वियोग तो संयोगके पूर्ववर्ती हैं परन्तु इन स्थलोंके वियोग स्थायी हैं, अनन्त। इनमें एकमें पुरुष विलखता है दूसरेमें नारी—एकको साधारणतः 'अजविलाप' कहते हैं दूसरेको 'रतिविलाप'।

अजविलापका प्रसंग 'रघुवंश' के आठवें सर्गमें है। अज, कविकी तालिकामें, रामके पितामह हैं। उनका विवाह स्वयंवरकी रीतिसे विदर्भ की राजकन्या इन्दुमतीसे हुआ है। पौराणिक अनुश्रुतिके अनुसार इन्दुमती पूर्वजन्ममें हरिणी नामकी अप्सरा थी जो ऋषिके शापसे मानवी हुई थी पर जिसको अनुनय-विनयसे द्रवित होकर ऋषिने शापको यह कहकर सहनीय कर दिया था कि जब नारदकी वीणासे छूटकर पुष्पमाला उसकी छाती पर गिरेगी तब वह शापसे मुक्त हो फिर अप्सरा हो जायेगी। राजा अज नगरके बाहर उपवनमें इन्दुमतीके साथ विहार कर रहे थे कि आकाशमार्गसे जाते नारदमुनिकी वीणासे छूटकर माला नीचे पृथ्वी पर अज की गोदमें पड़ी पत्नीके हृदय पर गिर पड़ी और तत्काल उसकी मृत्यु हो गई। उसी अपनी शोचनीय विरहित दशाका वर्णन अजने नीचेके श्लोकोंमें विलख-विलख कर किया है—

विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥४३॥

अज साधारण धीरता तक खोकर वाष्पगद्गद कंठसे टूटे शब्दोंसे सहसा विलाप कर उठे। जब तप जाने पर लोहा पिघल उठता है तब गरीब आदमी की क्या बिसात? अज आँसू बहाते कलपने लगे—

कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ॥४४॥

यदि गातको छूते ही फूल-सा कोमल पदार्थ तक आयुका नाश करनेमें

समर्थ हो सकता है तो, हन्त, फिर कौन-सी वह दूसरी वस्तु है जो प्राण लेनेके अर्थ प्रहार करनेवाले दैवका साधन नहीं बन सकती ?

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥४५॥

अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि काल मृदु वस्तुको मारनेके लिए मृदु साधनका ही उपयोग करता हो। लगता है, इस स्थितिमें उदाहरण वह नलिनी दिखाई गई है जो हिमपातसे जल जाती है।

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥४६॥

और जो यह माला स्वभावसे ही प्राण हर लेती है तो लो मैंने भी इसे अपने हृदय पर यह धारण कर लिया, पर मुझे यह क्यों नहीं मार डालती ? अरे, सच तो यह है कि ईश्वरकी इच्छासे कहीं तो विष भी अमृत हो जाता है, कहीं अमृत भी विष हो जाता है।

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥४७॥

अथवा यह मेरे भाग्यका ही दुर्विपाक है कि ब्रह्माने मालाको वज्र बनाकर मारा तो सही सम्भवतः मुझे ही, पर उससे वृक्ष तो नहीं गिराया किन्तु उससे लिपटी लताको ही जला डाला।

कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥४८॥

प्रिये, अपराध करने पर भी जब कभी तुमने मेरा अनादर नहीं किया तब भला सर्वथा निरपराधी मुझे आज सहसा बात करनेके अयोग्य कैसे मान लिया ?

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥४६॥

मधुर मुसकराने वाली प्रिये, निश्चय तुमने मुझे मिथ्या प्रेम करने वाला समझ लिया है वरना बिना मुझसे पूछे भला तुम कैसे यहाँसे सदाके लिए परलोक चली जातीं ?

दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना ।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥५०॥

मेरे प्राण एक बार मूर्छित हो गये थे । पर जब वे एक बार प्रियाके साथ चले ही गये थे तब लौटे क्यों ? और जो तुम्हारे बगैर ही लौट आये तो निश्चय उन्हें अपने कियेका फल भोगना ही चाहिए । अब अगर मुझ-सा नीच अपनी ही करनीका फल भोगे तो उसमें चारा क्या है ?

सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥५१॥

अभी तो संभोगजनित थकानके पसीनेकी बूँदें भी तुम्हारे मुखपर न सूखी थीं और तुम चल बसीं । धिक्कार है जीवोंकी इस असारताको, जीवनकी इस क्षणभंगुरताको !

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥५२॥

मेरा क्षितिपति (पृथ्वीका स्वामी) नाम तो निःसंदेह नाममात्रको है, वास्तविक मेरा भावबन्धन प्रेम तुममें है, केवल तुममें । और इसीसे मैंने मनसा भी कभी तुम्हारो बुराई नहीं की फिर, क्यों तुम मुझे इस तरह छोड़े जा रही हो ?

कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥५३॥

करभोरु (हथेलीके किनारेकी-सी जाँघोंवाली), जब तुम्हारी इन फूलोंसे गुंथी कुंचित और भौंरेकी-सी काली अलकोंको पवन हिला देता है तब तुम्हारे जी उठनेकी आशा मेरे मनमें हो आती है ।

तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥५४॥

प्रिये, औषधियों (जड़ी-बूटियों) के रातमें जल उठनेसे हिमाचलकी अँधेरी गुफाएँ प्रकाशमान हो उठती हैं । संज्ञा धारणकर तुम भी मेरे अन्तरको उजागर करो, रानी । मेरा विषाद झट मेटो ।

इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥५५॥

रातमें भीतर बन्द हो जानेसे मौन भौंरोंवाले एकाकी सोये कमल जैसा तुम्हारा यह हिलते कुन्तलोंवाला मौन मुख मुझे अत्यन्त व्यथित कर रहा है ।

शसिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥५६॥

रात्रि चन्द्रमाको फिर पा लेती है, अमावस्याको अन्तर्धान हुआ चाँद फिर लौट आता है, नई कलाओंके साथ उदित होता है, चकवी अपने सहचर चकवेको फिर पा लेती है । इससे दोनोंका वियोग (रात्रि और चन्द्रमा, चकवी और चकवेका) सह्य है, थोड़ी ही देरके लिए है । परन्तु तुम्हारा चला जाना तो सदाके लिए है, फिर बताओ इस स्थितिमें यह कभी न मिट सकनेवाला विरह मुझे क्यों न जलाये ?

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥५७॥

नये पल्लवोंकी शय्या भी तुम्हारे कोमल अंगोंको चुभा करती थी, अब

बोलो वामोरु, भला कठोर काठकी चितापर चढ़ना कैसे बर्दाश्त करोगी ? कहाँ शीतल पुष्पशय्या, कहाँ चिताग्निकी लपटें ?

इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥५८॥

तुम्हारी चाल बन्द हो गई है, कटि निस्पंद है, फिर यह तुम्हारी एकान्तकी सखी विलासकी सखी तागड़ी भला क्यों न सदाके लिए सोयी तुम्हारी हो तरह सो जाय ? मुझे तो यह भी दुःखकातरा हो मर-सी गई दिखती है ।

कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥५९॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥६०॥

तुम्हारी मधुरवाणी कोयलोंमें जा बसी, तुम्हारी आलस भरी मस्तीकी चाल हंसिनियोंमें, तुम्हारी चंचल चितवन मृगियोंने ले ली, तुम्हारे हाव-भाव, चुलाबुलापन, वायुसे हिलनेवाली लताओंने । सही तुमने अपने परलोकगमनकी उतावलीमें अपने गुण यहीं छोड़ दिये, जिससे उन्हें देखकर मैं धैर्य और सन्तोष लाभ करूँ, पर तुम्हारे विरहकी भारी व्यथासे भरे हृदयको सम्हाल सकनेकी क्षमता मुझमें बिलकुल न रही ।

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम् ॥६१॥

देखो प्रिये, तुमने अभी उस दिन इस आम और उस प्रियंगुलताका विवाह कर देना निश्चित किया था, अब भला इन दोनोंका संयोग कराये बिना तुम्हारा चला जाना मुनासिब है ? विवाह करके ही जाना चाहिए ।

कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥६२॥

कितनी भयानक कल्पना है, रानी, तुमने जिस अशोकका दोहद सम्पन्न किया था (चरणसे स्पर्श किया था) वह अब फलस्वरूप फूलेगा। उसके फूलोंको कहाँ तो तुम्हारी अलकोंका आभरण होना चाहिए था, और कहाँ अब उन्हें मैं तुम्हारे जलदानके लिए अपनी अंजलीमें धारण करूँगा। कहो, कैसे इस स्थितिका सहन करूँ जिसमें श्रृंगार मृत्युमण्डन बन गया ? समझो इसे, लौटो !

स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥६३॥

सुन्दरि, तुम्हारे रुनझुन पाजेबवाले चरणका अनुग्रह दूसरोंके लिए अत्यन्त दुर्लभ है, पर तुमने जो बड़ी कृपा करके उससे इस अशोकका दोहदके लिए स्पर्श किया था तो उस कृपाको यह कृतज्ञ बिसरा नहीं पा रहा है, अपने कुसुमों-से आँसू बहाता तुम्हारी याद कर रहा है, दुःख मना रहा है। दोहद अब फला है कि यह कुसुमनिचयसे ढक गया है, पर भला उसको उसका लाभ क्या ? वह तो उसे तुम्हारी बस याद दिलाकर उसे व्यथित-मात्र करता है।

तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया ।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते ॥६४॥

मधुरभाषिणी प्रिये, तुम सहसा किस नींद सोई कि जो तुम्हारे श्वास की-सी सुरभि वाले मौलश्रीके फूलोंकी वह विलास-मेखला (करधनी) भी, जिसे हम दोनों गूँथ रहे थे; अधूरी ही पड़ी रह गई ?

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥६७॥

तुम मेरी गृहिणी थीं, मेरे गृहकी स्वामिनी (घरनी जिसके बिना घर भूतका डेरा होता है), मेरी सलाहकार मंत्रिणी, एकान्तकी सखी, ललितकलाओंमें

मेरी प्रिय शिष्या थीं। फिर बोलो न, रानी, तुम्हें मुझसे छीनकर इस निर्दय मृत्युने भला मेरा क्या नहीं ले लिये ? मेरे लिए छोड़ा ही क्या उसने ?

मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥६८॥

मदिर नयनोंवाली, कहाँ तो तुमने सुवासित मीठी मदिरा मेरे मुँहसे अपने मुँहमें लेकर पी है और कहाँ अब परलोकमें मेरे आँसुओंसे दूषित जलांजलि ! कहो, कैसे पियोगी, प्राण !

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥६९॥

यह सारा ऐश्वर्य तुम्हारे विना इस अजका व्यर्थ हो गया है। अब मेरी विषयोंमें आसक्ति कैसी ? मेरी तो एकमात्र आकर्षण तुम थीं। मेरे तो सारे आकर्षण सारे विषयास्वादन तुम्हींमें केन्द्रित थे ।

इस प्रकार अजका अपनी प्रिया इन्दुमतीके लिए विलाप समाप्त होता है। साहित्यकी यह अक्षय सम्पदा है। इतनी मर्महर इतनी करुण इतनी वेदना-विह्वल वाणी विरहितके मुखसे नहीं कढ़ी। इस स्थितिकी सँभाल केवल वस्तुओंका एकाग्र सही विश्लेषण ही शायद कर सकता और गुरु वसिष्ठने राज्यके अवलम्ब राजा अजको अपनी गम्भीर वाणीसे सन्देश भेजा भी—*मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः*—मरण जीवधारियोंके लिए स्वाभाविक है, पण्डित लोग तो जीवनको विकृति मानते हैं क्योंकि उससे रूपरसगन्धादि अपने उद्गमसे परे हट आते हैं—पर क्या यह तत्त्वबोध मोहविजड़ित विरहतप्त राजाको सँभाल सका ? अपनी व्यथा न सह सकनेके कारण प्राणवान् अज प्रियाके पथका शीघ्र अनुयायी हुआ, निधनको प्राप्त हुआ ।

रति-विलाप भी अज-विलापकी ही भाँति प्रियके निधन पर हुआ है। र तपति अनंग (कामदेव) को शिवने समाधिमंग कर कामसंचार करनेके

कारण अपने तीसरे नेत्रकी अग्निसे भस्म कर दिया है। तभी रतिने 'कुमारसंभव' के चौथे सर्गमें (५–३८) अत्यन्त करुण रुदन किया है—

अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी ।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ॥४॥

फिर विह्वल होकर पृथ्वी पर लोट-लोट जानेसे धूलधूसरित स्तनों वाली बिखरे बालों वाली वह रति वनस्थलीको अपने दुःखसे दुखी करती ऊर्ध्व-स्वरसे विलाप कर उठी। उसके विलापसे चराचर रो उठा—

उपमानमभूद्विलासिनां करणं यत्तव कान्तिमत्तया ।
तदिदं गतमीदृशीं दशां न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः ॥५॥

तुम्हारी यह देह अपने सौन्दर्यके कारण कभी रसिकोंके उपमानोंका आदर्श बनती थी, आज भला उसकी क्या दशा हो गई है ? नारीका हृदय इतना कठोर कि फट भी नहीं पाता।

क्व नु मां त्वदधीनजीवितां विनिकीर्य क्षणभिन्नसौहृदः ।
नलिनीं क्षतसेतुबन्धनो जलसङ्घात इवासि विद्रुतः ॥६॥

तुम्हें प्राण सौंप दिये थे परन्तु क्षणभरमें मैत्रीका वह नाता तोड़ तुम सहसा कहीं चले गये, जैसे रुके जलका संघात (प्रवाह) बाँधको तोड़कर कमलिनी को छोड़ता शीघ्र बह जाता है।

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम् ।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥७॥

तुमने कभी कुछ मेरा अप्रिय नहीं किया, मैंने तुम्हारा कभी कुछ अप्रिय नहीं किया, फिर क्यों अकारण ही इस विलपती रतिको दर्शन नहीं देते ?

हृदये वसतीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥८॥

'तुम मेरे हृदयमें बसती हो', जो तुम कहा करते थे उसका भेद मैंने जाना—झूठ था वह। यदि वह केवल उपचार-वाक्य (शिष्टाचारमें कहा असत्य) न होता तो मुझ रतिके अविनष्ट होते भला तुम कैसे विनष्ट हो जाते ? फिर भला यह कैसे सम्भव होता कि आश्रयके नष्ट हो जाने पर भी आश्रित बचा रह जाता ? तुम्हारे हृदयमें यदि मेरा वास होता तो उस हृदयके नष्ट हो जाने पर भला मेरी रक्षा क्योंकर हो पाती, मैं कैसे बच पाती ?

रजनीतिमिरावगुण्ठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवाः।
वसतिं प्रियकामिनां प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः ॥११॥

हे प्रिय, रातके अन्धकारसे ढके मार्गमें बादलोंकी गरजसे व्याकुल (प्रतीक्षाशील, कामियों (रसिकों, विलासियों) के घर प्रियाओं (अभिसारिकाओं) को तुम्हारे विना भला कौन अब पहुँचा सकेगा ? प्रसन्न केलिप्रधान मध्यकालीन समाजमें अभिसार प्रायः स्वाभाविक था और कामदेव उस कार्यका परम आराध्य माना जाता था, इससे रतिका यह पूछना सार्थक ही है—

नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥१२॥

कभी समय था जब मदिराके प्रभावसे लाल नयनोंको घुमाना, बोलते-बोलते शब्द-शब्द पर लड़खड़ा जाना मदमस्त नारियोंके लिए (तुम्हारे रहते) कुछ अर्थ रखते थे, पर वही अब तुम्हारे विना व्यर्थ हो गये हैं, विडम्बनामात्र बन गये हैं। वह वारुणीमद कैसा जो शरीर और वाणीको अस्थिर तो कर दे, पर अपनी परिणति—कामाभिवृत्ति—में चूक जाय, अपूर्ण रह जाय ?

हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः।
वद सम्प्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥१४॥

हरे-लाल रंगोंसे रुचिर गँठा, नरकोयलकी मधुर कूकसे मुखरित आमका नया बौर, बोलो, अब किसका बाण बनेगा ? विलासियों-विलासिनियों

को कामप्रेरित करने वाली यह आम्रमंजरी पहले बाण रूपमें तुम सन्धाना करते थे, अब तुम्हारे अभावमें भला उसे कौन चढ़ाया करेगा ?

अलिपंक्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता ।
विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम् ॥१५॥

तुमने अनेक प्रकारसे धनुषकी डोरीके लिए भौंरेकी पंक्तिका उपयोग किया हैं, वह पंक्ति अब करुणस्वरसे मेरे रोनेका अनुकरण कर रही है । भौंरोंका गूँजना रोना-सा लगता है ।

प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ।
रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥१६॥

काम, अपने स्वाभाविक मनोहर शरीरको फिरसे प्राप्त कर उठो और मधुर आलाप करनेमें स्वाभाविक निपुण कोकिलाको उसके सुरत सम्बन्धी कर्तव्यमें आदेश करो (जिससे वह अपनी कूक द्वारा प्रेमियोंको उनके संकेत-स्थान बतानेमें तत्पर हो जाय) ।

शिरसा प्रणिपत्य याचितान्युपगूढानि सवेपथूनि च ।
सुरतानि च तानि ते रहः स्मर संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे ॥१७॥

काम, मुझ मान की हुई को मनानेके लिए तुम काँपते शरीरसे चरणों पर मस्तक रख देते थे, मनाकर हृदयसे लगाते थे और तब अनेक प्रकारसे मेरे साथ विलास (संभोग) करते थे—वह सब याद करके धीरज धरते नहीं बनता, अशान्तिसे मन व्याकुल हो उठता है ।

रचितं रतिपण्डित त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम् ।
ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारु वपुर्न दृश्यते ॥१८॥

रतिनिपुण काम, वसन्तके कुसुमभारसे तुम मेरे अंगांगोंको सजाया करते थे, कहाँ है तुम्हारा वह रुचिर तन ? अलकोंमें, जूड़े और बेणियोंमें, कानोंमें,

कलाइयों पर, भुजाओंमें, गलेमें, स्तनों पर किया वह तुम्हारा कुसुम-प्रसाधन कहाँ गया ? सपना हो गया वह कुसुम-सम्भार अब !

विबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।
तमिमं कुरु दक्षिणेतरं चरणं निर्मितरागमेहि मे ॥१९॥

जिस बाएँ पैरका प्रसाधन अपूर्ण छोड़कर ही क्रूर देवताओंके आवाहनसे तुम चले गये थे उसका रँगना आकर पूरा करो ! अधिकतर नारियोंका श्रृंगार उनके प्रेमी पुरुष या पति ही किया करते थे, कम-से-कम इस प्रकारका प्रसाधन उनके विलास और रतिकेलिका ही अंग था । सो यह काम भी तब अपनी प्रिया रतिके प्रसाधनमें लगा था जब इन्द्रने उसे स्मरण किया । उसे फिर तो प्रसाधनका कार्य अधूरा ही छोड़कर देवकार्य साधनार्थ भागना पड़ा था । उस कार्यमें उसको जान भी गँवानी पड़ी । रति कहती है कि तबतक तुम मेरे दाहिने चरणमें आलता लगा चुके थे पर बायाँ अभी बग़ैर रँगा ही रह गया था, सो अब लौटकर वह बचा काम पूरा क्यों नहीं कर देते, बायें पैरको भी क्यों नहीं रंग देते ?

मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेति मे ।
वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण त्वामनुयामि यद्यपि ॥२१॥

रमण, निःसंदेह मैं चितारोहण द्वारा तुम्हारा अनुगमन तो करूँगी ही परन्तु यह बात तो अब प्रचलित हो ही जायेगी कि रतिने मदनके बिना क्षणभर भी जीवन धारण कर ही लिया ।

क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया ।
सममेव गतोऽस्यतर्कितां गतिमङ्गेन च जीवितेन च ॥२२॥

तन और प्राण दोनों ही तो लेकर परलोक चले गये, अब कहो भला साथ सती होनेके लिए किस शरीरका अन्तिम मंडन करूँ ?

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥३३॥

चाँदनी चन्द्रमाके साथ ही चली जाती है, मेघके साथ ही उसकी बिजली भी विलीन हो जाती है। पतिका अनुगमन करना तो पत्नीके लिए स्वाभाविक ही है, वह तो जड़ भी करते हैं, फिर मैं क्यों न करूँगी ?

इस प्रकार अज और रतिके विलापमें कविने अत्यन्त स्वाभाविक रीतिसे साधारण जीवनमें याद आनेवाली बातोंको बड़ी मार्मिक, मधुरता, और हृदयस्पर्शी करुणा द्वारा व्यक्त किया है। ये स्थल तो स्पष्टतया प्रसंगतः करुण हैं और प्रसंगवश ही इन्हें सविस्तर व्यंजित भी किया गया है। पर इनके अतिरिक्त कालिदासके अनेकानेक वर्णन अत्यन्त मर्महर बन गये हैं। इनमें कुछका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ऐसा ही एक करुणस्थल सीताका राम द्वारा परित्याग है। गर्भवती सीताको रामकी आज्ञासे लक्ष्मण वन ले गये हैं। कविने बड़ी मार्मिकतासे (रघु० १४ वाँ सर्ग) उस दृश्यका चित्रण किया है, जब लक्ष्मण गहनवनमें सीतासे रामका आदेश कहते हैं।

अथ व्यवस्थापितवाक्कथञ्चित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः ।
औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार ॥५३॥

वनमें पहुँच कर लक्ष्मणने जो कुछ कहना था उसके लिए समुचित शब्द चुनकर जैसे तैसे आँसुओंको रोककर (रुँधे कंठसे) पत्थर बरसाने वाले उत्पाती मेघके समान राजाके आदेश वचन कहे।

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ॥५४॥

तब जैसे लू लगनेसे लताके फूल झड़ जाते हैं, सीताके आभूषण भी अपने आप वैसे ही गिर पड़े। फिर स्वयं लताकी ही भाँति सीता भी अपनी जननी धराकी गोदमें सहसा जा गिरीं।

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥५६॥

बेहोश हो जानेके कारण सीताने पहले दुःख न जाना, पर संज्ञा लौटते ही दुःख भी लौट पड़ा और अन्तर बुरी तरह जलने लगा। लक्ष्मणके यत्नसे होशमें आने पर सीताके लिए मोहके कारण जागरण, संज्ञाका लौटना ही, कष्टतर हो गया।

विलास—

प्रणय और विवाहकी परिणति विलास और शरीर-सम्बन्ध या सुरतका वर्णन भी कालिदासने खूब किया है। दोनोंका रूप प्रायः एक ही रहा है वैसे उनका परिणाम दुःखद और सुखद प्रसंगानुसार बदलता गया है। अवैध शुद्ध विषय-विलासका वर्णन कामुक अग्निवर्णके चरितमें 'रघुवंश' के उन्नीसवें सर्गमें हुआ है। कवि कहता है—

कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥५॥

उस कामिनीसहचर कामी राजाका राजप्रासाद सदा मृदङ्गके नादसे गूँजता रहता था। उसके विलासका क्रम इतना अटूट था कि पिछले दिनके आनन्दोत्सव अगले दिनके आनन्दोत्सवके सामने तुच्छ हो जाते। उसकी कामवृत्तिके साथ ही उसके संगीत-विलासादि उत्तरोत्तर बढ़ते जाते।

घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥११॥

जैसे खिली कमलिनियोंसे भरे सरवरमें हाथी अपनी हथिनियोंके साथ प्रवेश करता है, प्रियाओंका सखा वह अग्निवर्ण भी वैसे ही अपनी प्रणयिनियों के साथ नाकको मधुर लगने वाली मनोहर मद्यगन्धसे गमकती पानभूमिमें जाता, आपानकोंकी रचना करता।

प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽधुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥

रात-रातभर राजा सुरतके लिए फिरता रहता। संभोगके बाद जब वह घर लौटता और उसको खंडिता प्रियाएँ उससे रुदन आदिके द्वारा अपनी व्यथा आदिका प्रकाश करतीं तब वह उन्हें हाथ जोड़कर मना लेता, प्रणामादि द्वारा उनके मानका भंजन करता, पर उसका व्यवहार तो बदलता नहीं जिससे थकावटके कारण वह प्रणयके लिए उन्हें तृप्त भी नहीं कर पाता। उसका वह दुर्बल व्यवहार भी उन प्रणयिनियोंकी पीड़ाका वर्धन ही करता, उसकी शिथिलता उन्हें विकल कर देती।

नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः ॥२४॥

उसके मुँहसे जब-तब उसकी प्रियाओंके नाम अन्य प्रणयिनियोंके सामने निकल जाते तब वे उनका भाग्य सराहतीं। कहतीं—भला कि आपने प्रियाका नाम बता दिया। बड़ी भाग्यवती है वह, पर करें क्या ? अपना लोभी मन भी तो आपसे ही लगा है। भेद खुल जानेपर भी बजाय उससे नाराज़ होनेके वे उससे और चिपट जाती थीं।

चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम् ।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥

कितना महान् विलासी था वह! उसकी शय्या उसके उस विलासको प्रगट कर देती। जब वह सोकर उठता तब उसके पलंगपर केसरका सुनहरा चूर्ण बिखरा मिलता, मसली पुष्पमालाएँ और टूटी करधनी (तागड़ी) की लड़ियाँ पड़ी होतीं, उसपर जहाँ-तहाँ आलताके (चरणोंके) लाल धब्बे दिखाई पड़ते। पलंग जैसे पुकार-पुकारकर कहता, देखो यहाँ रमण हुआ है, रतिरण हुआ है।

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥३५॥

उस विलासी राजाके पिछले कृत्य उसके अगले मोहके कारण बनते। गायिकाओं तकको वह विकल कर देता, उनके होठोंको दाँतोंसे, जाँघोंको चुटकियोंसे, नखोंसे काटकर रख देता। जब वे अपने होंठोंपर बाँसुरी या जाँघोंपर बजानेके लिए वीणा रखतीं तब उन्हें दर्द होता, और तब वे परिणामस्वरूप राजाकी ओर उलाहनेके लिए बंकिम देखतीं, तब उनके कटाक्षसे वह और भी मुग्ध हो उठता।

परन्तु इस अनियंत्रित विलासका परिणाम क्या होता ? वही जो स्वाभाविक था, अकाल मृत्यु—

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥५०॥

उसका गात पीला पड़ चला, आभूषणोंको दुबलापन और कमजोरीके कारण वहन करना कठिन हो गया जिससे उन्हें उसे प्रायः उतार देना पड़ता। अब तो वह बग़ैर सहारेके चल भी नहीं पाता था, उसकी आवाज़ तक कमज़ोर पड़ गई थी, राजयक्ष्माका वह शिकार हो गया, उसकी कृशित काया विरहियोंकी-सी दीख पड़ने लगी, और एक दिन उसके दियेकी लौ उस रोगरूपी हवाके झोंकेसे बुझ गई।

इसके विपरीत युक्ताहार-विहारके सबल उदाहरण शिवके विलासका वर्णन कविने अपने 'कुमारसंभव' के आठवें सर्गमें किया है। पर वह गृहस्थका विलास है, दम्पतिका ऋद्ध वैध विलास, उस शिवका विलास जो अपनी पत्नी सतीकी लाश कभी कंधोंपर ढोये फिरा था, जो विलास कि उच्छृंखल प्रणयका द्योतक नहीं परिणीतावस्थाका परिणाम है, प्राजापत्य विवाह का। उस प्रसंगमें *'प्रजायै गृहमेधिनाम्'* के अपने भावको सत्य करते हुए कविने तारकासुरके निधनके लिए कार्तिकेय (कुमार)के जन्मकी

भूमिकामें जो शिवका उमाके साथ रमण और काम-विहारका वर्णन किया है वह स्वयं वात्स्यायनके 'कामसूत्रों'के अनुकूल सर्वथा नग्न होकर भी अत्यन्त समीचीन और हृदयग्राही है। हमने जैसे अग्निवर्णके सविस्तर कविकृत प्रसंगका ऊपर अत्यन्त संक्षेपमें उल्लेख किया है वैसे ही इस शिव-पार्वतीके विलासका उल्लेख भी नितान्त सूक्ष्म करेंगे।

कामका उद्दीपक वसन्त यौवनपर है। कमलोंमें भौंरे भर रहे हैं, उनके अर्धसम्पुट मुखछिद्रमें वे धीरे-धीरे प्रवेश कर रहे हैं। प्रतीची दिशा केसर भरे बन्धुजीवका तिलक किये कन्याकी तरह प्रसन्न है, संध्या अपनी तूलिकासे श्वेत मेघखंडोंको लाल-पीला रंगती जा रही है। फिर धीरे-धीरे सूरज डूब जाता है, अन्धकारकी एक हल्की चादर धराको ढक लेती है, कमल मुँद जाते हैं। तब बिहँसता हुआ चाँद आता है, रजनीके अन्धकाररूपी अलकोंको उँगलियोंसे संवार-हटा उसे चूम लेता है, और वह रजनी उस चुंबन-रससे विभोर आकुल-पुलकित अपने कमल-नयन मूँद लेती है।

और तब शिवका विलास पलता है—मुग्धा पार्वतीकी लज्जा धीरे-धीरे दूर हो जाती है। पहले तो वह नीबीकी गाँठ खोलनेके लिए उसकी नाभिपर पड़ा हुआ शिवका हाथ बलपूर्वक रोक देती है पर जब उसे सात्त्विक स्वेद हो आता है, पुलक होने लगती है, कम्प छूटने लगता है तब उसका दुकूल (वस्त्र) अपने आप अनायास हट जाता है—

नाभिदेशनिहितः सकम्पया शङ्करस्य रुरुधे तया करः।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम् ॥४॥

संभोगके बाद अधर-दंशन आदिके चिह्न देखने जब वह दर्पणके सामने खड़ी होती है तब दर्पणमें झलकते उसके प्रतिबिम्बके पीछे सहसा प्रिय (शिव) का बिम्ब भी झलक आता है, शिव उसके पीछे आ खड़े होते हैं और तब वह मुग्धा लज्जासे गड़-सी जाती है, अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करने लगती है—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
प्रेक्ष्य बिम्बमुपबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥११॥

नीलकंठ द्वारा उस अपनी नवयौवनाको परिभुक्त देखकर, पतिका उस दिशामें आकुल प्रेम देख, पार्वतीकी जननीको बड़ा सन्तोष होता है क्योंकि बहुओंकी माताओंके आह्लादका कारण उनके पतियोंका प्यार और प्रसन्नता ही बनता है—

नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत् ।
भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥१२॥

इस प्रकार अनेक दिन अनेक रातें शिवने पार्वतीके साथ जब बलपूर्वक विलास किया तब कहीं जाकर धीरे-धीरे कामका सुख जान लेने पर पार्वती का रति सम्बन्धी विरोध छूटा, तत्सम्बन्धी डर दूर हुआ—

वासराणि कतिचित्कथञ्चन स्थाणुना रतमकारि चानया ।
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम् ॥१३॥

फिर तो वह स्वयं सम्भोगमें योग देने लगी और एकान्तमें सुरत सम्बन्धी जो भी प्रयोग उसने शिव द्वारा सीखे वही सीखी हुई निपुणता बादमें गुरुके लिए ललितदक्षिणा सिद्ध हुई । उस सीखी कामकलाका प्रतिप्रयोग (विपरीत) ही गुरु शिवके लिए गुरुदक्षिणा बन गई—

शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शङ्करस्य रहसि प्रपन्नया ।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥१४॥

अब 'मेघदूत' के कुछ स्थल सुनिये जिनकी विलास-सम्बन्धी मधुर याद विरही यक्षको व्याकुल कर देती है। विलासप्रिय यक्षोंकी अलकाका वर्णन करते-करते वह उनके सुरत और उनकी प्रियाओंकी लज्जाका करने लगता है—

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपा—
न्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥उत्तर, ५॥

लाल अधरों वाली प्रियाओंके नीवी-बन्ध टूट जाने पर जब उनके चपल प्रिय उनके ढीले वस्त्र चुपचाप हटा देते हैं तब उनका दम लज्जासे घुटने लगता है और तब कुछ दूसरा न कर सकनेके कारण अपनी लज्जाकी रक्षाके लिए घबड़ा कर वे रत्नदीपोंको बुझानेका प्रयत्न करती हैं, कि अंधेरेमें पतिका आचरण सह्य हो सके, और अपने प्रसाधनके चूर्ण (पाउडर) से वे मुट्ठी भर-भर कर उन प्रदीपोंपर फेंकने लगती हैं। तेल-बत्तीसे जलने वाले चिराग़ अगर वे होते तो बुझ भी जाते पर प्राकृतिक तेजपुंजसे दमकने वाले रत्नोंका प्रकाश भला उससे कैसे क्षीण हो सकता है ?

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना—
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥७॥

अलकामें प्रियाओंके प्रियतम उनके सुरतशिथिल गातको आलिंगनमें बाँधते हैं तब उनकी रमणजनित ग्लानि आधीरातमें उन चन्द्रकान्त मणियोंसे लपटती जलकी शीतल बूंदोंसे दूर होती है जो कमरेकी चाँदनीसे धागोंके सहारे लटकती हैं और चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे पसीजती रहती हैं। मेघ जो ऐसी दशामें खिड़कीमें जा बैठे तो चन्द्रकिरणोंकी राह बन्द हो जाय और न चन्द्रमणियोंसे जल चुवै न सुरतग्लानि मिटे। विरही यक्ष उस स्थितिकी याद कर अपनी वंचितावस्थामें भी उन दूसरे प्रणयी-प्रणयिनियोंके संभावित दुःखसे दुखी हो जाता है और मेघको उचित आचरणके

लिए अलक्ष्य रूपसे सावधान करता है जिससे वह अनजाने कहीं उनके सुखमें बाधक न हो जाय।

अभिसार—

उसी सम्बन्धमें यक्ष अलकाके अभिसारोंकी ओर भी संकेत कर देता है—

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥६॥

उस अलकामें रातके समय अपने प्रियोंके प्रति अभिसार करती हुई कामिनियोंके चपलगतिसे चलनेसे उनकी अलकोंके मनारके फूल और पद्मखंड, कानोंके स्वर्णकमल और मस्तकके मुक्ताजाल, स्तनोंके हार टूटकर मार्गमें गिरकर बिखर जाते हैं। उनसे उन अभिसारिकाओंके मार्गका पता चलता है।

'पूर्वमेघ' में भी उज्जयिनीकी अभिसारिकाओंकी ओर कविने संकेत किया है—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥३७॥

उस उज्जयिनीमें रातके सूचिभेद्य अन्धकारमें रमण (प्रिय) के घर जाती अभिसारिकाओंको राजमार्ग पर कुछ सूझता न होगा, तब तुम काली कसौटी पर स्वर्णकी रेखा-सी चमकने वाली अपनी प्रिया सौदामनी (बिजली) को सहसा चमकाकर उनको राह दिखा देना। पर देखो, कहीं गरज-बरस न पड़ना, नहीं तो वे भयसे व्याकुल हो उठेंगी।

'कुमारसंभव' (१, १४) का एक स्थल अभिसार-विलासका सरस उल्लेख करता है। हिमालयका वर्णन करते हुए कवि कहता है कि गुफाओं में जब किंपुरुष अपनी किन्नरियोंके साथ रमण करते हैं तब निरावरण हो जानेके कारण प्रियाओंको स्वाभाविक ही बड़ी लाज लगने लगती है। तब मेघ उनकी वह लाज अपने तनसे ढकते हैं। उड़ते हुए आकर गुफाके द्वार पर अटक जाते हैं, जैसे पर्दा बन कर वहाँ टँग गये हों—

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किम्पुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥

मान—

खण्डिता नायिका मान करती है। उस मानका भंजन पतिके अनेक प्रकारके अनुनयों, चरणों पर सिर आदि रखनेसे होता है। मान और उनके भंजनके अनेक प्रसंग कालिदासने अपनी कृतियोंमें व्यक्त किये हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में इरावती अग्निमित्रसे मान करती है। कविने उस मानिनीका रूप इस प्रकार खींचा है—

भ्रूभङ्गभिन्नतिलकं स्फुरिताधरोष्ठं
सासूयमाननमितः परिवर्तयन्त्या ।
कान्तापराधकुपितेष्वनया विनेतुः
सन्दर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा ॥४, ६॥

मानके कारण उसका चेहरा विकृत हो गया है—तेवर चढ़ जानेसे तिलक बँट गया है। अधर और होंठ फड़क रहे हैं, ईर्ष्यासे उसने अपना मुँह नीचे करके घुमा लिया है। उसकी इन चेष्टाओंसे लगता है कि पतिके अपराध पर कोप करनेकी जो शिक्षा उसे मिली है उसे वह ललित अभिनय द्वारा प्रगट कर रही है।

उसी नाटकके उसी अङ्कके पन्द्रहवें श्लोकमें मानके तीव्रतर रूपका

उद्घाटन हुआ है। राजा रानीके कोपसे परेशान है पर मनानेके बहाने उसके अंगांगोंके स्पर्शसे रोमांचित होनेसे नहीं चूकता—

हस्तं कम्पयते रुणद्धि रशनाव्यापारलोलाङ्गुलीः
स्वौ हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमानाबलात् ।
पातुं पक्ष्मलनेत्रमुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥

हाथ कँपा रही है, खुलकर गिरती हुई तागड़ीको लोल उँगलियोंसे सँभालती जा रही है, और जो बलपूर्वक उसका आलिंगन करना चाहता हूँ तो वह अपने दोनों हाथ उठाकर उनसे स्तनोंको ढक लेती है। इसी प्रकार जब इसकी लम्बी पलकों वाली आँखोंको चूमनेके लिए इसका मस्तक उठाता हूँ तब यह अपना मुँह फेर लेती है। इन सारी बातोंके बावजूद इस बहाने भी मेरी अभिलाषा एक प्रकारसे पूरी हो ही जारही है।

मानका एक प्रकारका व्रत भी हुआ करता था जिसे पतिको अपराधी समझकर भी भार्या उसके प्रसादन या परस्पर प्रणयके पुनरावर्तनके लिए करती थी। इस प्रकारके मान-व्रतका वर्णन कविने अपने 'विक्रमोर्वशीय' के तीसरे अंकमें किया है—

सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा
पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका ।
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना
मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते ॥१२॥

धवल वसन पहने हुए है (रंगीन वस्त्र दूर कर दिये हैं), सधवाके लिए जितना पहनना आवश्यक है बस उतने ही मंगलमात्र आभूषण पहने हुए है, अलकोंमें पवित्र दूबके अंकुर खोंस रक्खे हैं, व्रतके बहाने मान छोड़कर वह मुझपर प्रसन्न हो गई है। राजा अपनी ऐसी प्रियाके निकट जा अत्यन्त मधुर शब्दोंमें आकर्षक विनीतभावसे कहता है—

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।
प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ॥१३॥

कल्याणि, इस ज़रा-सी बातके लिए भला अपना यह कमल-कोमलगात अकारण गला रही हो ! सोचो तो सही जो स्वयं तुम्हें प्रसन्न करनेको उत्सुक है उस तुम्हारे दासको क्या तुम्हें प्रसन्न करनेकी आवश्यकता है ?

रूप-सौन्दर्य—

सौन्दर्यका अधिष्ठान शरीर है, रूप वह आकृति है जिसमें सौन्दर्य गठता है । रूप और सौन्दर्यका कविने साधारणतः एक ही अर्थमें प्रयोग किया है । 'मेघदूत' (उत्तर)में सौन्दर्यकी परिभाषा और आदर्श एक साथ रखते हुए उसने यक्षके शब्दोंमें यक्षीके रूपका वर्णन किया है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥२२॥

छरहरी, सलोनी, कोटिमन्त दाँतोंवाली, पके कदम्ब-फलके-से लाल होठों-वाली, दुबली कटिवाली, डरी मृगीकी-सी आँखोंवाली, गहरी नाभिवाली, भरे नितंबोंके कारण आलसपूर्वक धीरे चलनेवाली, स्तनोंके भारसे तनिक आगेको झुकी हुई—मतलब कि युवतियोंके सम्बन्धमें जो कुछ भी सृष्टिमें सुन्दर है उसकी निचोड़-सी । यह भारतीय सौन्दर्यका आदर्श रूप हैं । कुछ वस्तुओंके परिमाण होते हैं, हो सकते है । सौन्दर्यके दो रूप हैं, एक तो यही जो आदर्श रूप है जिसमें शारीरिक अंगांगोंके आकारादि नियत होते है । यह सौन्दर्यका नखशिख है, पर इससे यह कुछ आवश्यक नहीं कि ऐसा रूप आकर्षक ही हो । एक प्रकारका रूप ऐसा भी होता है जिसमें आकृ-

तियोंकी यह मान-मर्यादा नहीं होती पर वह रूप ऐसा मनहर होता है जो मनको मथ देता है। उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। उसे लाक्षणिक रूपसे 'लावण्य' कहा गया है। लावण्य स्वादका द्योतक है, लवणका, जो विना चखे नहीं बताया जा सकता। इससे इसकी परिभाषा नहीं हो सकती।

रूपका फल प्रियकी नज़रोंमें उठ आना है, उसे रिझा लेना। अपने आपमें रूप कोई अर्थ नहीं रखता। आकर्षण उसका प्रभाव है और उससे यदि प्रिय न रीझा तब वह निरर्थक हो जाता है। इसीसे जब सौन्दर्यकी पराकाष्ठा उमा शिवके पास जाती है और अपने प्रयासके बावजूद उन्हें आकृष्ट नहीं कर पाती, उल्टे वे कामको ही जलाकर भस्म कर देते हैं तब वह रूपकी निन्दा करने लगती है, सौन्दर्य उसे बोझ-सा लगने लगता है—

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥५,१॥

वस्तुतः रूप और सौंदर्यका उद्देश्य कविने चरित्रोंका उन्नयन माना है। एक रूप होता है जो कर्तव्य-मार्गसे, औचित्यसे गिराता है, कामको और प्रेरित करता है, दूसरा वह होता है जो जिसे छूता है उसे पवित्र कर देता है, स्वयं तो वह पवित्र है ही। इसीसे तपके बाद पार्वतीसे शिव कहते हैं—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥३६॥

यह जो कहा जाता है, पार्वती, कि रूप पापकी ओर प्रवृत्त नहीं करता (नहीं खींचता) वह मिथ्या नहीं है। तुम्हारे शीलसे तो तपस्वी भी उपदेश ले सकते हैं। सो रूप एक प्रकारका शील या संयत आचरण भी रूपवालों और उसके देखनेवालोंमें उत्पन्न करता हैं। उन्नयन उसका कल्याणकर प्रभाव है।

पार्वतीके रूपका कालिदासने समुचित और सविस्तर वर्णन किया है।

(कुमारसंभव, प्रथम सर्ग) । कैशोर अपनी ग्रंथि तोड़ यौवनकी परिधि भेद गया है और रूपलावण्य अत्यन्त रुचिर और अवर्ज्य हो उठा है—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥३२॥

जैसे वर्णमय तूलिकाके स्पर्शसे चित्र खिल उठता है, जैसे सूरजकी किरणोंका स्पर्श पाकर कमल खिल उठता है, वैसे ही नवयौवनका स्पर्श पाकर उमाका शरीर चारो ओरसे आकर्षक हो उठा ।

सा राजहंसीरिव सन्नताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु ।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि ॥३४॥

यौवनका भार आलसमें गति उत्पन्न करने लगा, गति राजहंसीकी भाँति शिथिल मंथर हो चली । तनिक झुकी हवभावसे भरी उमा जब चलती तब नूपुरोंकी मधुरध्वनि धीरे-धीरे पसर चलती और लगता कि हंसोंने उनका उन्मादक स्वर सीखनेके बदले पहले ही उमाको अपनी चाल सौंप दी हो ।

अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥३३॥

उमाके चलनेमें असाधारण आकर्षण था । पैरके उठे हुए अंगूठोंके नखोंसे अपूर्व ज्योति फूटती थी । लगता था कि चरण उनके द्वारा ललाई उगलते जा रहे हैं, जैसे उन्हें उठा-उठाकर रखते समय उमा पग-पगपर स्थल-कमल खिलाती जा रही हों ।

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥३८॥

नई सूक्ष्म रोमरेखा जो ऊपर चढ़ती हुई गहरी नाभिमें खो गई थी इससे लगता था कि नीवी (नाड़ा) और तागड़ीके बीच जड़ी मणि अपनी नीली ज्योति फेंक रही हो ।

मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥३६॥

क्षीण कटिवाली वह बाला अपने मध्यभागमें सुन्दर त्रिवली (तीन रेखाएँ) इस प्रकार धारण करती थी कि लगता था, नवयौवनने उरोजों आदिकी ऊँचाई चढ़नेके हेतु कामदेवके लिए सीढ़ियाँ गढ़ दी हों ।

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥४०॥

कमलनयनीके दोनों स्तन जवानीके आलमसे पीले और बड़े होकर एक दूसरेसे इतने सट गये कि चूचुककी श्यामता लिए उनके बीच एक कमलका सूत तक नहीं रखा जा सकता था । गुप्तकालीन मूर्तियोंमें इसी प्रकारके पीनस्तनोंकी महिमा है । उस कालकी सौंदर्योपासना भारी स्तनोंकी प्रशंसा करती थी । कविकी यह कल्पना कि स्तनोंके बीच इतनी भूमि खाली न रह गई थी कि वहाँ मृणालतन्तु (कमलकी डंडी तोड़नेपर जो सूत दिखाई देता है) तक रखा जा सके सुखकर है । अन्यत्र भी उसने अपने इस वक्तव्यको दुहराया है । दुष्यन्त शकुन्तलाका चित्र बना रहा है, फिर अपने विदूषक मित्रके पूछनेपर कि अब बनाना शेष क्या रहा, वह कहता है—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
[मृ]णालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥शाकु० ६, १८॥

सखे, अभी गालोंपर बिखरी केसरवाले सिरसके फूल कानोंपर रचने हैं । स्तनोंके बीच चन्द्रमाकी किरण-सा कोमल कमलसूत्र रचना भी अभी शेष ही है । मृणालसूत्रकी उपमा चन्द्रमरीचियोंकी कोमलतासे देना स्तुत्य है जो स्तनोंकी पीवरता और परस्पर पीड़नकी मर्यादा कायम रखता है ।

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमिवाप लक्ष्मीः ॥४३॥

अबतक लक्ष्मीको बड़ी परेशानी थी क्योंकि जब वह रातमें चन्द्रमाके पास जाती कमलसे वंचित रह जाती और जब दिनमें कमलमें रमती तब चन्द्रमा से बिछुड़ जाती। पर अब जो उसने उमाके मुखका आश्रय किया है तो उसे चन्द्रमा और कमल दोनोंके सुख-स्वाद मिलने लगे हैं। यह व्यतिरेकालंकार खूब ही बन पड़ा है। मधुर वैदर्भीमें कविने थोड़ेमें अधिकाधिक भाव भर दिये हैं।

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥४७॥

लगता था जैसे उसकी लंबी धनुषाकार भौंहें किसीने अंजनभरी कूँचीसे लिख दी हों। उनका बंकिम सौन्दर्य देख कामदेव अपने धनुषका घमंड भूल गया।

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥४८॥

यदि पशु-पक्षियोंमें लज्जा होती तो पार्वतीके अतीव सुन्दर केश-पाशको देखकर चँवरियाँ लजा जातीं।

ऐसा रूप देख कर ठगा-सा रह जाना स्वाभाविक है। इसीलिए तो उमाका शृंगार करने वाली प्रसाधिकाएँ प्रसाधनका सारा सामान लिये चकित रह जाती हैं, सन्नाटेमें आकर बजाय उसका मंडन द्वारा रूप सँवारने के चुपचाप उसे देखती रह जाती हैं।

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरोनिषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥७,१३॥

उस उमाको पूरब मुँह बैठा कर सामने स्वयं बैठी प्रसाधन करने आयीं स्त्रियाँ उसकी छविसे छक अपनी सुध-बुध खो बैठीं। नेत्रोंसे उसका सौन्दर्य

पीती हुई उन्होंने विसार दिया कि किस कार्यके लिए वे उसके सामने बैठी हैं। प्रसाधनकी सामग्री पास जो पड़ी थी पड़ी ही रह गई। ऐसे स्वाभाविक रूपको कोई भला कृत्रिम साधनोंसे बढ़ा सकता है? इसीसे तो कालिदास अन्यत्र 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में, शकुन्तलाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१, १७॥

कमल सिवारसे लिपटा होने पर भी सुन्दर लगता है, चन्द्रमाका कलंक उसकी शोभाको ही बढ़ाता है, यह तो वल्कल पहनकर और भी आकर्षक लगती है। अरे, बात तो यह है कि सुन्दर आकृतिवालोंके लिए क्या चीज़ शृंगार नहीं बन जाती?

उमाका सौन्दर्य देखकर उसकी माता भी मोह वश जड़ हो जाती है। कोई काम उससे सही-सही नहीं हो पाता, तिलक कहींका कहीं लगा देती है, कौतुकसूत्र कहींका कहीं बाँध देती है—

अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च।
कर्णावसक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं मुखमुन्नमय्य ॥कुमार०७,२३॥

उमास्तनोद्भेदमनु प्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं बभूव।
तमेव मेना दुहितुः कथञ्चिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ॥२४॥

बबन्ध चास्राकुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसन्निवेशाम्।
धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम् ॥२५॥

अपने ऐसे सम्मोहक रूपका स्वयं उमाको गुमान तक न था। पर एकाएक जो उसने अपना प्रतिबिम्ब दर्पणमें देखा तो उसकी आँखें भी उसे अपलक निहारने लगीं। और तब सहसा उसे प्रिय शिवकी याद आ गई, शिवके पास पहुँचनेके लिए उसका मन विकल हो उठा, जल्दी मचाने लगा।

क्योंकि रूपकी, विशेषकर प्रसाधित रूपकी, सार्थकता इसीमें है कि प्रिय सौन्दर्यको एक नज़र देख ले—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥२२॥

शुद्ध, प्रेमसे अछूते रूपकी प्राप्ति कविने अखंड पुण्योंके उदयसे मानी है । उस रूपकी व्याख्या 'अभिज्ञान शाकुन्तल' (अङ्क २ श्लोक १०) में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तलाको पहली बार देखने पर इस प्रकार हुई है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

यह विना सूंघा फूल, नखोंसे अछूता विना तोड़ा नवपल्लव, विना छेदा यह रतन, बगैर चखे नवरसकी यह मधु, पुण्योंका यह विना भोगा फल किस भाग्यवान भोक्ताके लिए विधाताने रख छोड़ा है, नहीं जानता ।

ऐसा रूप भी अनेक बार उपेक्षित हो जाता है, जैसे शकुन्तलाका हो गया था, जैसे स्वयं उमाका । उमाको उस रूपकी स्वीकृतिके लिए उसके भोक्ताके लिए तप करना पड़ा, कठिन तप, तब उसी तपकी यह महिमा थी कि फिर शिव स्वयं उमाके दास हो गये । साक्षात् उपस्थित हो उन्होंने उमासे कहा—

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥कुमार०,५,८६॥

'पार्वति, आजसे मैं तुम्हारा दास हुआ, अपने तपसे खरीदा हुआ दास ही मुझे जानो' । चन्द्रमौलि शिवके इस प्रकार कहने पर पार्वतीने तपका

सारा क्लेश तत्काल भुला दिया। तपसे क्लेश होता निश्चय है पर उसका फलोदय साधकको फिर नवता प्रदान कर देता है। साधना जब पूरी होती है तब उसके क्रममें सही कष्ट फिर खलता नहीं। यह कालिदासने प्रणयकी विविध परिस्थितियाँ और प्रक्रियाओंमें अन्तर किया है, हमें सावधान किया है कि किस विधिसे जीता हुआ प्रेम श्रेयस्कर होता है। एक दुष्यन्त-शकुन्तलाका एकान्तमें छिपकर साधा हुआ प्रेम है जिसके फलस्वरूप गान्धर्व-विवाह गुरुजनोंकी चिन्ता और आक्रोश (शार्ंगरव, शारद्वत, गौतमीके) का कारण बनता है और जो शकुन्तलाके अपमान और विरह-जनित तप और व्रत तथा दुष्यन्तके विरहाकुल पश्चात्तापके बाद ही दाम्पत्य सुखमें परिणत होता है। दूसरे प्रकारका प्रेम उमा और शिवका है। अपने रूपको अवर्ज्य मान जब उमा गर्वसे उमगती काम और वसन्तके योगसे समाधिस्थ शिवकी विजयके लिए निकलती है तब वह हार जाती है, काम शिवके कोपसे भस्म हो जाता है और वसन्त सखाविरहित। स्वयं पार्वती तब दुखी होकर अपने तुच्छ रूपकी निन्दा करती लौटती है। पर जब वह कठोर तपसे बड़े-बड़े तपस्वियोंका घमण्ड चूर कर देती है और अपनी काया डाहकर 'अपर्णा' बनती है तब कहीं उसकी विजय होती है और उसका इष्ट फलता है। शिव स्वयं उपस्थित होकर उसका दास होनेकी घोषणा करते हैं और प्राजापत्य विवाहसे दोनों दाम्पत्यमें 'सहधर्मचरणाय' बँध जाते हैं। विलास दोनोंमें है, गान्धर्व और प्राजापत्य दोनोंमें, पर एक का वह आधार है दूसरेकी परिणति।

काम—

कामका साधारण अर्थ तृष्णा है पर भारतीय विश्वास और साहित्यिक परम्पराने उसे देवताका पद दिया है। देवता ऐसा जो व्यक्तिको कमनीय वासना और विषयोंकी ओर ले जाता है। आसक्तिका उदय उसीके संयोगसे माना जाता है, इसीसे उसकी धर्ममें भी बड़ी महिमा है। स्वर्गका वह भी

देवता है, देवराज इन्द्रका सहचर। देवताओंको बार-बार अपने अर्थसाधन के लिए उसकी सहायता लेनी पड़ी है। प्रजाकी उत्पत्तिके लिए कामना और मोहका होना आवश्यक है, इससे कामदेव कल्याणकर भी माना जाता है, वरना शिव ही उमाको ब्याहकर कुमारका प्रजनन कैसे करते? फिर तारकासुरका संहार कैसे होता? पर हाँ, उसकी अतिसेवा भी अत्यन्त मारक होती है। उसीके योगसे कार्य करने वाले अतीन्द्रिय प्रनष्ट हो जाते हैं (*इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः*)। इसीसे बौद्ध धर्ममें बुद्ध द्वारा मार-विजयकी बड़ी महिमा है, इसीसे कालिदासने भी अपने 'कुमारसंभव' का तीसरा समूचा सर्ग कामकी ही प्रक्रियाओंके सम्बन्धमें रचा है और चौथा भी उसीकी विरहित पत्नी रतिके विलापसे सम्बन्धित है। उस प्रसंगमें भी बुद्धकी ही भाँति शिवने भी कामको भस्म कर दिया है। पर यह तो केवल 'युक्ताहारविहार' की परम्परा बाँधने वाला शुचिकर स्मार्त मार्ग ही है। मदन कभी मरता है? मर सकता हैं? शिवने उसे भस्म करके 'अनंग' कर दिया, पर अशरीरी तो वह सदासे रहा है। वह तो मनमें पैठकर उसे मथता रहता है जिससे उसका एक नाम 'मन्मथ' भी पड़ा है। काम शृंगारका परम पोष्य है, परन्तु इष्ट और शृंगार-साधनामें उसीका साका चलता है। संस्कृत साहित्य कामकी स्तुतिसे भरा पड़ा है। धार्मिक साहित्य तकमें इन्द्र द्वारा ऋषियों-राजाओंके तपके नाशका प्रयास काम द्वारा ही होता है। स्वयं कालिदासने असंख्य बार छोटे-बड़े प्रसंगोंमें उसका स्मरण किया है। अनेक स्थल तो पर्याप्त व्यापक हो उठे हैं। 'कुमारसंभव' के तीसरे और चौथे सर्गोंमें तो वह प्रायः सर्वेसर्वा है। उसकी एकाध झलक इस प्रकार है—

अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं
रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः
शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥२,६४॥

संसारके सभी साहित्योंने कामदेवको रूप और अस्त्र दिये हैं पर संस्कृत की परंपराने जैसी उसे वेषभूषा दी है वह अनूठी है, नितान्त मृदु पर नितान्त प्राणहर भी। वह राजा है, वसन्त उसका सखा है, कोयल उसके वैतालिक हैं, संदेशवाही चारण। कमल या ईख उसके धनुषकी डण्डी है, उस धनुषकी डोरी भौरोंकी पाँत है, समूचा धनुष ही उसका फूलोंसे बना है जिससे उसका 'पुष्पधन्वा' नाम सार्थक होता है। पाँच कल्प-तरुओंके फूल उसके वाण हैं जिससे वह 'पंच-सायक' भी कहलाता है। उसी कन्दर्पको ब्रह्माकी सलाह मान इन्द्रने शिव पर उसका जादू डालनेके लिए बुलाया। और वह काम जो युवतियोंकी भौंहोंके समान सुन्दर धनुष धारण करता है, उस धनुषको अपनी पत्नी रतिके कंगनसे चिह्नित गलेमें लटकाये, अपने सहचर वसन्तके करमें कर डाले, अनेक बौरोंका अस्त्र रक्खे इन्द्रके स्मरण करते ही हाथ जोड़े आ पहुँचा। इन्द्रके, 'आओ, यहाँ बैठो,' कहकर पास बिठा लेने पर उसने इन्द्रकी कृपाका उत्तर दिया। फिर उनके गोपनीय कार्योंका साधक होनेके रहस्यमय वाणीमें उनसे बातचीत करने लगा। उसने पूछना शुरू किया—

आज्ञापय ज्ञातविशेष पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति।
अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितमाज्ञया ते ॥कुमार०३,३॥

हे सर्वज्ञ, आज्ञा करो, तीनों लोकोंमें तुम्हें क्या करना अभीष्ट है ? मुझे याद करके आपने मुझपर जो अनुग्रह किया है मैं उसे आपका करणीय संपादन कर और बढ़ाना चाहता हूँ।

केनाभ्यसूया पदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः।
यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्यास्य निदेशवर्ती ॥४॥

कौन है वह जन जिसने नितान्त दीर्घ तप द्वारा इन्द्रपदकी कामना कर आपके मनमें ईर्ष्या उत्पन्न कर दी है ? बता दें जिसे इस चढ़े धनुषसे जीत उसे आपका आज्ञाकारी बना दूँ।

असम्मतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः ।
बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः ॥५॥

कौन है भला वह आपका शत्रु जो पुनर्जन्मके भयसे मुक्तिमार्गकी साधना करने लगा है ? बताएँ कि मैं उसे भ्रूविलासमें निपुण सुन्दरियोंके कटाक्षोंसे चिरकालके लिए बाँध दूँ ।

अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते ।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः ॥६॥

आपका वह शत्रु चाहे शुक्राचार्यसे ही नीति क्यों न पढ़कर आया हो मैं आसक्ति रूपी दूतको उसके पास भेजूँगा जो उसके अर्थ और धर्मका वैसे ही नाश कर देगा जैसे बढ़ी हुई नदीकी धारा तटोंको बहा ले जाती है । केवल बता दें कि वह शत्रु कौन है ।

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ॥७॥

बोलो, किस कठिन सतीधर्मको निभानेवाली पतिव्रतामें तुम्हारा चंचल मन रम गया है ? जो उस नितम्बिनीकी इच्छा हो तो ऐसा करूँ कि वह लज्जा तज कर स्वयं अपनी भुजाएँ तुम्हारे कंठमें डाल दे । तीन प्रकारकी नायिकाओं—स्वकीया, परकीया, साधारणी—में से इस पहली स्वकीयाको लक्ष्य कर काम कहता है जिसको, पतिव्रता होनेके कारण, जीतना बड़ा कठिन होता है । आगे परकीयाकी ओर संकेत है—

कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधूतः ।
तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम् ॥८॥

हे कामी, कौन वह नारी है जो आपसे सुरत न पाकर खिझी बैठी है और पैरों पर तुम्हारे सिर रखनेसे भी मान नहीं छोड़ती ? बताओ तो उसके मनमें ऐसा पछतावा भरूँ कि वह शीघ्र तुम्हारे कोमल पत्रशय्याकी शरण हो जाय ।

प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
बिभेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताधराभ्यः ॥९॥

प्रसन्न हों, वीर, अपने वज्रको विश्राम दें । मुझे बस बता दें कि वह कौन असुर है जो मेरे बाणोंसे इतना वीर्यहीन हो जाना चाहता है कि उसे कोपसे फड़फड़ाते होठोंवाली नारी तक डरा दे, कि वह सर्वथा दीन हो जाय ।

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥१०॥

तुम्हारी कृपासे मैं अपने कुसुमके वाणोंसे ही केवल वसन्तको साथ लेकर स्वयं पिनाकधारी शिवका धैर्य छुड़ा सकता हूँ, और धनुर्धरोंकी तो बात ही क्या ? इन्द्रने करणीय बता दिया—शिवके हृदयमें उमाके लिए मोहका संजनन । काम चला गया । अपने सखा वसन्तके साथ फिर वह उस वन-स्थलीमें पहुँचा जहाँ शिव समाधि लगाये वीरासनमें बैठे थे । शरीरके सारे द्वारोंको बन्दकर वह महायोगी भीतरके पवनोंको रोककर निष्कम्प दीपकी भाँति निश्चल थे । और जिस लतागृहमें वह बैठे थे उसके द्वारपर नन्दी खड़ा होठोंपर उंगली रक्खे गणोंको शान्त करनेका आदेश कर रहा था ।

दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे ।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥४३॥

सम्मुख शुक्रग्रहकी दृष्टि बचा जानेवाले यात्रीकी तरह नन्दीकी दृष्टि बचाकर नमेरुकी शाखाओंसे ढके ध्यानस्थ शिवके उस स्थानपर काम छिपकर जा बैठा । सहसा वनस्थलीमें वसन्तका प्रवेश हुआ । वनस्थली वसन्तके फूलोंसे भर गई, चराचर मदमें विभोर हो वसन्तोचित क्रीड़ा करने लगा । पर शिवकी समाधि जैसे अखंड थी । उसमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं पड़ा । कन्दर्प पास ही नमेरु वृक्षपर आसन जमाये चुपचाप देख रहा था । अब जो

उसने मनसे भी अधृष्य उस शिवका तेज देखा तब वह सन्न हो गया। उसकी दशा इतनी दयनीय हो गई कि उसने यह भी न जाना कि उसके हाथसे सरककर कब धनुष-बाण भूमिपर गिर पड़े—

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥५१॥

उसी समय पार्वती भी वसन्तके पुष्पाभरणोंसे सजी शिवके दर्शनको आई। उसके अनिन्द्य रतिको भी लजा देनेवाले रूपको देखकर कामदेवके मन में फिर जितेन्द्रिय शंकरपर प्रहार कर सकने और देवकार्य सिद्ध होनेकी आशा जगी। उसने फिर अपना धनुष उठा लिया—

तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम्।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे ॥५७॥

उमाने शिवको प्रणामकर आशीर्वाद पाया। अब कामने फतिंगेकी भाँति अग्निमें प्रवेश करनेकी इच्छासे धनुष चढ़ा लिया। पार्वतीने मन्दाकिनीमें होनेवाले पद्मोंके बीजोंकी माला शिवको समर्पित कर दी। तभी अवसर आया समझकर कामने अपने धनुषपर संमोहन नामका अमोघ बाण चढ़ा लिया।

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥६७॥

फिर तो जैसे चन्द्रमाके उदय होनेसे समुद्रमें हलचल मच जाती है वैसे ही शिवका धैर्य भी तनिक छूट गया। उन्होंने उमाके कदम्ब फलके-से लाल होठों वाले मुख पर अपनी आँखें लगा दीं। उनके मनमें कामना जगी। उधर उमामें भी उसी प्रकारका भाव संचार हुआ। उसने कदम्बके फलके-से पुलकित तनसे प्रफुल्लित भावभंगिमा प्रदर्शित की। स्वभावसुन्दर लजीले लोचनोंको और भी सुन्दर कर मुँहको ज़रा तिरछे कर कटाक्षकी मुद्रामें खड़ी हुई—

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥६८॥

इसी बीच सफल इन्द्रियवशी होनेके कारण अपनेको सँभाल शंकरने अपनी अस्थिरताका कारण जाननेके लिए दिशाओंमें दूर तक अपनी दृष्टि फेंकी—

अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य ।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम् ॥६९॥

और तब उन्होंने देखा—

स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥७०॥

दाहिनी आँखकी ओर तक मुट्ठीसे धनुषकी डोरी खींचे दाहिना कन्धा झुकाये, बायाँ पैर मोड़े, धनुष चक्राकार (गोला) किये काम उनपर बाण छोड़ने ही वाला है। फिर क्या था, फिर तो तपमें बाधा पड़नेसे उनका क्रोध सहसा भड़क उठा। उन चढ़ी भौंहोंके बीच उनका तीसरा नेत्र खुल पड़ा और उससे लपटें निकलने लगीं—

तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ॥७१॥

फिर तो ग़ज़ब हो गया, जैसे प्रलय मच गई, और अभी आकाशमें देवताओंकी आवाज़ गूँज ही रही थी—प्रभो, अपना क्रोध लौटाओ ! क्रोध लौटाओ !—कि शिवके तीसरे नेत्रसे निकली उस आगने मदनको जलाकर भस्म कर डाला—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥७२॥

इसका भयानक प्रभाव दो जनों पर पड़ा—कामदेवकी पत्नी रति पर और पहले आशासे भरी अब निराशाकी मारी पार्वती पर। स्वयं भूतनाथ तो

नारियोंका संसर्ग छोड़नेके लिए अपने गणोंके साथ सहसा अन्तर्धान हो गये। उधर,

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्त्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥७३॥

अपनी इस विपत्तिके प्रभावसे मोहसे रतिकी इन्द्रियाँ स्तंभित हो गईं, उसने संज्ञा खो दी। पर इस प्रकार बेहोश हो जानेसे उसका उपकार ही हुआ क्योंकि क्षणभरके लिए पतिकी मृत्यु उसे भूल गई। और उमाकी दशा कैसी हुई ?

शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं
व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा
शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथञ्चित् ॥७५॥

उसे लगा कि उसके पिताकी महान् अभिलाषा, कि उसे शिव वर मिलें, और अपना सुन्दर तन दोनों निष्फल हो गये, व्यर्थ। सखियोंके आगे उसकी लज्जा और भी घनी हो गई, उसका अन्तर जैसे सर्वथा सूना हो गया और उस सुन्न शरीरको घसीटती वह पिताके भवनकी ओर चली। पिताने पुत्रीकी यह दीन दशा देखी और तत्काल आकर सम्हाला। जैसे ऐरावत कमलिनीको दाँतोंसे उठा लेता है वैसे ही गिरिराजने शंभुके क्रोधसे डरी आँखें बन्द किये अपनी कन्याको भुजाओंमें झट उठा लिया। और दीर्घाकार शरीर करते जिधरसे आये थे उधर ही वेगसे चले गये—

सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या
दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम् ।
सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां
प्रतिपथगतिरासीद्वेगदीर्घीकृताङ्गः ॥७६॥

इन पाँच-छः श्लोकोंमें कविने परस्पर विरोधी भावोंका विलक्षण समा-

वेश किया है। अत्यन्त नाज़ुक स्थितिका गज़बका निर्वाह किया है। न क्रोधका इतना यथार्थ व्यापक वर्णन कहीं देखनेको मिल सकता है, न दबी हुई भावी करुणाका, न सूने अन्तरके सन्नाटेका, न पिताकी अद्‌भुत गंभीरता का। इतनी सारी परस्पर विपरीत परिस्थितियोंका एक संसार ही क्षण भरमें खड़ा हो गया और उनके शालीन पर्यवसानके साथ ही कविने अपने काव्यका सर्ग समाप्त कर दिया है। उसके बादका प्रवाह करुण है, नितान्त करुण, जो अपना बाँध तोड़ अनिरुद्‌ध बह चलता है और रतिके अशुच विलापसे दिगन्त भर उठता है। पर अभी इस सर्गमें, इस भयानक प्रसंगमें, उसके लिए स्थान नहीं है।

आलीढ़ मुद्रामें धनुषको चक्राकार किये बाण सन्धाने कामको देख शिवका जब क्रोध भड़कता है तब वह मुद्रा असह्य हो उठती है—बड़े तेवरोंके बीच तीसरा नयन खुल पड़ता है और उससे आगकी लपटें निकल पड़ती हैं। उनका अनियंत्रित वेग इतना है कि भयातुर देवताओंकी विनती अभी सस्वर भी न हो पाती, उसकी गूँज अभी पवनके पंखों पर ही है, कि कामका काम तमाम हो जाता है, उसका शरीर जलकर भस्म हो जाता है, राखका अवशेष मात्र रह जाता है। भयावह संहारक क्रोधका इतना तीव्र व्यापार कहीं देखनेमें नहीं आता और कभी कविने इतने थोड़े शब्दोंमें इतना वेग नहीं भरा, इतने छोटे पदों द्वारा इतना विस्तृत दृश्य पाठकके दृष्टिपथमें नहीं फेंका। 'क्रोधं प्रभो संहर-संहर !' का चमत्कार असाधारण है। संसारका नाश हो जानेके भयसे देवता चिल्ला उठते हैं—रोको, क्रोध अपना, प्रभु, रोको! पर क्रोध अब प्रभु क्या रोके ? अब तो वह उसके रोके भी नहीं रुकने का। उसने तो अपना काम क्षणभरमें कर लिया—कामको क्षार कर दिया—और उधर अभी आकाशमें देवताओंके कुहरामकी प्रतिध्वनि गूँज ही रही है !

रति रो नहीं पाती। जड़ हो जाती है। बहती हुई करुणा चेतनाकी प्रतीक है, समझकर विलखनेकी, अपनी हानिके प्रति ज्ञान रखने की। पर

चोटकी शक्ति तो आहतको सुन्न कर देनेमें है। सो रति विगतचेष्टा हो जाती है, संज्ञाहीन, जैसे सीता 'रघुवंश' में लक्ष्मण द्वारा रामकी आज्ञा सुननेपर हो जाती है। पहले ज्ञानेन्द्रियपर जड़ता छा जाती है फिर जब धीरे-धीरे चेतना लौटती है तब सीता और रति दोनों अपने-अपने प्रसंगमें कुररीकी नाईं रो उठती हैं। यही हाल अपने प्रसंगमें इन्दुमतीके निधनपर राजा अजका होता है, पहले मोह या बेहोशीकी जड़ता, फिर विलाप।

ऐसी ही जड़ उमा है। वसन्तका आलम, पुष्पधन्वाके कृतीत्वमें विश्वास, और उससे भी बढ़कर अपने भुवनमोहन रूपका गर्व। आशाओंकी जैसे उसमें बाढ़ आ जाती है। फिर शिवका उसे देख लेना, उसकी भेंट स्वीकार कर लेना, उसे *'अनन्यभाजं पति'* पानेका आशीर्वाद देना, सभी ऐसे हैं कि उसका मानस आनन्दसे थिरक उठता है। सहसा वज्रपात होता है और उसकी साधोंमें आग लग जाती है। शिवका क्रोध, उसके लिए जो सिर्फ सुन्दर कल्याणकर मधुर गिरा सुननेकी आदी है, अजानी क्रिया है। पर यही इति नहीं है, उसे उसका अशौच भी देखना पड़ता है, काम—उसके रूपके प्रेरक—का निधन निश्चय और अशौच है। जहाँ उसने शुभकी, भावबन्धन प्रेमकी परिणति विवाहकी आशा की थी वहाँ अशुभ छा गया। फिर उधर पतिविरहिता लुप्त-संज्ञा रति। इन क्रोध-विषाद-निष्फलताके भावोंकी मारी उमा अपनी संज्ञा भी खो बैठी। गिरी नहीं, बेहोश नहीं हुई, पर उसका अन्तर सहसा सुन्न हो गया, भावोंका व्यापार, उनका स्पन्दन-संचरण बन्द हो गया। अपनेको वह लज्जासे भरी—सखियोंकी उपस्थितिके कारण और—चुपचाप घरकी ओर घसीटती चली।

पर उमाके निरर्थक विषादका इलाज भी कविने किया। उसके पिताको घटनास्थलपर भेज दिया—माताको नहीं, क्योंकि माता उस दुःखको नहीं सह पाती, उसका विषाद स्वयं कन्यासे भी बढ़ जाता, भारी वातावरणमें करुणा रूपी माताका ममत्व जब उमड़ता तब कहनेको कुछ नहीं रह

जाता। आवश्यकता थी इस स्थितिमें हिमालयकी तरह अचल गाम्भीर्यकी, उन्नत शालीनकी, जो पत्थरकी तरह कठोर होकर चोटको अपने ऊपर ले ले, और जो आकारमें भी वैसा ही हो जैसा पद्मिनीके सामने ऐरावत, जो दाँतोंपर नलिनीकी तरह, वराह बन पृथ्वीकी तरह उसे अनायास उठा ले। पिता हिमालयके आश्रयमें ही कवि इस दयनीय स्थितिमें अपनी नायिका उमाको छोड़ सकता था, सो उसने शान्त शालीन गम्भीर गिरिराजको ला खड़ा किया और वह अपनी विशाल भुजाओंमें अपनी कन्याको उठाये लम्बे-लम्बे नीरव डग भरता रक्षकके आत्मविश्वाससे अपने ऊँचे हिमालय-शरीरको और ऊँचा कर रक्षित कन्याको आश्वस्त करता चुपचाप चला गया। आकाश स्तब्ध था, दिशाएँ नीरव थीं, वाणीके लिए अवसर न था, सर्ग बन्द हो गया।

मधुर-वर्णन—

वैसे तो कालिदासका काव्य स्वभावतः मधुर है और प्रायः सभी श्लोकोंमें कोई न कोई चमत्कार होता ही है, फिर भी कुछ श्लोक अलग से 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्गसे दिये जाते हैं। प्रसंग उमाका शिवसे पहली बार मिलनेका है। शिव समाधिमें बैठे हैं और उमा अपनी सखियोंके साथ उनके दर्शनको फूलपत्र लेकर जाती है। कवि पहले उनकी चालका वर्णन करता है—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥५४॥

स्तनोंके भारसे तन तनिक आगेको झुक गया है। उसपर सुबहके निकलते बाल सूर्यका-सा अरुणाभ वस्त्र फब रहा है। उमा चली जा रही है जैसे पर्याप्त फूलके गुच्छोंके भारसे कुछ झुकी हुई कोमल पल्लवोंवाली लता चली जा रही हो। कल्पना कोमल है, बड़ी ताज़ी। पल्लविनी स्तबकनम्रा लताका

संचरण बड़ा मधुर दर्शन होगा। वह दर्शन नीचेकी उत्प्रेक्षासे और भी श्लाघ्य हो जाता है—

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमानां पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥५५॥

नितम्ब भारी हैं, उनका चढ़ाव-उतार ऐसा है कि बकुलमालाकी करधनी उनपरसे बार-बार नीचे सरक पड़ती है और बार-बार उमा उसे ऊपर सरका लेती है। और यह करधनी क्या है मानो कामदेवके धनुषकी दूसरी डोरी हो। लगता है परिधानका महत्त्व और उसकी बारीकी जाननेवाले कामदेवने अपनी वह डोरी स्वयं वहाँ डाल दी है। होठोंकी भला क्या स्थिति है ?

सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥५६॥

बिंबाफलके-से होठोंसे मधुर सुगंधित साँस छोड़ती जा रही है। उससे आकृष्ट ललचाया भौंरा बार-बार उन अधरोंसे आ लगता है और प्रतिक्षण घबड़ा-घबड़ाकर आँखें घुमाती हुई वह उसे बार-बार लीलारविन्दसे भगा देती है। इस लीलारविन्दका उल्लेख विशेषकर समकालीन गुप्त-प्रसाधनकी ओर संकेत करता है। उस कालकी रीति थी कि कहीं जाने के लिए तैयार नारियाँ अपना मंडन समाप्त कर लीलारविन्द धारण करती थीं। लीलारविन्द फुल्लकमलके साथ उसकी डंडी होती थी। उसको हाथमें धारण करते थे। गुप्तकालीन मूर्तियों, चित्रों और मिट्टीके ठीकरों पर कोरी आकृतियोंमें नारी सामान्यतः सजी कमलदंड लिये हुए दिखाई गई है। उमा भी शिवसे मिलनेके लिए पूरा सज चुकनेके बाद लीलार-विन्द हाथमें लिये उसे घुमाती चली जा रही थी। और अब उसने उससे भ्रमरके इस व्यवहार पर उसके निवारणका कार्य किया। इस लीला-कमलका प्रयोग कालिदासने अन्यत्र (कुमार० ६, ८४) भी लज्जा

प्रदर्शनके अर्थ किया है। जब सप्तर्षि शिवकी ओरसे हिमालयसे पत्नीके रूपमें उसे माँगते हैं तब लजाकर उमा लीलाकमलकी पंखुड़ियाँ गिनने लगती है—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

ऐसी कमनीय कायाका निवारण भला शिव भी कहाँ तक कर सकते थे? उनको तो उससे प्रभावित होना ही था, काम तो उस प्रभावका निमित्त मात्र हो गया। उस रूपको जब कामने देखा तब उसकी गई हुई आशा लौट आई। शिवकी समाधि देखकर धनुष अनजाने हाथसे सरककर गिर गया था। अब आशामें भरकर उसने उसे उठा लिया और उसे लगा कि अब वह देवताओंका कार्य साध सकेगा। उधर शिवने अपनी समाधिको शिथिल किया, प्राणोंका निरोध छोड़ उनका संचरण स्वच्छंद कर दिया, वीरासन भी कुछ ढीला कर धीरे-धीरे वे शून्य जगत्से पार्थिव जगत्की ओर लौटे। उधर—

तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम्।
प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम्॥६०॥

नन्दीने जो वनस्थलीका शान्तिरक्षक और शिवका अनुचर-वाहन (देवरूप) उनके लतागृहका द्वारपाल—प्रतीहार—था, शिवकी समाधि टूटी और उमाको पूजार्थ आया देख स्वामीको प्रणामकर उमाका आना निवेदन किया। और स्वामीके भौंहके संचालनमात्रसे प्रवेशकी अनुमति जान उसने उमाका वहाँ प्रवेश कराया। शिष्टताका यह सुखकर उदाहरण है। यह वही व्यक्त कर सकता है जिसने राजसभाकी शिष्टता जानी हो और राजाके साथ रह चुका हो। कालिदासका विक्रमादित्यके साथ मित्रभाव परंपरा द्वारा प्रमाणित है। अब उमा शिवके सामने पहुँचकर सेवामें अपने हाथसे तोड़े फूल चढ़ाती है। पहले उसकी दोनों सखियाँ फिर स्वयं वह। कितना मधुर वाग्विन्यास है, पढ़िए—

तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।
व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभङ्गभिन्नः ॥६१॥

उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥६२॥

उमाने भी नीले अलकोंमें शोभायमान नये कँनैलके फूलोंको सँभालते हुए कानोंसे गिरते कोमल पल्लवोंवाले मस्तकसे शिवको प्रणाम किया । तत्काल उसे शिवका आशीर्वाद मिला—

अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन ।
न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥६३॥

'अनन्यभाजं पतिमाप्नुहि !' सर्वथा अनुकूल (एकान्तप्रेमी जिसका मन कहीं और न लगा हो) पति तुम्हें मिले । ऐसा तथ्यमात्र शिवके कहने पर उसने उस आशीर्वादको अमिट वरदान माना क्योंकि महात्माओंके वचन कभी कहनेके विपरीत नहीं होते । इस प्रकार शिव और उमाको इतने समीप रोमांचक वातावरणमें विवाह-प्रसंगमें यथाभिलषित कहते-सुनते देख कामने अपना अवसर पहचाना और धनुषकी प्रत्यंचा उसने चढ़ा ली । तभी गौरी भी आगे बढ़ी, गिरीशके पास—

अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण ।
विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम् ॥६५॥

और उसने मन्दाकिनीके कमलोंके धूपमें सुखाये बीजोंकी माला (जप-मालिका) अपने लाल हाथोंसे समर्पित कर दी, शिवके गलेमें डाल दी । और तभी सहसा कुछ हो गया । उन्होंने प्रिय भक्तकी माला स्वीकार ही की थी कि कामने अवसर पा संमोहन नामका अपना अमोघ वाण धनुष पर चढ़ा लिया । फिर क्या था, तपस्वीका मन डिग गया । जैसे चंद्रमाके उदय होने पर समुद्रकी बेलाएँ चमकने लग जाती हैं वैसे ही शिवका अन्तर भी विकल हो उठा । सामने उमाका अत्यन्त कमनीय उत्कंठित

मुख था, देवताओंको भी असावधान विवश कर देने वाला, सो उसके बिंबाधर पर योगिराजके नेत्र जा लगे, रम गये (*व्यापारयामास विलोचनानि*)। और तभी उमाका लाजबंध भी खुल गया, रोम-रोममें काम संचारी था, पुष्पधन्वाका अमोघास्त्र सयत्न था, सो उसने भी नार्योचित चेष्टा की—

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥६८॥

कदम्बका फल जैसे अपने रोयें खड़े रखता है वैसे ही अपने गातको आनन्दसे पुलकित कर उमाने भी अपना भाव व्यक्त कर दिया—नयनाभिराम तो वह वैसे ही थी पर अब उसने अपनेको रुचिरतर बनाया—स्थिति बूझकर आँखोंको तनिक फैलाकर मुँहको तिरछाकर चारुतर खड़ी हुई। भगवान बिंध गये। अन्यत्र (कुमार०, पाँचवाँ सर्ग) भी कालिदासने उमाका वर्णन करते हुए कुछ बड़े सुखद और मधुर वक्तव्य किये हैं। शिवके कामको भस्म कर देनेके बाद अपने रूपकी निन्दा करते हुए तप द्वारा इष्टकी प्राप्ति सम्भव जान उमाने तप करनेकी ठानी। उस रूपका अर्थ क्या जिससे प्रियतम आकृष्ट न हो–'*प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।*' अपनी कन्याका मानस शिवके प्रति आसक्त जान और उस देवताको पतिरूपमें प्राप्त करने के लिए तपश्चरणको उद्यत देख माता मेना उसे छातीसे लगा मधुर वैदर्भी-प्रधान पद बोलीं—

मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥४॥

घरमें देवता भरे हैं, बेटी,(हिमालय देवताओंका निवासस्थल है), कहाँ तप और कहाँ तुम्हारा यह कोमल तन ! और मृदुल सिरसका फूल भौरोंका ही चरणभार सह सकता है, कुछ पक्षियोंका नहीं। कहीं उसपर पक्षी बैठने लगे तब तो वह फूल टहनीपर रह सका। पर न मानी पार्वतीने माताकी बात, तपकी तैयारी शुरू कर दी—

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ।।८।।

उस दृढ़व्रती उमाने स्तनोंका चंदन अपनी चञ्चलतासे पोंछनेवाले हारको छोड़ दिया। उसके स्थानपर उसने उनको कण्ठ तक ढकनेवाले बालसूर्यके लालरंगका बल्कल पहना।

विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ।।११।।

अब उसके हाथ आलतासे होंठ नहीं रंगते, स्तनोंके अंगरागसे लाल हो जानेवाली गेंदसे लाल भी नहीं होते। अब तो उसकी उँगलियाँ कुश टूँगनेसे कट-कट जाती हैं, उन हाथोंमें अब कंगनकी जगह वह रुद्राक्षकी माला पहने रहती है।

पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ।।

तपस्विनी उमाने तपकी अवधि तकके लिए अपनी दोनों चीजें दोनोंके पास धरोहरके रूपमें रख दीं—अपने हाव-भाव पतली लताओंके पास और चकित चितवन हरिनियोंके पास। निक्षेप शब्दका प्रयोग पहले सेठादिकों, श्रेणियोंके पास धन आदि जमा कर देनेके अर्थमें हुआ करता था। श्रेणियाँ तब बैङ्कोंका काम करती थीं। धन लेकर व्याज देना या भेड़ें आदि लेकर उनके बढ़ते हुए बच्चोंसे कोई एकरार की हुई बात करना उनका काम था। जैसे यदि किसीने किसी श्रेणीके पास सौ भेड़ें रख दीं और कहा कि उज्जयिनीके महाकालके मन्दिरमें हमारे लिए उसके बदले २० वर्ष तक घीके दिये बाले जायँ तो श्रेणी यह कार्य उन्हीं भेड़ोंके धनसे किया करती थी। घी-बत्ती-दियोंका खर्च भेंड़के नये पैदा होनेवाले मेमनोंके दामसे चलता था, स्वयं भेड़ें मूलधन होती थीं जिसे उस कालकी लाक्षणिक भाषामें 'अक्षय नीबी' कहते थे। मूलधन लौट जाया करता था। सो उमाने भी

तब तकके लिए जब तक उसका तप समाप्त होकर उसे पति न प्राप्त करा दे अपने हाव-भाव और लोल दृष्टि लताओं और हिरनियोंको सौंप दिये। उनका काम तो अब प्रियकी प्राप्तिके बाद ही पड़ सकता था।

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥१५॥

जंगलमें अपने आप हुए नीवार आदि अन्नोंसे अंजलि भर-भरकर अपने हाथसे खिलानेके कारण हिरनियाँ उससे इतनी हिल-मिल गई थीं, उसका इतना विश्वास करने लगी थीं कि सखियोंके सामने अक्सर वह कुतूहल वश उन्हें पकड़कर उनकी आँखोंपर अपनी आँखें रख उन्हें नापने लग जाती। अत्यन्त मधुर कल्पना है यह। जितना ही कविका यह भाव मनोरम है उतना ही उमाकी सरलताका यह द्योतक है, और उतना ही हिरनियोंकी आँखोंकी लोक-प्रसिद्धिके लिए घातक भी। उनकी आँख पर आँख रखकर उन्हें नाप देना उनकी सुन्दरताकी गरदन नाप देना, उन्हें मुक़ाबलेमें छोटा कर देना था।

इसी प्रकार बरसते मेहके बीच तप करनेका वर्णन भी कविका अत्यन्त हृदयग्राही बन पड़ा है। वस्तुतः श्रृंगारप्रधान होनेके कारण कवि किसी स्थितिमें अपनी वह ललित व्यंजना नहीं छोड़ पाता। उसका व्यवहार वह सर्वत्र करता है चाहे वर्णन साधारण हो चाहे तपका, चाहे वह तप साधारणजनोंका हो चाहे उसके इष्टदेव शिवकी भावी पत्नीका। उसके तपवर्णनके श्लोक-श्लोकमें कोई न कोई कोमल श्रृंगार-भावना व्रतकी रूखी निष्ठाके साथ उभर आती है। वर्षा-कालीन उसके तपका एक रूप यह है—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥

कल्पना कीजिए, पानी बरस रहा है और उमा समाधिमें बैठी है। आँखोंके

नासाग्रपर लगी होनेसे लंबी पलकें कुछ तन गई हैं। सो जब पानीकी बूँदें मस्तकपर गिरती हैं, तब वे उन तनी पलकोंपर उतर आती हैं और उनपर क्षणभर ठहरकर होठोंपर ढुलक जाती हैं, वहाँसे और नीचे गिरकर कठोर उन्मुख स्तनोंके अग्रभागसे टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं, तब कहीं धीरे-धीरे देर तक चलकर वे नाभिमें प्रवेश कर पाती हैं। वर्षाकी बूँदोंका यह उमाके तनपर अधोधः पतन कविकी अनूठो सूझका परिचायक है। इसमें कितनी ही अछूती कल्पनाएँ सूक्ष्म व्यंजना द्वारा ध्वनित कर दी गई हैं। पलकोंपर बूँदोंका रुकना जितना ही उनकी लंबाईका परिचायक है उतना ही उनके नासिकाग्रपर टिककर समाधिका। फिर उनका वहाँसे होंठोंपर गिरकर उन्हें पीड़ित करना होठोंकी मृदुलताका द्योतक है। होठ इतने कोमल हैं कि बूँदोंका उनपर ढुलक पड़ना भी उन्हें बाधित करता है, उनसे भी उन्हें चोट लग जाती है। पर यही बात उनसे स्तनोंका स्पर्श होते ही बदल जाती है। उनपर गिरकर वे जैसे गिरिशिखर पर गिरकर चूरचूर हो जाती हैं। इससे कुचोंकी कठोरता और उनके अग्रभागकी उन्मुखताकी ओर संकेत हो जाता है। यहाँ तक तो बूदोंकी गति तीव्र हुई आगे बहुत धीमी हो जाती है, क्योंकि अब उन्हें उदरके मैदानमें चलना है जहाँ त्रिवलीकी रेखाएँ पड़ी हुई हैं। जलकी गति जैसे बराबर जमीनपर लकीरकी लीक-लीक चलती है वैसे ही त्रिवलीकी रेखाओंमें चलते हुए, एकके बाद एक तीन रेखाओंकी राह नाभि तक पहुँचते बूँदोंकी गति मन्थर हो जाती है। और तब कहीं वे उमाकी नाभिमें प्रवेश कर पाती हैं। उसमें वे जाती नहीं 'प्रवेश' करती हैं, ऐसा न करतीं तो भला नाभिकी गहराईका अन्दाज़ पाठकको क्योंकर होता? गज़बकी शक्ति है कविमें। किस कोमलता का आयोजित ध्वनि द्वारा उसने इन पंक्तियोंमें आविष्कार किया है। कितना सुकुमार निरीक्षण है यह।

एक दूसरे स्थलपर (कुमार० ७, ७५) कविने शिव और पार्वतीका परस्पर नेत्रोन्मेलन दरशाया है—

तयोः समापत्तिषु कातराणि किञ्चिद्व्यवस्थापितसंहृतानि ।
ह्रीयन्त्रणां तत्क्षणमन्वभूवन्नन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥

वर-वधू शिव और पार्वती दोनों ही एक दूसरेके लिए कातर हो रहे हैं। अपनी लालायित दृष्टि एक दूसरेपर डालते हैं, पर तत्काल हटा लेते हैं। लाज इतनी है कि लालायित नयन कुछ कर नहीं पाते, निरन्तर एक दूसरे पर गड़ते ही-हटते रहते हैं, स्थिर हो नहीं पाते।

इसी प्रकार शकुन्तलाकी प्रेमाभिव्यक्तिका भी एक उदाहरण कविने 'अभिज्ञान शाकुन्तल'में दिया है। शकुन्तला राजाकी ओरसे अन्यत्र चली जा रही है, पर मन चले जानेका होता नहीं, आँखें बार-बार पीछे लौट पड़ती हैं। जब कोई और उपाय ठमक कर राजाको देखनेका नहीं मिलता तब वह पैरमें काँटा चुभनेका बहाना करती है, अकारण ही अपने वल्कल-को पेड़की शाखामें अटक जानेका, वस्त्र छुड़ानेका अभिनय करती अटक जाती है, प्रियको देखने लगती है—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥२, १२॥

प्रसाधन—

रूप-मंडन अथवा तन-प्रसाधन सदासे सभी देशों और जातियोंमें नागर-नागरिकाओंको प्रिय रहा है। उसके तौर-तरीकोंमें, साधनोंमें, अन्तर पड़ता गया है पर उसका अभाव विशेषकर इस देशमें कभी नहीं रहा। यह सन्तोषकी बात है कि विराग और अध्यात्मकी लगन यहाँ इस मात्रामें रहते भी सौंदर्य और रसकी साधनामें किसी प्रकारकी या किसी मात्रामें उदासीनता नहीं दिखाई गई। इतना ही नहीं बल्कि अति प्राचीनकालमें वात्स्यायनने कामाराधन पर एक वैज्ञानिक कामशास्त्र ही प्रस्तुत कर

दिया। इस दिशामें वात्स्यायनका वह 'कामसूत्र' आजकी कामशास्त्रीय अथवाँ यौन (सेक्स-यूजेनिक्स) विषयों पर पहली पुस्तक है, आजसे कोई डेढ़ हजार वर्षसे भी पहले प्रायः तीसरी सदी ईसवी की लिखी। उसमें और विषयोंके साथ-साथ प्रसाधनका भी विशद वर्णन मिलता है, स्त्री-पुरुष दोनोंके प्रसाधनका। वात्स्यायनसे भी पहले भरत मुनिने भी अपने 'नाट्यशास्त्र'में प्रसाधनका उल्लेख किया है।

कालिदासके ग्रंथोंमें प्रसाधनका वर्णन सविस्तर हुआ है। प्रसंग आने पर वह कवि मंडनकी ओर संकेत किये बिना नहीं रहता। सुन्दर दाम्पत्य जीवन बितानेके लिए, प्रेमाराधनके लिए, विलास-साधनाके लिए प्रसाधनका होना अनिवार्य है। सुन्दर शरीर तो स्वाभाविक होता ही है पर मंडनसे उसका आकर्षण और बढ़ जाया करता है, और असुन्दर भी साधारणतः अनुपेक्षणीय हो जाते हैं।

लगता है नारियाँ विविध प्रकारसे अपना शृंगार करती थीं। साधारणतः अपना प्रसाधन आप कर लेती थीं। प्रायः सभी अंगोंके अपने-अपने अलंकार तो थे ही, उनका अंगांगोंपर प्रसाधन भी होता था। उबटन, अंगरागादि लगाकर फूलोंसे बसाये जलसे फेनक (एक प्रकारका साबुन) से नारियाँ स्नान करती थीं। उबटन, 'अनुलेपन' या 'अंगराग' उशीर घासको पीसकर उसमें चन्दन मिलाकर या शुद्ध चन्दनका बनता था। चन्दनके अंगरागमें प्रियंगुलताके फूल, कालेयक और केसर मिलाकर उसे कस्तूरीसे बास लेते थे। एक तीसरे प्रकारका उबटन कालेयक, कालागुरु (काला अगुरु) और हरिचन्दनके मिश्रणसे बनता था। तेल शरीर और केश दोनोंके लिए बनते थे। आश्रमके लोग अधिकतर इंगुदी का तेल व्यवहारमें लाते थे, दूसरे साधारण तेलोंके अतिरिक्त मनसिल और हरताल मिले द्रव्य का। स्नानोपरान्त नारियोंका विशेष प्रसाधन आरंभ होता था। गीले बालोंको वे काले अगुरु और धूपके धूएँसे सुखाती

थीं जिससे केश महमह कर उठते थे। फिर शरीरको कस्तूरीके जहाँ-तहाँ स्पर्शसे सुगंधित कर लिया जाता था।

नर-नारी दोनों ही मनसिल मिश्रित हरिताल या मात्र श्वेत चन्दनका भाल पर तिलक करते थे। नारियाँ ललाट पर अनेक बार तिलककी जगह काली बिन्दी भी लगाती थीं। आँखोंमें वे अंजन लगाती थीं जिनका कालिदासने अनेकशः वर्णन किया है। अंजन एक प्रकारकी पेंसिलसे लगाते थे, जिसे 'शलाका' कहते थे। चन्दन और कुंकुम (केसर) का प्रयोग न केवल तिलकके लिए बल्कि नारियोंके वक्षपर भी होता था। वक्षको शीतल रखनेके लिए ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और वसन्तमें उनका यह साधारण मंडन था। वे अपने मुख-मंडलको भी विविध प्रकारसे सजाती थीं। उस सजावटको 'विशेषक', 'पत्र-विशेषक', 'पत्र-रचना' या 'पत्र-लेख' कहते थे। चिबुकके गढ़ेसे दोनों ओर गालों पर कर्ण-पर्यन्त लाल या सफेद चन्दनकी दो रेखाएँ खींचकर लहरा दी जाती थीं, फिर उनसे नरम टहनियाँ निकालकर नन्हीं-नन्हीं पत्तियाँ बना दी जाती थीं। यदि मूल डाली लाल हुई तो टहनियाँ सफेद और पत्तियाँ लाल बनाई जाती थीं और यदि मूल शाखा सफेद हुई तो टहनियाँ लाल और पत्तियाँ सफेद लिखी जाती थीं। विशेषककी ललाट पर एक प्रकारकी रचना 'भक्ति' कहलाती थी। यह एक प्रकारका तिलक ही होती थी। इसमें तिलककी काली, सफेद या लाल बिन्दीको सफेद, लाल या काली बिन्दियोंसे घेर दिया करते थे। विशेषकका लेप तैयार करनेकी अनेक विधियाँ थीं। एक विशिष्ट विधि शुक्लागुरु (सफेद अगुरु), रोचना या गोरोचन मिलाकर संपन्न होती थी। प्रगट है कि इस प्रकारका लेप श्वेत होता था क्योंकि इसके दोनों द्रव्य—अगुरु और रोचन—श्वेत ही थे।

मुख-प्रसाधन केवल विशेषक और भक्ति तक ही सीमित नहीं था, होठोंका मंडन स्वयं उसका एक अनिवार्य अंग था। होठोंको पहले आलतेसे रंग लिया जाता था फिर उनपर लोध-वृक्षकी छालका चूर्ण छिड़क लिया

जाता था जिससे वे रक्तपीत हो जाया करते थे। सौन्दर्य-वर्धनके साथ-साथ उससे जाड़ोंकी शीतसे होठोंकी रक्षा होती थी।

आज जो आलतेसे स्त्रियाँ अपने पाँव रँगती हैं और जो आज विवाहादिके अवसरोंपर शुभ माना जाता है, वह पद-शृङ्गार पर्याप्त प्राचीन है। नारियाँ जो पैरोंको आलतेसे रँगकर सरोवरोंमें स्नानार्थ उतरती थीं तो उनके सोपान-मार्ग लाल रंग जाया करते थे। मुँहका स्वाद बनाने, आसव-सेवनके बाद उसकी बास सुवासित करनेके लिए मातुलुङ्ग या बिजौरा नीबू (बीजपूरक) और पानका उपयोग होता था।

कालिदाससे कुछ ही पहले मुनि वात्स्यायन हुए थे। उन्होंने अपने 'कामसूत्र' में नागरक और उसकी पत्नीके दैनन्दिन प्रसाधनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

"नागरकके प्रसाधनकी पहली वस्तु अनुलेपन है जो चन्दनादि अनेक द्रव्य मिलाकर बनती है (अच्छीकृतं चन्दनमन्यद्वानुलेपनम्)। अनुलेपन-स्नानके उपरान्त नागरक अपने वस्त्रोंको अगुरुके धूपसे सुवासित करे और मस्तकपर फूलोंका गजरा धारण करे, गलेमें गजरे पहने। इसके अतिरिक्त वह 'सौगन्धपिटक' (सुगन्ध इत्यादिसे संयुक्त द्रव्योंकी पेटी) से निकालकर दूसरे सुगन्धित द्रव्योंका सेवन करे। फिर विविध द्रव्योंसे बना अंजन अपने नेत्रोंमें लगाये। विशिष्ट-रंगके लिए वह होठोंको आलतेसे रंगे और तब उसे पक्का करनेके लिए मोम रगड़ ले (सिक्थकमालक्तम्) तब वह दर्पणमें अपना प्रसाधित मुख देखे, पानके बीड़े चाब ले फिर वह अपने नित्यके कार्यमें लगे (कार्याण्यनुतिष्ठेत्)। इससे वह क्षौर कर्मकर अपनी हजामत बना ले और स्नानके समय 'फेनक' (एक प्रकारके साबुन) से अपने शरीरको साफ कर ले।" (स प्रातरुत्थाय कृतनित्य-कृत्यः गृहीतदन्तधावनः मात्रयानुलेपनं धूपं स्रजमिति च गृहीत्वा दत्वा-सिक्थ कमलक्तं च दृष्ट्वादर्शमुखे गृहीतमुखवासस: ताम्बूलः कार्याण्यनुतिंष्ठेत्— कामशास्त्र, साधारणमधिकरणम्, ४, ५, ६)।

कादिसकालीन भारतीय समाजमें पुरुष दोनों प्रकारोंसे अपने बाल कटाते थे—एक तो बालोंको छोटा कटाकर उनके बीच शिखा रखनेकी चलन थी, दूसरे लम्बे घुँघराले केश कन्धों तक बढ़ाकर कटा लिये जाते थे। कुन्तल कन्धोंपर लटकते रहते थे। इस प्रकारके कुन्तलोंसे सजे घुँघराले बाल गुप्तकालकी मूर्तियों और मिट्टीके ठीकरोंपर अनेकधा मिलते हैं, अनिवार्य रूपसे पुरुष साधारणतः दाढ़ी बनाते थे यद्यपि अशौचमें उन्हें बढ़ा रखना ही उचित माना जाता था। बच्चे अपने लम्बे केश-गुच्छ दोनों ओर झुलाते चलते थे जिससे उनका नाम ही 'काकपक्ष' पड़ गया था।

नारियाँ स्वाभाविक ही केश कटिपर्यन्त लम्बे बढ़ाती थीं। प्रसाधनके समय उन्हें तेलसे स्निग्ध करके कन्धेसे काढ़ वेणियोंमें गूँथ लेती थीं। इन वेणियोंमें और माँग (सीमन्त रेखा) पर वे मौसमके फूल, मोती और रत्न धारण करती थीं। अनेक बार वे सामने केशकलाप अलकजाल या मुक्ताजालसे ढक लेती थीं। वेणियोंको कुछ तो सीधे पीछे पीठकर लटका लेती थीं, कुछ उन्हें विविध विधिसे बाँधकर जूड़ेके रूपमें मस्तकपर धारण करती थीं। साधारणतः लोगोंके प्रसाधनमें अनेक प्रकारके फूलों, गजरों, सुगंधित द्रव्यों, चूर्णों, विविध धूपों, अंजनों, अनुलेपों, लिपिस्टिकों, आलते आदिका उपयोग होता था। शरीरका कोई अंग अप्रसाधित नहीं रह पाता था। इसके ऊपर सभी प्रकारके नखसे शिख तक आभूषण पहने जाते थे। पुरुष भी कम-से-कम अंगूठी, कुण्डल, कंगन, भुजबन्द और हार पहनते थे। और नारियोंके आभूषणोंकी तो कोई सीमा ही न थी। हाँ, युग-युगमें उनके प्रकार और संख्या बदलती रहती थी। गुप्तयुगकी नारी अपने थोड़े आभूषण बड़ी सुरुचिसे चुनती थीं। उनका निर्माण तो शंख-सीपसे हीरे तक विविध रत्नों और धातुओंसे होता ही था, अनेक स्त्रियाँ केवल फूलोंसे ही सजती थीं, उन्हींके बने अलंकार धारण करती थीं। इस देशके जीवनमें तब फूलोंका बड़ा महत्त्व था। पूजासे प्रसाधन तकके कार्योंमें उनका

उपयोग होता था। कोई उत्सव उनकी सहायता विना संपन्न नहीं होता था। नरनारी दोनों ही घुटनोंके नीचे तक पहुँचनेवाले गजरे पहनते थे। जिन-जिन अंगोंमें धातुके अलंकार पहने जाते थे उन-उनमें फूलोंके आभूषण भी स्थितिविशेषमें धारण किये जाते थे। आश्रमोंमें रहनेवाली कन्याएँ तो केवल फूलोंके ही आभूषण पहनती थीं। फूलोंका समाजमें इतना उपयोग होता था कि उपवनोंकी परंपराका अन्त न था, 'उपवन-विनोद' का एक शास्त्र ही बन गया था। उपवनोंको संभालने और फूलोंको रखाने, उनका व्यवसाय करनेवाले मालियों—मालिनियों (पुष्पलावी) की एक जाति ही उठ खड़ी हुई थी।

प्रसाधन तो इतने महत्त्वका और साधारण-स्वाभाविक हो गया था कि उसके लिए प्रसाधकों-प्रसाधिकाओंकी जमात ही खड़ी हो गई थी। स्वामिनीके मुख-प्रसाधन और वेणी-प्रसाधन इनके विशेष कार्य थे। 'प्रसाधन-विधि' या 'प्रसाधनकला' का उल्लेख कालिदासने अनेकधा किया है और प्रसाधनके द्रव्यों, आभूषणों-गजरों आदिसे भरी पेटिकाएँ लिये जातीं प्रसाधिकाओंकी उभरी मूर्तियाँ तो भरहूत, मथुरा आदिके स्तूपस्तंभोंपर अनेकानेक मिली हैं।

प्रसाधन, मंडन या शृंगारकी यह भावना स्वाभाविक होती हुई भी इस देशमें समय-समय पर असाधारण तन्मयतासे संवारी गयी। हिन्दीके रीतिकालमें भी इसका खासा बोलबाला रहा। 'सोलह सिंगार' की परम्परा प्राचीन होती हुई भी तब विशेष आस्थासे प्रचलित हुई। हिन्दीका कवि कहता है—

अंग शुची मंजन बसन माँग महावर केश।
तिलक भाल तिल चिबुक में भूषण मेहदी वेश॥
मिस्सी काजल अरगजा बीरी और सुगन्ध।
पुष्पकलीयुत होय कर, तब नव-सत निबन्ध॥

उबटन, स्नान, वसनधारण, माँग भरवाना, महावर द्वारा पद-रंजन,

वेणीप्रसाधन, तिलकधारण, चिबुकपर कृत्रिम तिलका निर्माण, अलंकरण, मेंहदी रचाना, दातोंमें मिस्सी और आँखोंमें अंजन लगाना, अरगजा आदि सुगंध द्रव्योंका प्रयोग, पान खाना, गजरे पहनना और नीलाकमल धारण करना।

नीचे हम कवि कालिदास द्वारा वर्णित प्रसाधन संबंधी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं। कालिदासने प्रसाधनका प्रभूत और असमाप्य वर्णन किया है। यहाँ हम केवल कुछ प्रसंगोंका उल्लेख कर सकेंगे। यह न भूलना चाहिए कि प्रसाधन रूपका मंडन मात्र करता है और रूप ऐसा असाधारण भी हो सकता है कि प्रसाधिकाएँ उसके प्रभावसे सुन्न हो जाएँ। इसी स्थितिका कवि वर्णन करता है जब प्रसाधिकाएँ पार्वतीको पूर्वाभिमुख बिठाकर उसका मंडन करते चलती हैं। मंडनकी सभी वस्तुएँ पास होने पर भी सामने बैठी प्रसाधिकाएँ पार्वतीके रूपसे ठगी रह जाती हैं, कर्तव्य भूल उसका रूप अपलक निहारने लगती हैं—

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरोनिषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने संनिहितेऽपि नार्यः ॥कु०सं०७,१३

रूपके जादूके असरसे अपनेको सम्हाल फिर वे वधूका प्रसाधन शुरू करती हैं—कोई तो उसके गीले बालोंको धूपके धुएँसे सुखाकर उनमें फूल गूँथ देती है, दूबमें पिरोये महुएके फूलोंकी मालासे उसका जूड़ा बाँध देती है, कोई सफ़ेद अगरका उबटन उसके शरीरपर लगा उसे लाल गोरोचनसे चीत देती है। और तब पार्वतीका रूप पुलिनोंमें बैठे चक्रवाकोंवाली गंगाकी धाराको भी तिरस्कृत करने लगता है—

धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तः कुसुमं तदीयम्।
पर्याक्षिपत्काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाम्ना ॥१४॥

विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥१५॥

गाल लोधके चूरे और गोरोचनसे पुतकर नितान्त गोरे हो गये। उनके ऊपर कानोंपर रक्खे गालोंपर लटकते जौके अंकुर अभिराम फबने लगे, इतने कि देखनेवालोंकी नज़र वहीं जा चिपकी—

कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥१७॥

उसके होठोंको आलतेसे रंगकर उनपर मोम चढ़ा दी गई जिससे दोनोंकी सन्धिरेखा बालभर स्पष्ट हो गई। इस प्रकार रेखाविभक्त वे अभिराम होंठ जिनका सौन्दर्य अब फलने ही वाला था (चूमे जाकर), जब फड़क उठते थे तब उनकी सुन्दरता कथनातीत हो जाती थी—

रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किञ्चिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्यदासन्नलावण्यफलोऽधरोष्ठः ॥१८॥

फिर पैरोंमें महावर लगा दी गई। उनके किनारे, नाखून आदि जब आकर्षक रंग गये तब सखियोंसे न रहा गया, आशीर्वादका उपक्रम करती एक बोली—तुम्हारे ये लाल गोरे पाँव पतिके मस्तककी चन्द्रकलाको छू लें। और तब मन ही मन उस ठिठोलीका रस लेती पार्वतीने चुपचाप एक माला खींचकर उसपर मारी—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥१९॥

प्रसाधिकाओंने फिर उमाके नीलकमलों जैसे स्वच्छ नयनोंमें काले अंजन डाल दिये। नयनोंकी स्वाभाविक सुन्दरता इतनी थी कि इससे उनकी शोभा कुछ बढ़ी नहीं, हाँ, प्रसाधनका वह अंश पूरा ज़रूर हो गया जो मांगलिक मंडनमें अनिवार्य था।

तस्याः सुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य।
न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम् ॥२०॥

फिर उमाके अंगांगोंमें आभरण डाल दिये गये जिससे उनका तन तारोंसे भरी प्रसन्न रात्रि-सा, खिले फूलोंसे भरी लता-सा, पक्षियोंके संयोगसे नदी-सा चमक उठा—

सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥२१॥

फिर माताने काँपते करोंसे उसके मुखको उठाकर हरिताल और मनसिल मिश्रित गीले द्रव्यसे उसके भालपर तिलक कर दिया।

कालिदासने सर्वत्र प्रसाधन और रूपमंडनका वर्णन किया है। पर 'कुमारसंभव'के इस स्थलके अतिरिक्त 'मेघदूत' और विशेषकर 'ऋतुसंहार' में तो उसका पग-पगपर जैसे वर्णन हुआ है। उत्तरमेघमें अलकाकी कुलवधुओंके कुसुममंडनकी ओर संकेत करते हुए प्रवासी यक्ष मेघसे कहता है—

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥२॥

वधुएँ वहाँ (अलकामें) हाथमें लीलाकमल (कमलयुक्त दंड) धारण करती हैं, अलकोंमें टटके कुन्दके फूल गूँथती हैं, मुखपर लोधके फूलोंका पराग मलकर उसके प्रकृत गौरवर्णको पीलाई प्रदान कर उसकी कान्ति द्विगुणित करती हैं। चूड़ापाशमें वे नये कुरबक कुसुम गूंथती हैं, कानोंमें सिरसका कोमल कुसुम पहनती हैं और सीमन्त रेखा (माँग) पर वर्षामें फूल उठने वाले कदम्बके फूल धारण करती हैं।

इसी प्रकार अभिसारसे लौटती अभिसारिकाओंके पुष्पाभरणों और अन्य आभूषणोंके उल्लेखसे कवि उनका विभिन्न रूपेण मंडन सूचित करता है। प्रमाणतः यह रूप शुक्लाभिसारिका का है—

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥६॥

रात्रिमें अभिसारिकाएँ जो संकेतस्थानपर अपने प्रियोंसे मिलने जाती हैं उनके मार्ग सूर्यके उदय होनेपर प्रातः गतिकी तीव्रतासे कम्पित कलेवरसे गिरे मण्डनाभरणोंसे सूचित होते हैं—अलकोंसे गिरे मन्दारके फूलोंसे, लता-पत्रोंसे, कानोंसे गिरे स्वर्ण-कमलोंसे (कमलाकार सोनेके कुण्डलोंसे) और स्तनप्रदेशपर पहने हारोंके सूत टूट जानेसे बिखरे मोतियों से ।

वस्त्राभरणों और प्रसाधन द्रव्योंका ऋतु-परक वर्णन, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विधिवत् 'ऋतुसंहार' में हुआ है । ग्रीष्म ऋतुमें नारियाँ विविध प्रकारसे अपना मण्डन करती हैं—कटिपर महीन रेशम और शीतल कर-धनी धारण करती हैं, चन्दन पुते स्तनोंपर हार और आभूषण पहनती हैं । स्नानके उपरान्त गीले बालोंको सुगंधित द्रव्योंसे सुवासित करती है । (इन सुगन्ध द्रव्योंमें विशिष्ट स्थान धूप और चन्दनके धुएँका था जिससे बाल सूख भी जाते थे, बस भी जाते थे ।) इस प्रकार स्वयं शीतलोप-करणोंसे सजकर वे अपने प्रियोंके लिए कठिन निदाघ सह्य बनाती हैं—

नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः
स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः ।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः
स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥४॥

गहरे लाक्षा रससे रंगकर चरणोंको वे नूपुरोंसे विभूषित करती हैं—

नितान्तलाक्षारसरागरञ्जितै-
र्नितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः ।

भारी लेवासको तज वे महीन चोलियाँ पहनती हैं । ग्रीष्मके बाद घनागम

होता है जब मेह तो बरसता है पर दाह कम नहीं होती। नारियोंके धारण करनेके फूल बदल जाते हैं, वर्षामें फूलनेवाले फूल उनके मंडनमें विशिष्ट हो जाते हैं। अब वे कदम्ब, नये बकुल और केतकीके फूलोंसे गुँथा हार सिरपर धारण करती है और सामने कानोंके बीच अर्जुन वृक्षकी मंजरियाँ लटकाती हैं—

मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभि-
रायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य।
कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभि-
रिच्छानुकूलरचितानवतंसकांश्च ॥२०॥

इसी प्रकार—

शिरसि बकुलमालां मालतीभिः समेतां
विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च।
विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां
रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः ॥२४॥

वर्षाका वधुओंके प्रति प्रियजनोंका-सा आचरण होता है। उसके संयोगसे नारियाँ सिरपर मालती पुष्पोंके साथ गुँथे बकुल पुष्पोंकी माला धारण करती हैं, जूहीकी कलियों और नये फूल भी जिसमें पिरोये होते हैं। कदम्बके नये फूले कुसुमोंको भी वे अपने कानोंमें कनफूलके रूपमें पहनती हैं।

शरद्में आकाश और धराका रूप बदल जाता है—आकाश निरभ्र हो जाता है, धरा सर्वत्र सफेदीसे—काशसे, चाँदनीसे, हंसों और सरिताओं की धारासे, कुमुदोंसे, मालती कुसुमोंसे—ढक जाती है, तब नारियोंको भी अपने मंडनके उपकरण बदल देने पड़ते हैं और तब कुसुमरूपी लक्ष्मी कदम्ब, कुटज, अर्जुन, शाल आदि वृक्षोंको श्रीहीन कर सप्तच्छदों पर आ उतरती है।

केशान्नितान्तघननीलविकुञ्चिताग्रा-
नापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः ।
कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुड्मलेषु
नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति ॥१६॥

हेमन्त ऋतुमें नारियाँ गातको कालीयकसे चीत लेती हैं, मुखकमलोंको पत्ररचनासे अलंकृत कर सिर कालागुरुके धूमसे सुवासित करती हैं—

गात्राणि कालीयकचर्चितानि
सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि ।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि
कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥५॥

शिशिरमें सर्दी बहुत पड़ती हैं, तब घरोंकी खिड़कियाँ बन्द कर मोटे लेवास धारण करती हैं। तबका शृंगार न तो चन्दन है, न हिम-सी शीतल वायु ही भाती है और न चन्द्रकिरणोंसे शीतल छत ही। तब नारियाँ कस्तूरी आदिका शरीरमें विलेपनकर पान खाकर, मालाएँ पहन सुवासित मदिरासे मुँहको सुगन्धित कर कालागुरुके धुएँसे भरपूर बसाये हुए शय्यागारमें बड़ी उत्सुकतासे प्रवेश करती हैं—

गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः
मुखासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः ।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं
विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ॥

वसन्तागम पर फिर रमणीय दिन आते हैं—तरु कुसुमोंसे लद जाते हैं, सरोवर कमलोंसे ढँक जाते हैं, पवन सुगन्धसे भर जाता है, संध्या सुखकरी हो जाती है, दिन रम्य हो जाते हैं, स्त्रियाँ सकाम हो जाती हैं। शीघ्र भारी वस्त्रोंको तज वे लाखसे रंगे लाल महीन वस्त्र धारण करती हैं। पहलेके वसन्तका मंडन लौट आता है। कुसुमसे रंगे लाल वस्त्र उनकी

कटिको अब ढकने लगते हैं, लाल ही चोलियाँ उनके गोरे कुङ्कुम रंगे स्तनों पर फबने लगती हैं—

कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलै-
नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम् ।
रक्तांशुकैः कुङ्कुमरागगौरै-
रलङ्क्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥४॥

फिर तो स्वाभाविक ही पुष्पाभरण भी बदलकर वसन्तोचित हो जाते हैं— स्त्रियाँ कानोंमें नये कर्णिकार कुसुम पहनती हैं, हिलती हुई काली अलकोंमें अशोक और विशेषत: नवमल्लिकाके फूल उनके शरीरकी कान्ति बढ़ाने लगते हैं—

कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं
चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः
प्रयाति कान्तिं प्रमदाजनानाम् ॥५॥

वक्षपर प्रमदाएँ फिर हार धारण करने लगती हैं जो स्तनोंपर लगे श्वेत चन्दनके लेपसे गीले हो जाते हैं, भुजाओंमें कंगन और भुजबन्द पहनती हैं, जाँघों पर कटिसे लिपटी सोनेकी करधनी—

स्तनेषु हाराः सितचन्दनार्द्रा
भुजेषु सङ्गं वलयाङ्गदानि ।
प्रयान्त्यनङ्गातुरमानसानां
नितम्बिनीनां जघनेषु काञ्च्यः ॥६॥

मोटे भारी वस्त्रोंको त्याग लोग वसन्तमें लाल रंगे कालागुरुके धुएँसे सुवासित महीन वस्त्रोंको धारण करते हैं—

गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं
तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि ।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि
धत्ते जनः काममदालसाङ्गः ॥१३॥

गोप्य—

कालिदासने अनेक गोपनीय स्थितियोंका वर्णन किया है । 'मेघदूत', 'कुमारसंभव' और 'रघुवंश'में अनेकधा वह पाठकोंके विलास-कुतूहलको शान्त करते हैं । उत्तरमेघमें तो श्रृंगारका अनेक स्थलोंपर खुला वर्णन हुआ ही हैं, पूर्वमेघमें भी कवि उन स्थितियोंकी ओर संकेत करनेसे नहीं चूका । गम्भीरा नदीके सम्बन्धमें कवि मेघको सावधान करता है—

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम् ।
प्रस्थाने ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादा विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४१॥

तुम्हारे जल पीनेसे गंभीराके दोनों तट नंगे हो जायेंगे । फिर तो बेंतके झुके हुए पौधे ऐसे लगेंगे मानो अपने उन (बेंतरूपी) करों द्वारा नंगी नदी-नायिका अपने नितम्बोंसे नीचे सरकी जाती नीली जलरूपी साड़ीको जैसे-तैसे रोक रखनेके उपक्रम कर रही हो । और तुम जलपर झुके हुए होगे । तब, मेरे मीत मेघ, तुम विरम जाओगे, तुम्हारा वहाँसे हिल पाना कठिन हो जायेगा । आखिर स्वाद पाया हुआ कौन जन है जो नंगी जाघों वाली नारीको छोड़कर चला जाय ?

अलकाके यक्ष अमोघ रसिया हैं । कामकी त्वरतासे अपने काँपते आतुर करोंसे वे प्रियाओंके नीविबन्ध तोड़ देते हैं । फिर वे ढीले अधोवस्त्र को अलग कर देते हैं । तब लज्जासे किंकर्तव्यविमूढ़ बिम्बाधरियाँ घबड़ाकर

बुझा देनेके लिए मुट्ठीमें कुंकुम भर-भर कर रत्नप्रदीपोंपर फेकती हैं। पर अलकाके दीप क्या तेलसे जलते हैं जो बुझें? रतनकी जोत क्या कहीं कुंकुम के चूर्णसे मारी जा सकती है? रत्नदीपोंकी मरीचियोंसे शयनागार उजागर बना रहता है, जैसे पुरुष सयत्न, केवल नारी आँखें मीच लेती है—

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपा-
न्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥५॥

कुछ स्थल 'रघुवंश'में भी पर्याप्त गोप्य हैं। उन्नीसवें सर्गमें कामुक राजा अग्निवर्ण अपनी प्रेयसियोंके साथ जल-विहार करता है। यौवनके आधिक्य से उन्मत्त विलासिनियोंके स्तनोंसे टकरा कर हिलते कमलोंसे भरी दीर्घि-काओंमें बने आगारोंमें राजा उनके साथ विहरता है। अत्यन्त मदकारी आसव राजा उस एकान्तमें उन प्रमदाओंके मुँहमें देता है, फिर वे अपने मुँह का आसव लौटाकर उसके मुँहमें डाल देती हैं। और इस प्रकार राजा का बकुलवत् दोहद संपन्न होता है—

सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥१२॥

एक स्थलपर तो कालिदास अग्निवर्णके पशुवत् विलासका वर्णन करनेसे भी नहीं चूके—

चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम्।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥२५॥

नारियाँ उस अग्निवर्णके निर्दय रतिश्रमसे थककर अपने पीन पयोधरोंसे उसके वक्षका चंदन पोंछती हुई 'कण्ठसूत्र' नामक आलिंगनके बहाने सो जाया करती थीं—

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥३२॥

'कुमारसंभव' के आठवें सर्गमें कालिदासने अपने इष्टदेव शिवके पार्वतीके साथ रमणका वर्णन किया है। वर्णन अति शृंगारिक और यौन है। प्रकट है कि कविने इस खुले वर्णनके लिए सामग्री अपने कुछ ही पहले होनेवाले मुनि वात्स्यायनके 'कामसूत्रों' से ली है। कुछ अंश तो इसका 'रघुवंश' के उन्नीसवें सर्गमें वर्णित अग्निवर्णके विलासके अनुरूप ही है। दोनोंमें वात्स्यायनके अनेक गूढ़ और लाक्षणिक शब्दों तथा रमण-संकेतोंका उपयोग हुआ है। अपने देवताके विलासका वर्णन इतना नग्न कर देनेसे संभवतः समकालीन अनुदार आलोचकोंको कुछ क्षोभ भी हुआ था, जिससे उस किंवदन्तीका जन्म हुआ कि कालिदासने अपनी इस मर्यादोल्लंघनसे घबड़ाकर ही ग्रंथ आठवें सर्ग तक ही लिखकर कुमारजन्मसे पहले ही अपूर्ण छोड़ दिया। जो भी हो, कैलास, गन्धमादन आदिपर रति-केलिका कविका वर्णन बड़ा विशद और एक अंश तक स्वाभाविक भी है। यहाँ केवल कुछ श्लोक दिये जाते हैं—

शूलिनः करतलद्वयेन सा सन्निरुध्य नयने हृतांशुका ।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत् ॥७॥

शिव और पार्वती रतिकेलिमें निमग्न हैं, अथवा वस्तुतः शिवका यह एक-पक्षीय प्रयोग है। क्योंकि पार्वती मुग्धा होनेसे रतिका रस लेनेके बावजूद उसके लिए कोई उपक्रम प्रदर्शित नहीं करतीं। लज्जा भी बेहद आड़े आ जाती जो शिवके लिए एकान्तिक स्वादकी वस्तु हो जाती है। कवि कहता है कि एकान्तमें सुरतके आरंभमें शिव पार्वतीका नीवी-बन्ध खोल उसके अधोवस्त्र और स्तनांशुकको अलग कर देते हैं। इस प्रकार सर्वथा निरावरण हो जानेसे उमा घबड़ाकर शिवके दोनों नेत्र अपने दोनों हाथोंसे ढक लेती हैं। ग़रीब भूल जाती है कि देवताके ललाटपर एक तीसरा नेत्र भी है जो

उसके सभी गोप्यांगोंको निहार रहा है। उसे जब वह इस प्रकार दृष्टिमैथुन में लीन देखती है तो अपना प्रयत्न विफल हो जानेसे दुखी हो जाती है, मोघयत्नविधुरा, और आत्मसमर्पण कर देती है।

सुरतसे शरीर क्षत-विक्षत हो गया है, दर्दसे प्रियके सन्तोष और अपने आह्लादकी यादसे पुलक होती रहती है। पार्वती देहके घावोंको देखनेके लिए दर्पणके सामने खड़ी होती हैं। पर उसके अनजाने पीछे जो शिव दुबके खड़े हैं और जब उनका प्रतिबिंब उसके शरीरको नई साधोंसे देखने लगता है तब शर्मसे वह और भी भर जाती है और जब वह गात छिपाने, लाज बचानेकी त्रिविध चेष्टाएँ करती है तब वह चेष्टाएँ भी शिवके लिए नये कुतूहल और आनन्दके साधन प्रस्तुत करती हैं—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
प्रेक्ष्य बिम्बमुपबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥११॥

अनेक दिन इसी प्रकार बलात्कारमें बीत गये। शिव और पार्वतीने रति की, पर उसमें पार्वतीका योग प्रायः नहीं था। पर जब धीरे-धीरे उसे भी मदनका स्वाद मिलने लगा तब उसने धीरे ही धीरे विरोध छोड़ दिया, रतिको क्लिष्ट करनेसे विरत हुई, उसमें रस लेने लगी, सक्रिय हुई—

वासराणि कतिचित्कथञ्चन स्थाणुना रतमकारि चानया।
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम् ॥१३॥

तब उस प्रिय आलिंगनको भी उसने स्वीकार किया, स्वयं वह आलिंगन किया जिसमें मधुर स्तनपीड़न होता है। अब जो शिव चुम्बनार्थ उसका मुँह माँगने लगते तो वह पहलेकी भाँति उसका प्रतिकार करनेके लिए मुँह हटाने नहीं लगती। हाँ, जब प्रियका हाथ मेखलापर पहुँचने लगता, तब ज़रूर वह उस हाथको धीरे-धीरे रोकने लगती, पर धीरे ही धीरे—

सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत्।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा ॥१४॥

प्रणय-पत्र—

सुसंस्कृत सभ्य समाजमें प्रणयकी चेष्टाएँ सहज और स्वाभाविक होती हैं। जहाँ प्रणय होता है वहाँ उसकी परिणतिके लिए उपाय भी होते हैं। इन्हीं उपायोंमें एक प्रणय-साधक पत्र भी है। साधारण पत्रलेखन तो समाज में प्रचलित थे ही, जैसा 'मालविकाग्निमित्र' के राजनीतिक पत्रोंसे प्रगट है, नागरकला तकमें उसकी व्यंजना हुई है। भुवनेश्वरके श्रृंगारमुखर मंदिर पर एक अनन्य सुन्दर नारी पत्रलेखनमें लीन कोरी गई है। उसके पुलकित गात, मधुर चेष्टाओं और चतुर्दिक्के यौन वातावरणसे प्रमाणित है कि वह प्रणय निवेदनमें ही रत है। शकुन्तला भी दुष्यन्तको एक बार पत्र लिखनेका प्रयास करती है। कालिदासने 'कुमारसंभव' में भी विद्याधरियोंके प्रणय-पत्र-लेखनकी ओर मधुर संकेत किया है—

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥१, ७॥

हिमालयके भोजवृक्षोंकी त्वचापर गेरू (या सिन्दूर) से लिखे अक्षर गज की सूँडपर बनी लाल बिन्दियोंसे लगते हैं। भोजवृक्षोंके उन वल्कलोंको (उसी प्रकार पत्रोंको भी) विद्याधरोंकी सुन्दरियाँ अपने प्रेम-पत्र लिखनेके काममें लाती हैं। कालिदासने यहाँ प्रेम-पत्रके लिए 'अनङ्गलेख' शब्दका उपयोग किया है जो विशेषकर हिमालयवर्ती समाजकी प्रणय संबंधी प्रचुरता और अगोप्य स्थितिकी ओर संकेत करता है। हिमालयमें अक्षरोंका सिन्दूर या गेरूसे लिखा जाना बड़ा संगत है, पहाड़पर गेरूकी उपलब्धि सहज है, इसीसे 'मेघदूत' का यक्ष भी अपनी प्रियाका रामगिरिपर चित्र गेरूसे ही लिखनेका प्रयास करता है।

●

: अध्याय ४ :

पत्नी

आर्योंमें विवाहकी व्यवस्था अति प्राचीन कालमें ही हो गई थी। गृह का सारा संसार पत्नीके ही चतुर्दिक् घूमता था। ऋग्वेदके दसवें मंडलमें सूर्याके विवाहके अवसरपर पुरोहितने जो वधूको आशीर्वाद दिया है उससे नये गृहमें उसके गौरवका अनुमान होता है। पुरोहित कहता है कि तू अपने नये घरमें जाकर उसका समुचित शासन कर। अपने श्वसुरकी तू सम्राज्ञी बन, अपनी सासकी सम्राज्ञी बन, अपनी नन्दों-देवरोंकी सम्राज्ञी बन, कुलके समस्त दोपायों (नर-नारी) और चौपायों (पशुओं) की सम्राज्ञी बन, उनका कल्याण कर।

वह परम्परा व्यवहारमें निश्चय आनेवाले युगोंमें कमज़ोर पड़ गई परन्तु सिद्धान्ततः निःसंदेह तब भी पत्नीका पद प्राचीनवत् ही गौरवका माना जाता रहा। धर्मसूत्रों आदिमें यज्ञादि कर्मानुष्ठानोंमें सदा वह पति-वर्तिनी मानी गई और इस प्रकारकी समूची विधिक्रियाएँ पति सदा अपनी पत्नीका पार्श्वावलंबी होकर करता रहा। पत्नीत्वके लिए कन्याका दान ही 'सहधर्मचरणाय' होता था जिससे उसकी सहधर्मिणी संज्ञा सार्थक होती थी। धार्मिकोंकी क्रियाओंका मूल कारण तो पत्नी ही समझी जाती थी। इसीसे तो संसारसे विरक्त शिव जब सप्तर्षियोंके बीच पति वसिष्ठके चरणोंमें दृष्टि डाले साक्षात् तपकी सिद्धिस्वरूपा खड़ी साध्वी अरुन्धतीको देखते हैं तब उसके दर्शनसे क्रियाओंकी मूलकारण सत्पत्नीके लिए, विवाहके अर्थ उन अवधूतके हृदयमें भी लालसा जग उठती है—

तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादार्पितेक्षणा ।
साक्षादिव तपःसिद्धिर्बभासे बह्वरुन्धती ॥कु० ६, ११॥

तद्दर्शनादभूच्छम्भोर्भूयान्दारार्थमादरः ।
क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥१३॥

इसीसे शंकरने बिना गौरवका भेद किये, पुरुष और नारीके भावमें बिना किसी प्रकारका अन्तर डाले, समान रूपसे ऋषियोंके साथ अरुन्धतीको भी भेंटा, उसे देखा, क्योंकि पुरुष-स्त्रीका यह भेद केवल मूर्ख करते हैं, सज्जनोंके लिए तो सुचरित और सदाचरण गौरवके स्थान होते हैं, जैसे परम्परा सदासे कहती आई हैं—*गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः*—पूजाके स्थान गुण हैं, चाहे जहाँ भी वे हों, और उस सम्बन्धमें न तो लिंग (पुरुष-स्त्री) का भेद किया जा सकता है, न आयु का। कालिदास उस परम्पराकी रक्षा करते हुए कहते हैं—

तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः ।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥१२॥

इस दृष्टिसे कविका हृदय दुष्यन्त और शकुन्तलाको एक दूसरेके निकट देख भाव गद्गद हो गा उठता है—

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि य-
च्छकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥५,१५॥

शार्गरव कण्वका वह सन्देश राजा दुष्यन्तसे कहता है जिसकी गिरा जितनी ही गरिम है, भाव उसके उतने ही कोमल हैं, उपमा उसकी उतनी ही उदात्त, उतनी ही असाधारण है—तुम पूजनीयोंमें अग्रणी प्रसिद्ध हो, वैसे ही यह शकुन्तला भी मूर्तिमती सत्क्रिया है। प्रायः ब्रह्मा असमान गुणों वाले वधूवरोंको परिणयसूत्रमें बाँध हास्यास्पद बनता है। इस एक उदाहरणमें सर्वथा समान गुणोंसे युक्त पति-पत्नीको एकत्र कर वह चिर-कालके लिए अपने उस दोषसे मुक्त हो गया है।

इसी कारण उस परंपरामें अवस्थित कालिदास पत्नीकी पतिसे भिन्न स्थिति नहीं स्वीकार कर पाते। मनुके अनुसार वे भी पत्नी पर पतिकी सर्वतोमुखी प्रभुता स्वीकार करते हैं। उनका शार्ंगरव क्षुब्ध हो शकुन्तलासे कहता है कि यदि तेरा अन्तःकरण पूत है तो तू चुपचाप अपने पतिके कुलमें निवासकर, उस कुलमें दासी बनकर भी रहना उचित है। पत्नीकी गति पतिके घर रहनेमें ही है। पितृकुलमें समादृता स्नेहसिक्त सती होकर भी वहाँ उसके बदनाम हो जानेकी संभावना है। अनेक शंकाएँ उठ सकती हैं जिनका कोई समाधान नहीं, जिनका दारुण और दुःसह परिणाम हो सकता है। इससे पत्नीके बन्धुबान्धव यही चाहते हैं कि वह पतिकी चाहे प्रिया चाहे अप्रिया हो, रहे वह उसके साथ ही जिसके साथ उसका विवाह हुआ हो—

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां
जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥१७॥

कण्व शकुन्तलाको पत्नी और गृहिणीके कर्तव्यकी याद दिलाकर विदा करते हैं। उसमें चाहे युगकी कमज़ोरियाँ ध्वनित हों पर है वह बड़ी नेक सलाह—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥

शा०, ४,१७॥

पतिके घरमें अनेक गुरुजन और आर्याएँ होंगी, उनकी सेवा करना। राजा 'बहुवल्लभ' होते हैं, अनेक पत्नियाँ होतीं हैं उनके। उनका आपसी वैर भी स्वाभाविक है, पर वही वैर दारुण कलह बनकर परिवारका नाश कर

सकता है । सो तुम उस सौतिया-डाहसे ऊपर उठकर सपत्नियोंके प्रति प्रिय सखीका आचरण करना, सौतोंको स्नेहसे भेंटना । प्रियकी वृत्ति भी सहायक सदा नहीं रहती, और जहाँ सपत्नियोंसे भरा रनिवास हो वहाँ कुछ अजब नहीं जो राजा सौन्दर्यकी धनी किसी अन्य पत्नीमें रम रहे, उससे उद्वेग न करना । राजा बहुधन्धी होता है उससे भी वह अन्यमनस्क हो सकता है, किसी कारण रिस भी कर सकता है, संभव है ऐसेमें वह कभी तुम्हारा निरादर भी कर बैठे पर इससे तुम भी कहीं अपना सन्तुलन न खो बैठना, कोप न करना, विपरीत आचरण न करने लग जाना । और देखो, अनुचर, दास-दासी स्वय आर्त होते हैं । उनकी स्थिति उन्हें दूसरोंकी सेवा करनेको बाध्य करती है, पर उससे उनकी मानवता नहीं चली जाती । मानव होनेके नाते वे स्नेह और सहानुभूतिके अधिकारी हैं, सो उनके प्रति तुम्हें पुष्कल दयालु होना चाहिए । तुम्हारे स्वामीका ऐश्वर्य महान् है, विपुल संपदा है उनकी, जैसे उनका विस्तृत साम्राज्य है, आश्चर्य नहीं जो तुममें अहंकारकी भावना घर कर ले । उस सौभाग्यके अनाचारसे सावधान रहना, अहंकारसे कहीं दूसरोंके पराभवकी तुच्छ बुद्धि न उत्पन्न होने देना । जानो, कि इन्हीं सुचरितोंसे अप्रौढ़ा पत्नी गरिम गृहिणी पदको पाती हैं, उससे विपरीत आचरण करनेवाली कुलका नाश करती है ।

फिर कण्व अपनी एकाकी स्थितिपर भी तनिक परोक्ष रूपसे विचार करते हैं । वह विचार व्यंग संकेतसे भी अंकित है । उस अभिजातकुलीय भर्ताके अनेक निकटवर्ती होंगे जिनके अनन्त कार्यों-आवश्यकताओंकी तुम्हें निरंतर चिन्ता करनी होगी, इस कर्तव्यमें प्रतिक्षण आकुल रहनेवाली गृहिणीका पद इसी कारण तो प्रशंसनीय होता है । सो वत्से, जो तुम्हारा समूचा समय इस कार्यमें बीतेगा, और जब तुम प्राची दिशाकी नाई बालारुणवत् पवित्र पुत्र उत्पन्न कर लोगी तब उसके लालन-पालनमें बचा समय निकल जायेगा, उस सद्योजातका मोह फिर जब हज़ार हाथों तुम्हें खींचेगा, तब कुछ नियत कार्यके आधिक्यसे समयाभावसे, कुछ शिशुकी

ममतासे, तुम मेरे विरहका सारा दुःख भूल जावोगी। अधोधः बहनेवाली स्नेहधारा शिशुकी ओरसे लौटकर मुझ वृद्धकी ओर भला क्योंकर बहेगी ?—

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥१८॥

अतः

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥१९॥

चिरकाल तक चतुस्समुद्रान्त पृथ्वीकी सौत बनकर, दुष्यन्तसे उत्पन्न अपने अप्रतिरथ चक्रवर्ती पुत्रको राज्य और कुटुंबके भरण-पोषणका भार सौंपकर अपने पतिके साथ लौटकर इस शान्त आश्रममें निवास करना। प्राचीन-कालमें कन्या विवाहोपरान्त जब पतिके घर जाती थी तब लौटकर उसका पिताके घर आ सकना प्रायः कठिन ही होता था, राजपत्नियोंका पिताके घर लौटना तो असम्भव ही था। पर गार्हस्थ्यके बाद वाणप्रस्थ ले लेनेपर जंगलका वास चूंकि स्वाभाविक था, कण्वने वह वाणप्रस्थ अपने यहाँ बितानेके लिए अपनी कन्या-जामाताको निमंत्रित किया।

और जब इस कार्यसे—शकुन्तलाके विदाकार्यसे—कण्व निवृत्त हुए तब पहले तो उन्होंने सन्तोषकी सांस ली, सभी पिताओंकी तरह कन्याके ब्याहके उतरे भारसे निश्चिन्त हुए। कहा—कन्या परायी होती है, दूसरे की, सो उसे आज उसके पतिके पास भेजकर रखी धरोहर स्वामीको लौटा

देने वाले जनकी भाँति यह मेरी अन्तरात्मा भी नितांत निर्मल हो गई, अब उसकी सँभालकी चिन्ता न रही—

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥२१॥

'न्यास' प्राचीन बैंक-व्यवसायका शब्द है। आधुनिक बैंकका कार्य है धन रखना और अपना कमीशन काटकर उसे रखनेवालेको उसकी इच्छानुसार लौटा देना। 'न्यास' उसी धनको बैंकमें रखनेको कहते हैं। सो कन्याको भी कालिदासने न्यास कहा है जो धरोहरकी भाँति पिताके पास रक्खी रहती है और जब उसका प्रकृत स्वामी पति पाणिग्रहण करता है तब पिता उसे उसको वापस दे देता है। कण्व उस कार्यसे छुट्टी पा गये, जैसे हर पिता पा जाया करता है, पर बैंकसे धनका निकल जाना, जैसे कन्याका विवाहित हो जाना भी, पिताको रिक्त तो कर ही दिया करता है। सो अन्तरात्माके प्रकाम शान्त हो जाने पर भी कन्याका अभाव पिताके हृदयमें शूल सा चुभते रहनेसे चूकेगा कब? उसी कष्टका संकेत तो कण्वने परिव्राजक होने पर भी, गृहस्थ पिताकी दुर्बलताका घना अनुमान कर अपने कष्टसे उसके कष्टको समझा है—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥५॥

शकुन्तला आज चली जायगी, यह सोचा नहीं जाता। सोचते ही कलेजा जैसे मुँह को आने लगता है, दिल बैठा जाता है, निस्पंद हो चला है। वस्तुतः सारी इन्द्रियाँ इससे अपने ज्ञानमें जड़ हो गई हैं। हृदय तो निस्पंद

हो ही गया है, आँसुओंके बलात् निरोधसे गला भी रुँध गया है, गलेसे शब्द नहीं निकलते, साथ ही विकलतासे मेरा दृष्टिपथ भी धूमिल हो गया है, आँखें अन्धी हो चली हैं। जैसे वाष्पावरोध कण्ठमें है, वैसे ही वाष्पावरोध नेत्रोंमें भी तो है और जब इतनी व्यथा, इतनी विकलता मुझ जैसे विरागी आश्रमवासीको हो रही है तब भला इंद्रियगतिक गृहस्थोंकी कन्या विदा करते समय क्या दशा होती होगी।

आजका समाज विशेषतः पत्नीप्रधान हो चला है, तबका पतिप्रधान था। इसमें सन्देह नहीं कि पत्नीका आदर्श तब पतिकी छाया होकर रहना था और जिस मात्रामें वह उसकी अनुवर्तिनी होकर रह सकती थी उसी मात्रामें वह श्लाघ्य मानी जाती थी। अरुन्धती, पार्वती, सीता उसी आदर्शकी पोषिका हैं। शकुन्तलामें कालिदासने नारीका, उपेक्षित प्रेमका, विद्रोह भरा तो वह फल गया पर वही विद्रोह जब उन्होंने विपरीत परंपरा की पृष्ठभूमिमें सीतामें भरना चाहा तो प्रयास असफल हो गया, परंपरा विजयिनी हुई। रामने सीताको त्यागकर उन्हें लक्ष्मणके साथ वन भेजा। लक्ष्मण ने जब वाल्मीकिके आश्रमके पास वनमें ले जाकर सीतासे अग्रजका संदेश कहा तब पहले तो सीता बेहोश हो गईं फिर जब होशमें आईं तब अपनी सासोंसे बारी-बारीसे कुछ कहलाना था वह धीर गंभीर वाणीमें कहकर रामके प्रति संदेश देने लगीं। पर रामके राघवोचित कर्मने जो उनका कोप जगा दिया तो वह संयत न रह सकीं, भरे मनसे गर्भभारसे दबी वाणीमें अभिमान भर कर रानीकी आवाज़में बोलीं—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥

रघु० १४, ६१॥

मेरी ओरसे जाकर उस राजासे कहना, मेरे शब्दोंमें। *'मद्वचनात्'* राजवाणी है, राजा सर्वत्र आज्ञा देनेके पहले, विशेषकर कालिदासकी कृतियोंमें, इस पदका प्रयोग करता है। सीता जानती है कि लक्ष्मणके लिए

अपनी ओरसे भाईसे कुछ कहना अभद्र होगा इससे इस *'मद्वचनाद्वाच्यः'* से वह कथनकी कठोरताका दायित्व अपने ऊपर ले लेती है। ओज श्लाघ्य है—कहना उस राजासे (सूखा राजावत् ही व्यवहार है उसका) मेरे शब्दोंमें, कि अपने सामने अग्निमें तपाकर जो मुझे देख लिया था वह क्या व्यर्थ गया जो मुझे अब लोकापवादके कारण छोड़ दिया है? यह क्या सचमुच उस विख्यात रघुकुलकी गरिमाके अनुकूल है? पर, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, परम्परा बलवती होती है और कालिदास उसके औचित्य की ओर सरक जाते हैं। सीता सँभल कर कहने लगती है—

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
*ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥*रघु० १४, ६२॥

पर बात और भी हो सकती है—अपने सम्बन्धके इस विधानके विषयमें मुझे शंका नहीं करनी चाहिए, तुम्हारी बुद्धि तो स्वाभाविक ही कल्याण-बुद्धि है, इससे तुम्हारा कार्य शंकासे परे है—मेरे जन्मान्तरके पापोंका यह विपाक है, उनका ही यह वज्रनिर्घोष है। वस्तुतः प्रसवानन्तर मैं तो सूर्याभिमुख टकटकी लगा तप करूँगी जिससे अगले जन्ममें भी तुम्हीं मेरे स्वामी हो और तुमसे मेरा वियोग न हो—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६॥

और फिर मैंने जो राजाका धर्म वर्णाश्रमका पालन निश्चित किया है उसीके नाते, पत्नीके नाते न सही, सामान्य तपस्विनी मान कर ही सही, मुझे त्याग कर भी मुझ निर्वासिताकी रक्षा करना—

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥६७॥

इतनी व्यक्तित्वहीन काया शायद आज किसी नारीको तत्त्वतः स्वीकार न होगी। वैसे अपना जीवन सर्वथा पतिकी छाया बना देनेवाली नारियोंकी

भी कमी नहीं। वस्तुतः एक मत तो यह भी है कि प्रणयमें वैयक्तिक चेतना, दुईकी भावना रह ही नहीं पाती। प्रणय दुईको मिटाकर ही हो सकता है। और इस दृष्टिसे नारीके लिए स्वयंको मिटा देनेवाले नरोंकी संख्या स्वल्प नहीं है। वैसे स्वयं कालिदासने भी गार्हस्थ्य जीवनमें पति-पत्नीके बीच सखाभावका असाधारण वर्णन किया है। पति-पत्नीके आदर्श संबंधकी उनकी भावना वास्तवमें वह कदापि नहीं है जिससे उन्होंने सीताके उपर्युक्त वक्तव्यमें मुखरित किया है—वह तो परंपराका निर्वाह मात्र है—सामाजिक चेतनासे मुखर इस दाम्पत्य संबंधका निरूपण तो कविने 'रघुवंश' के अज-विलाप या 'कुमारसंभव' के रति-विलापमें किया है जहाँ दोनों समान भूमिपर खड़े हैं। अजविलापमें निर्दिष्ट पत्नीका रूप अन्यत्र मिलना दुर्लभ है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।।८,६७।।

पत्नी गृहिणी होती है, मंत्रिणी होती है, एकान्तकी सखी और ललित-कलाओं, संगीतादिमें, अभिमत शिष्या होती है। इस प्रकार 'मेघदूत' में जिस दाम्पत्य अथवा प्रणय-विलासकी ओर संकेत है वह भी पति-पत्नी दोनोंकी समरसता और समताका सूचक है।

स्वयंवर—

इस 'गृहिणी-सचिव' की स्थितिको प्राप्त करनेके लिए नारीको पुरुषके साथ आठ प्रकारके विवाहोंमें से एक द्वारा बँधना पड़ता था। इसमेंसे अनेक तो कालिदासकी समकालीन सामाजिक व्यवस्थासे उठ गये थे, अनेक प्रचलित भी थे। स्वयंवरकी परिपाटी भी विगत अतीतकी वस्तु हो गई थी, यद्यपि कविने उस वर्णनमें गहरी आत्मीयता और जानकारीका परिचय दिया है। स्वयंवरके बाद विवाह-विधि उसी साधारण प्राजापत्य प्रकारसे संपन्न होती थी जो गृहस्थके लिए स्वाभाविक मानी जाती थी। नीचे विदर्भदेशाधिपतिकी राजकन्या इन्दुमतीके स्वयंवरका संक्षिप्त उल्लेख किया

जाता है जिस प्रसंगमें कविने उन अनेक सहज चेष्टाओंकी ओर संकेत किया है जो स्वयंवरके लिए आये राजाओं द्वारा आचेष्टित होती हैं और जिनमें न केवल कविका मानव हृदयका असाधारण ज्ञान लक्षित होता है वरन् जिनसे धारासार रस बरसता है। यह स्वयंवरका प्रसंग 'रघुवंश' के छठे सर्गमें उद्‌घाटित हुआ है।

विदर्भकी राजधानी कुंडिनपुरके राजप्रासादके प्रांगणमें स्वयंवरके अर्थ आये राजाओंके लिए मंचोंकी कतारें लगी थीं जिनपर सिंहासन सजा दिये गये थे। इन्हीं सिंहासनों पर देवताओंके सौभाग्य और सौंदर्यके धनी राजा लोग विराजमान थे। उन्हींके बीच कोसलकुमार रघुनन्दन अज जब पहुँचा तब उसके आकर्षणको देख उनका मन इन्दुमतीकी ओरसे सहसा निराश हो गया। अज सिंहशावककी शालीनतासे सोपानमार्गसे मंच पर चढ़ गया। और जब वह स्वयं कामदर्पदलन अज सिंहासनासीन हुआ तब स्वर्णाभ नीलास्तरणसे ढके आसनसे उसकी द्युति और भी दमक उठी, लगा जैसे मयूर अपने नील-स्वर्णिम पूर्णमंडलमें खड़ा हो और उसपर कार्तिकेय विराजमान हों। भरपूर सजे राजाओंके बीच बैठा कुमार वैसे ही चमक उठा जैसे कल्पद्रुमोंकी पंक्तिमें पारिजात। और तब सारे राजाओंसे हटकर नागरिकोंकी ललचाई आँखें उसीपर जा लगीं जैसे भौंरें पुष्पवृक्षोंको छोड़ वनैले गन्धगजके मदसे फटे गंडस्थलपर जा रमते हैं—

नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥७॥

और तब सूर्य-चन्द्रवंशी राजाओंके यशोगानसे ध्वनित अगुरु-धूपके उठते धुएँसे डोलते ध्वजोंके बीच, मंगलार्थ बजते शंखों और तुरहीकी ध्वनियोंसे भरे वातावरणमें विवाहके वसनाभूषणसे सजी पतिंवरा इन्दुमती पालकीपर चढ़ी मंचोंके बीचके मार्गसे चली। और तब हज़ार आँखोंकी लक्ष्य विधाता की एकान्तिक अभिसृष्टि उस कन्यापर राजाओंने अपने अन्तःकरण निछावर

कर दिये। आसनों पर तो उनके देहमात्र पड़े रहे, हृदय इन्दुमतीको समर्पित हो गये। फिर उस असामान्या नारीरत्नको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए उनकी विविध शृंगार-चेष्टाएँ अनायास होने लगीं—

कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥१३॥

कोई तो मकरन्द भरे चंचल पत्रोंवाले पद्मदंडसे भौंरोंको हटाने और लीला-कमल घुमाने लगा, कोई विलासी कन्धेसे सरकी रत्नजटित भुजबन्दके शिखरोंसे उलझी माला यथास्थान करने लगा और उस व्यापारमें उसने अपने मुखकी चेष्टा चारुतर कर ली। परन्तु इन चेष्टाओंका प्रभाव इन्दु-मतीके ऊपर उलटा ही पड़ा—पहलेको उसने अशुभ लक्षण माना, दूसरेको फूहड़ संकेत! तीसरे राजाने नयनोंको तनिक तिरछे कर पैरकी उँगलियोंको टेढ़ीकर ज्योतिप्रसारक नखोंवाले चरणसे स्वर्णपाद पीठ पर जैसे कुछ लिखना शुरू कर दिया। उधर चौथेने एक दूसरी चेष्टा शुरू की—आसनके आधे भाग पर अपनी बाईं भुजा रख उसपर उठे हुए कन्धेका भार डालता हारकी लड़ियाँको तीन तीन जगहसे तोड़ता पास बैठे मित्र राजासे संभाषण में प्रवृत्त हुआ। थी तो यह आकृष्ट करनेकी चेष्टा पर इससे पतिंवराने अपनेसे विपरित पराङ्मुख होनेका भाव निकाला और आगे बढ़ गई, उस अगले राजाकी ओर जो उसको आकृष्ट करनेके लिए केतक दलोंको प्रियाके नितम्बोंकी चुटकियाँ भरनेवाले अभ्यस्त नखाग्रोंसे अपने आतुर क्षणोंमें अनायास काटने-मसलने लगा। इधर उस दूसरेने शतपत्रताम्राभ ध्वज-रेखांकित तलवाले करसे रत्नजटित अँगूठीकी जोतसे चमकते पासोंको जैसे फेंका, उधर वह अपने ठीक पहने मुकुटको भी सरका हुआ मान उसके जड़े हीरोंकी छटासे व्याप्त उँगलियोंसे उसे यथास्थान करने लगा।

इस प्रकार अनन्त राजाओंकी अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ हुई, परन्तु प्रत्येक चेष्टाने मानो इन्दुमतीको विरक्त कर दिया।

इन चेष्टाओंमें कविके पंडित व्याख्याता मल्लिनाथने विविध व्यंजनाएँ पढ़ी हैं, जिनका उसके मतसे, पतिंवराने प्रतिकूल अर्थ लगाया और राजाओंकी उपेक्षाकर वह उन्हें पीछे छोड़ती गयी। चेष्टाओंका चाहे टीकाकार द्वारा अनुमित अर्थ न हो—शायद है भी नहीं वरना यह कविकी व्यंजनाको बढ़ायेगा नहीं घटायेगा ही—उनकी एक अपनी सहज गहराई है जो कविके ध्वनि द्वारा मानव हृदयकी दुर्बलताओंको प्रदर्शित करनेमें सहायक होती है। वस्तुतः ये चेष्टाएँ भय और घबड़ाहटके क्षणोंको पूरने या भरनेके लिए आचरित होती हैं और इन स्वाभाविक मानवीय प्रदर्शनोंका सांकेतिक वर्णनकर कालिदासने अपनी अनोखी सूझका परिचय दिया है।

फिर इनकी चेष्टाओंसे मुखरित वातावरणमें कवि सहज कौशलसे सखी सुनन्दाके साथ पतिंवरा इन्दुमतीको मगधेश्वरके सामने ला खड़ा करता है। उस छन्दकी मधुरिमा भी लक्षणीय है—

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी।
प्राक्सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥२०॥

तब राजाओंकी वंश-परंपरा, उनके गुणदोष, यश-अपयश, समूचा इतिहास जाननेवाली, बोलनेमें पुरुषकी भाँति दक्ष असामान्य वाग्मी अन्तःपुरकी रक्षिका सुनन्दा कुमारीको मगधराजके निकट ले जाकर बोली। और जो वह राजाओंकी परंपरामें एकके बाद एकको लक्ष्य कर बोलती गई वह वाणी, व्यवहार और वाग्मिताका आदर्श है। बोली वह—देखो इन्हें, इन शरणोन्मुखोंके शरणको, इन गंभीर स्वभाववाले मगधराजको, प्रजा-रंजन धर्ममें विचक्षण है जो, यथार्थ नामवाले राजा 'परंतप'को—

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥२१॥

निःसंदेह राजा तो हजारों हैं, असंख्य, पर पृथ्वी राजन्वती बस इन अकेले

मगध-नरेशसे हुई है, जैसे नक्षत्र-तारा-ग्रहोंसे भरी रात उनसे ज्योतिष्मती नहीं होती, ज्योतिष्मती वह चन्द्रमासे ही होती हैं—

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥२२॥

यदि इनसे पाणिग्रहण चाहो तो नगर-प्रवेशके समय बेशक कुसुमपुरके प्रासादोंकी खिड़कियोंमें खड़ी अंगनाओंके नेत्रोत्सव बनो ।

पर इन्दुमतीको वह अभीष्ट न था वह तो—

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥२५॥

सुनन्दाका वक्तव्य सुन राजा पर उपचारतः एक नज़र डाल मधूकमालाको सरकाती-सी शुष्क प्रणामसे ही उसका नकारात्मक उत्तर देती वह आगे बढ़ गई । और उसका यह आगे बढ़ना जिस भाषामें कविने व्यक्त किया है उसका अनन्योपमा संयुक्त प्रसाद मात्रकालिदासकी लेखनीसे संभव है ।

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥२६॥

तब अन्तःपुरके संरक्षणमें नियुक्त सुनन्दाने उस राजकन्याको अन्य राजाके निकट ला खड़ा किया जैसे मानसरोवरकी राजहंसीको समीरसे उठी लहरी दूसरे कमलके पास सरका लाती है । अगुरु-धूपादि समीर है, सुनन्दा तरंगलेखा है, अगला राजा अगला पद्म है, उद्वेलित पुरजनोंकी भावभूमि मानसरोवर है, इन्दुमती राजहंसी है । पर क्या राजहंसी उस अगले पद्मकी छाया परस कर भी अपने कदम रोकती है ?

कहती है सुनन्दा—यह अंगनाथ हैं, काम्य तरुण, अप्सराओंके भी काम्य, गजशास्त्रके पण्डित, गजोंके शास्ता, पृथ्वी पर ही इन्द्रपदको भोगने-वाले, परस्पर विरोधिनी लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंका इनमें एकस्थ विलास

है। हे कल्याणि, कान्ति, गिरा और सत्यसे युक्त तुम उनकी तृतीया पत्नी बन जाओ न। परन्तु—

अथाङ्गराजादवतीर्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥३०॥

वह उसे मंजूर न था। वह अंगराजसे दृष्टि हटा मातृसखी सुनन्दासे हलके-से बोली, 'चल !' और चल दी। ऐसा नहीं कि अंगराज कमनीय न था। ऐसा भी नहीं कि उसकी कमनीयताको इन्दुमती देख न सकी या विवेकमें हो वह अदक्ष थी, बात कुछ और ही थी—उसकी रुचि ही भिन्न थी। सब कुछ होते हुए भी संभव है कोई किसीको रुचे नहीं, बेशक राजकुमारीको अंगराज नहीं रुचा। पर इस स्थितिको कविने व्यक्त भी खूब ही किया है। थोड़ेमें अनन्त अमृत भरा है उसने—अंगराजसे दृष्टि वह अपनी 'उतार लेती है', डाली कब थी उसपर सो पता नहीं, पर इस उतार लेनेमें ही भाव समाविष्ट है कि पतिंवरा सामनेसे गुजरते हुए प्रत्येक राजाको देख लेती थी। आँखें राजासे हटाकर 'याहि' चलो, कहने में कितनी गुरुता, कितनी उपेक्षा है और उसे वह किससे कहती है, सुनन्दासे, 'जन्या'से, जिस शब्दमें जितना ही जननीका सखीत्व संचित है उतना ही अभिजात्याका गौरव। निःसन्देह सुनन्दा उसका भावविशेष समझती है। फिर उसमें कान्ति लक्ष्मीसे बढ़कर है, जैसे उसकी गिरा सरस्वतीकी वाणीसे गरिम है। जभी 'कान्ति और गिरा' राजाकी उन पत्नियोंको ध्वनित करते हैं। और स्पष्ट जहाँ उन लक्ष्मी और सरस्वतीका निवास है वह केवल उन्हींके कारण स्वयं उसका आस्पद नहीं हो सकता। सपत्नियोंके प्रति उपेक्षाका भाव प्रदर्शित कर इन्दुमती आगे बढ़ जाती है और उस उपेक्षाका संकेत भावसंपृक्त एकान्तिक शब्द 'याहि,' चल, से वह करती है जो सरस्वतीके अविरल वाणीविलाससे अधिक सम्पन्न है। श्रीहर्षने कहा है—*मितं च सत्यं च वचो हि वाग्मिता*—संक्षेपमें कहा

सत्य ही अजेय वाग्मिता है, मित और सत्य। इस एक शब्दमें इन्दुमतीने उस मित और सत्यकी पराकाष्ठा कर दी।

वह देखो उधर, अवन्तिनाथको, सुनन्दा अगले राजाके सामने खड़ी होकर बोली, देखती हो इनका शरीरकटक—दीर्घ बाहुएँ, विशाल वक्ष, कृश केहरीकटि ? लगता है जैसे विश्वकर्माने सूर्यको शान चढ़ाने वाले चक्र पर धर दिया है। त्वष्टा, विश्वकर्मा, की कन्या सूर्यसे व्याही थी। सूर्यका तेज उसे असह्य हो गया था और उसने अपने पिताकी खराद पर पतिको चढ़ाकर उसका तेज सह्य बना लिया था। उस उज्जयिनीनरेशको दिखाकर सुनन्दा कहती है कि इनकी नगरीमें महाकाल शिवका निवास है। (उज्जयिनीके महाकालके मन्दिरकी प्रसिद्धि कालिदासके समय भी वैसी ही प्रभूत थी जैसी आज है) और उस देवायतनके निकट ही इनका राज-प्रासाद है, इससे कृष्ण और शुक्ल पक्षके परिवर्तनसे इनके विलासमें कोई परिवर्तन नहीं होता क्योंकि कृष्णपक्षके नैसर्गिक अन्धकारमें चन्द्रमौलि शिवके खण्ड-चन्द्रमाका प्रभाव बना रहता है, रेशमी चाँदनी खिली रहती है। रम्भोरु, क्या सिप्रातरङ्गोंसे कम्पित नगरोद्यानोंमें इस काम्य तरुणके साथ विहरनेको तुम्हारा जी चाहता है ?—

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥३५॥

पर इन्दुमतीका जी वहाँ भी न बँध सका, वह आगे बढ़ गई। इसी प्रकार सुनन्दा कुमारीको एक राजासे दूसरे राजाके निकट लेती गई और कुमारी एक-एकको अस्वीकार करती चली गई। अनूपराजसे हटकर शूरसेन नरेशके पास, शूरसेनाधिपको त्याग कलिङ्गनाथके निकट, फिर लंकापति रावणके समक्ष, पर उसको एक न भाया और वह वैसे तनिक रुककर उनकी ओरसे पराङ्मुख होती गई जैसे देवके प्रतिकूल होनेसे दूरसे खिंचकर लाई हुई लक्ष्मी—

तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात्।

जिस अभूतपूर्व कुशलतासे कविने इन्दुमतीका एक राजासे दूसरे राजाके पास जाना (मंचान्तर भूमिमें उसकी प्रगति) एक श्लोकमें वर्णन किया है, स्वयं कविके लिए भी श्लाघ्य है—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥६७॥

पतिंबरा इन्दुमती दीपशिखा बनकर राजाओंके बीचके मार्ग पर चली। मशालके चलने पर राजमार्ग पर खड़ी अट्टालिकाओंका जो हाल होता है वही हाल राजाओंका हुआ। जैसे मशालके निकट आने पर पासका प्रासाद प्रकाशसे चमक उठता है पर उसके आगे बढ़ते ही जैसे पीछे छूटा प्रासाद धुँधला फीका पड़ जाता है, अगला फिर प्रकाशमान हो उठता है, वैसे ही जिस-जिस राजाके निकट इन्दुमती आती गई वह आशासे चमत्कृत होता गया, पर आगे उसके बढ़ते ही उसकी कान्ति मलिन पड़ती गई।

अब इन्दुमती अपने लक्ष्यको धीरे-धीरे पहुँची। आगे रघुनन्दन अज था। उसकी स्थिति भी और राजाओंकी ही भाँति शंकाकुल थी, पर पतिंवराके उसकी ओर बढ़ते ही जो दाहिनी भुजा फड़की तो हृदय आश्वस्त हो गया। और उसके पास पहुँचकर फिर कुमारी रुक गई। उसे अब आगे नहीं जाना था। प्रफुल्ल आम्रवृक्षको पाकर भला भौंरोंकी पाँत अन्य वृक्षकी कामना करती है ?—

न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं कांक्षति षट्पदाली ॥

अब कुमारीने सुनन्दाकी ओर देखा, आदेशपूर्वक कि कहो अब जो कहना हो जितना भी इतिवृत्त इस जनका जानती हो, और सुनन्दाने विस्तार पूर्वक आनुक्रमिक रूपसे अजके पूर्वजोंका परिचय देना शुरू किया। एकके बाद एक रघुकुलके राजाओंका यशोगान करती हुई उसने दिलीपके शासन की सुरक्षाके विषयमें कहा—

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥७५॥

जब विहारार्थ गई वेश्याओंके आधी राहमें ही सो जानेपर वायु तक उनका आँचल छूने-हिलानेकी हिम्मत नहीं करता तब भला साहसिक नागरिकोंकी चोरीके लिए कैसे हाथ बढ़ा सकते हैं ? सो, हे सखि, तू इस बार इसी वरेण्यको जो उच्चकुलसे, वपुकी कमनीय कान्तिसे, नई तरुणाईसे, प्रशंसनीय गुणोंसे और उनसे भी प्रधान विनयसे तुम्हारे अनुकूल है। वरो कि रतन कंचनमें जड़ जाय।

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥७६॥

तब, सुनन्दाके बात कहलेने पर, राजकुमारीने लज्जाके बन्ध तनिक ढीले कर प्रसन्न अम्लान दृष्टिसे कुमारको देखा, उसी दृष्टिसे उसे स्वीकार कर लिया, अपनी जयमाला भी सम्हाल ली। वह उस तरुणके प्रति अपना अभिलाषबन्ध, प्रणय, शालीनताके कारण बोलकर तो प्रकाशित न कर सकी पर स्वयं उस युवाने इसके रोमांच, पुलक आदि लक्षणों द्वारा, उसकी गात्रयष्टि (काया) अपनी नजरसे भेदकर उसका प्रेम जान लिया। और तभी सखी सुनन्दाको चुहल सूझी। उसकी वह रोमांचित स्थिति भाँपकर उसने कुमारीसे परिहासपूर्वक पूछा—'चलें, आर्ये, दूसरे राजाके पास अब ? और कुमारीने उत्तरमें क्रोधपूर्वक उसे तिरछे चुटीले देखा—

तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदावभाषे ।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूया कुटिलं ददर्श ॥८२॥

अब भला उसे कहाँ जाना था ? वह तो नदीकी भाँति सागरकी ओर आदिसे ही बढ़ी जाती थी और अब वह अपने सागरसे आ मिली थी। जिन राजाओंके पास पहले वह रुकी थी वे तो सागराभिमुख जाती नदीके प्रवाहमें अकस्मात् आ गये पर्वत थे—

महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥५२॥

तनिक बिरमी थी, फिर चल पड़ी थी। अब उसने मंगल चूर्णादिसे गौर-लोहित वह माला मूर्तिमान् अनुराग सुनन्दाके करोंसे कण्ठमें यथास्थान डलवा दिया।

और तब विपक्षके राजाओं और अपने पक्षके लोगोंमें भिन्न भावोंका उद्रेक हुआ। निराश राजाओंका जल उठना स्वाभाविक ही था जब दर्शक नागरिकोंने समान गुणों वाले तरुण-तरुणी का संयोग देख पराजित राजाओंके लिए विषवत् वाक्य कहने शुरू किये—मेघमुक्त चन्द्रिमाको इस चंद्रिकाने प्राप्त किया! जह्नु-कन्या (जाह्नवी) गंगा अनुरूप जलनिधिमें प्रविष्ट हुई!—

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः॥

कालिदासने स्वयंवरका यह विवरण कल्पनासे दिया है। उनके समयसे पर्याप्त पहले ही उस प्रथाका देशमें लोप हो गया था। वर्णन फिर भी ऐसा लगता है जैसे उन्होंने प्रत्यक्ष देखकर किया हो। उसमें इतनी स्वाभाविकता है कि इसका गुमान भी नहीं होता कि कालिदासकी लेखनी केवल कल्पनाके दृश्य सिरजती चली जा रही है। पर दृश्य ऐसा कि यदि कभी समाजमें प्रचलित रहा होगा तो निःसंदेह इसी रूपमें।

: अध्याय ६ :

व्यञ्जना

व्यंजनासे यहाँ तात्पर्य शास्त्रीय अलंकार नहीं है, सभी प्रकारकी साधारणसे भिन्न अभिराम अभिव्यक्तियोंसे है। शब्द-सौष्ठव, पदलालित्य, मधुर भावाभिव्यक्ति सभी इसके अन्तर्गत आ गये हैं। जीवनके अनेक पहलू, कोमल और सरस, शिष्ट और शालीन, दर्पिल, गरिम उक्ति, आभार-स्वीकार, उक्ति वैचित्र्य, पुत्र-सुख, व्रत-नियम, योग-समाधि, चित्र और मूर्तिकला, उजड़े और बसे नगर जैसे अयोध्या, उज्जयिनी, अलका, आश्रमवासियोंकी दृष्टिमें नगर, राजा और राजधर्म, आखेट, शिक्षणका आदर्श, अतीतको चुनौती, आदि सभी प्रसंगोंपर इस अध्यायमें विचार हुआ है।

शिष्ट और शालीन—

शिष्ट और शालीन तो जैसे कविको घुटीमें मिले हैं, उसके हस्तामलक हैं, अनायास उसकी लेखनीसे फूटे पड़ते हैं। एक उदाहरण लें—विक्रमोर्वशीयका राजा अन्यमना हो चुका है, उर्वशीके प्रति उसकी चित्तवृत्ति रागबद्ध हो चुकी है। स्वाभाविक है कि अन्य प्रियाओंसे वह कुछ उदासीन हो जाय। है भी वह उदासीन पर मान करती प्रियाके व्रतसे उसका आर्द्र मन आर्द्रतर हो उठता है और मानभंजनके अर्थ राजा जिन शब्दों द्वारा अपना भाव व्यक्त करता है वे भारतीके शृङ्गार हैं, वाणीके अप्रतिम अलंकार। पदोंकी कोमलता जैसे मृदु वर्णनमें कवियोंको चुनौती दे उठती है—

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।
प्रसादमाकांक्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ॥३, १३॥

कल्याणि, यह व्रत संभार क्यों ? क्यों भला इस कमलकोमल कायाको अकारण व्रतसे गला रही हो ? भला इस कमनीय तनपर शुक्ल वसन होना चाहिए था या सुहागमात्रके अलंकार धारण करना उचित था ? मुक्ता-जालसे वंचित कर कुंचित अलक-कुन्तलोंको भला दूबसे सजाना था ? किस कारण व्रत है भला यह ? क्या मुझ दासके लिए ? जो स्वयं तुम्हारे प्रसादके लिए उत्सुक है उसके प्रसादनके लिए भला व्रत कैसा ? छोड़ो, रानी, व्रत छोड़ो, अकिंचन किंकर पर प्रसन्न हो ।

क्यों न हो, आखिर महात्माओंकी शालीनता उनके विनय और नम्रता में ही तो है । फलागमसे ऊँचे तरु झुक जाते हैं, नये जलसे भरे बादल धराकी ओर नीचे लटक आते हैं, रूईके फाहोंकी तरह ऊँचे आसमानमें नहीं उड़ चलते । समृद्धिसे सज्जन उद्धत नहीं होते, विनम्र हो जाते हैं । परोपकारियोंका स्वभाव ऐश्वर्यसे झुक जाता है—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥विक्रम०, ३,१२॥

स्वयं कविने अपनी महत्ताके बावजूद विनम्रताका परिचय दिया है—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥रघु० १, ३॥

मूर्ख हूँ पर महान् कवियोंके यशकी महत्त्वाकांक्षा रखता हूँ, सो मेरा उपहास होना स्वाभाविक है, क्योंकि बौना होकर भी नन्हें हाथों उस फलको

तोड़नेकी आशा करता हूँ जो केवल लंबे हाथोंको ही प्राप्त हो सकता है। यह उक्ति महान् भारतीय कवियोंकी परम्परामें है जो अपनी रचनाके प्रारंभमें सर्वदा अपनी शक्ति जानते हुए भी शिष्टाचारके नाते ऐसा कहते हैं। अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए भी कालिदास उसी बहाने वाल्मीकि आदि पूर्वगामी यशस्वी कवियोंकी महत्ता स्वीकार करते हैं। उनके 'रघुवंश' की कथा निःसंदेह रामायणकी ऋणी है और उस ऋणका आभार कविने स्वीकार किया है—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥रघु० १, ४॥

वस्तुतः स्थिति तो यह है कि पहलेके (वाल्मीकि, च्यवन आदि) कवियोंने इस (सूर्य-) वंशपर काव्य लिखकर मेरे लिए वाणीका द्वार खोल दिया है जिससे उस दिशामें मेरी पैठ हो गई है। जैसे मणिमें हीरेसे किये सुराख़में धागेकी गति हो जाती है, मेरा भी उनके दिखाये मार्गपर चल सकना संभव होगा। इस छोटेसे औपचारिक श्लोक तकमें कविने चमत्कार भरा है—मार्ग साधारण नहीं है, मणिवत् कठोर है। मणिको वज्र ही बेध सकता है। प्राचीनोंके काव्य मणिवत् महार्ह और कष्टसाध्य रहे हैं पर उन्होंने अपनी वज्रवत् मेधासे, मणिसे भी क़ीमती हीरेकी सुईसे उन्हें साधा है। निःसंदेह कालिदासका यह वचन विनम्र और शीलका ही परिचायक है वरना स्वयं वाल्मीकिसे भी महत्तर उनकी काव्यकल्पना है। शालीन और ललितकी छाप जो उन्होंने संस्कृत साहित्यपर छोड़ी है वह अन्य कवियोंके लिए नितांत दुर्लभ है। समूचे रामायणको केवल दो-तीन सर्गोंमें जो कविने संक्षिप्त कर दिया है वह गागरमें सागर भरना है और एक काव्यमें समस्त सूर्यवंशका इतिहास लिखना वस्तुतः एक बूँदमें सागर उंडेलना है। कविकी यह विनम्रता उसके कवियशके समानान्तर ही बड़ी है। महान् काव्योंकी रचना कर महान् तरुओंकी ही तरह वह फलोंसे लद कर झुक गया है, वरना वह अपनी मेधा, अपनी काव्यशक्ति और ललित-

पद-चयनकी प्रतिभासे पूर्णतः अवगत है। कवियोंके प्रारंभिक अहंकारकी भी उसमें कमी नहीं, इसीसे भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कतिपय कवियोंको छोड़ अपने अनन्त अन्य पूर्वगामियोंको तुच्छ मानता हुआ अपने प्रारंम्भिक नाटक 'मालविकाग्निमित्र'में वह उनको चुनौती भी देता है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥१, २॥

जितना पुराना है केवल वही मात्र पुराना होनेसे उत्तम नहीं है, और न नया काव्य केवल नया होनेसे निन्द्य है। समझदार दोनोंको परखकर उनके गुण-दोष बूझकर, काव्यकी साधुता स्वीकार करते हैं और मूर्ख दूसरोंकी बुद्धिका आसरा करते हैं, उनकी कही हुई बात दुहराते हैं। परम्पराकी ख्यातिसे काव्यको अच्छा-बुरा माननेवालोंके प्रति कालिदासका यह उलाहना है। कवि स्वयं ही हीरा लेकर काव्यकी पण्य-बीथी (बाज़ार) में उतरा है, काँचका विक्रेता करार दिये जानेका उसे भय नहीं। उसे उन पारखियोंकी परखका भरोसा है जो स्वयं अपनी आँखका भरोसा रखते हैं, परम्पराके बोझसे जो दबे नहीं हैं। उस कालके, जैसे आजके भी, आलोचकोंको कविका यह कोड़ा है। पर वैसे कविमें शालीन विनम्रताकी कमी नहीं, वह उसकी भारतीमें सर्वत्र मुखरित-ध्वनित है।

यौवनमें साधारणतः विनयका अभाव होता है, अहंकार और उचितानुचित अविनयका प्राबल्य। इसी स्थितिके वशीभूत, यद्यपि उचित और मर्यादासीमित, स्वयं कालिदासने 'मालविकाग्निमित्र' में प्राचीनोंके प्रति अनुचित आस्थाको धिक्कारा है। वैसे वह नवयौवनमें भी विनयको शृंगार मानते हैं—

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम्।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥रघु०, ८,६॥

तबकी दुनियामें बस दो ही चीज़ोंको एक दूसरेका सुंदर योग मिला—पिताके ऋद्ध राज्यसे अजको और अजकी विनम्रतासे उनके यौवनको। उद्धत यौवनको नम्रता संयत रखती है। उस अंकुशके संयमसे जवानी सुरभित होती है।

जो शालीन हैं उनकी शालीनतामें वाणीका अभाव अन्तर नहीं ढ़ालता। भीमदर्शन भार्गव जब क्रोधातुर अनिर्वचनीय बोलते हैं तब कालिदासके राम क्रोधातुर नहीं बोलते, मात्र आचरणसे उसका निवारण कर देते है, तनिक हँस देते हैं, मुसकरा देनेसे अधर किंचित् हिल जाते हैं, चुपचाप परशुरामका धनुष उनके हाथसे ले लेते हैं—और उनका यह ईषत्हास्य और धनुष ले लेना भार्गवकी कुल वाणीका वाणीहीन 'समर्थमुत्तर' बन जाता है—

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥रघु०, ११,७९॥

इस शालीनताको मुखरित करनेके लिए कविने उपयोग भी महाप्राणोंका किया है। 'भीमदर्शन' और 'भार्गव' के 'भ' 'अधर' और 'धनु' के 'ध', 'राघव' का 'घ', और 'समर्थ' का 'थ' महाप्राणाक्षर हैं।

परशुरामके प्रति रामका यह आचरण अनमोल है। क्रोधका साधारण उत्तर अधिकतर क्रोध है, दुर्वचनका कठोरतर वचन। पर क्रोधका शमन वस्तुतः क्षमा है जैसे दुर्वचनका मौन। और उस रामके पक्षमें यह आचरण नितांत स्वाभाविक भी है जिसके मुँहका भाव ऐश्वर्य और संकटमें सदा एक-सा बना रहा, कभी न बदला, पेशानीपर जिसके एक बल न पड़ा, जिसने राज ठुकराकर वनकी राह ली।

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥रघु० १२,८॥

लोग इस रामको देख आश्चर्यचकित क्यों न हो रहें जिसके मुँहका रंग

सदा समान बना रहा—राज्याभिषेकके समय रेशमी मंगलवसन धारण करते भी, वन जाते समय वल्कल पहनते भी।

अनेक बार शालीन वाणी द्वारा कविने करुण और दयनीय स्थितिका सफल परिहास किया है। राम द्वारा सीताके त्यागके बाद लक्ष्मणने जब जानकीको जंगलमें छोड़ दिया और उनके विलापसे जब वह महाकान्तार रो उठा, जब उस करुण रुदनको सुन मोरोंने अपना नृत्य छोड़ दिया, तरु फूलके आँसू ढालने लगे, हिरनियोंने मुँहमें अधकुचली दूब नीचे डाल दी—

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥१४,६९॥

तब पक्षीकी कातर ध्वनिसे द्रवित हो जानेवाले मुनि-कवि वाल्मीकिकी शालीन उद्‌बोधक वाणी सहसा सुन पड़ी—

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥१४,७४॥

मेरे सखा दशरथ तुम्हारे यशस्वी ससुर थे, सज्जनोंके भवबंधन काटनेवाले दार्शनिक जनक तुम्हारे पिता हैं, स्वयं तुम पतिव्रताओंमें अग्रगण्य उनकी धुरीमें स्थित हो, फिर भला मेरी दयाकी याचना कैसी ? तुम तो वैसे ही रक्षाकी अधिकारिणी हो।

(साधारणतः अर्वाचीनोंकी ही भाँति प्राचीनोंको भी सीरध्वज जनक और विदेह जनकके संबंधमें भ्रम हुआ है। जानकीके पिता सीरध्वज जनक थे जो विदेह जनकसे सैकड़ों साल पहले रामायण-कालमें हुए थे। प्रसिद्ध दार्शनिक विदेह जनक महाभारतके बाद महावीर-बुद्धसे प्रायः तीन सौ साल पहले उपनिषत्कालके आरंभमें हुए थे। दोनों विदेहोंमें हुए थे, इससे यह भ्रम दृढ़तर होता गया। बादमें विदेह शब्दका दार्शनिक विदेहसे श्लेष होनेके कारण राष्ट्रवाची वह शब्द केवल दार्शनिक अर्थमें प्रयुक्त होने लगा। स्वयं कालिदास भी इस भ्रमसे वंचित न रह सके और उन्होंने भी

सीरध्वज जनकमें दार्शनिक विदेह जनककी सत्ता प्रतिष्ठित कर दी ।)

इस शिष्ट और शालीन परंपराका अद्‌भुत निर्वाह कवि द्वारा प्रस्तुत संवादों (डायलगों) में हुआ है । वनसे लौटकर सीता जब अपनी सासोंसे मिलती हैं तब उनकी गिरामें असाधारण करुणा जागृत होती है जिससे अनजाने व्यंग्यकी ध्वनि दूर नहीं की जा सकती । साथ ही उसमें व्यवहार-की शिष्टताका भी अन्यतम समावेश है—

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥१४,५॥

'मैं ही हूँ पतिको क्लेश दिलानेवाली कुलक्षणा सीता'—ऐसा कहकर सीता ने स्वर्गामी ससुरकी पत्नियोंके समुचित भक्तिसे चरण छुए । विधवाओंके प्रति समसामयिक अवज्ञाका आभास उसने अपने व्यवहारमें न आने दिया । और अपने स्वाभाविक स्नेहके अतिरिक्त इस उदारतासे भी संपृक्त होकर प्रीतिमती माताओंकी शालीन काँपती गिरा, प्रिय और सच्ची वाणी, चरणोंमें पड़ी उस वधूके प्रति सहसा सुन पड़ी—उठ, बेटी, और जान कि तुम्हारे पति अपने छोटे भाईके साथ—यह पुरुषोत्तम राम और उनके अमनुजकर्मा अनुजलक्ष्मण—तुम्हारे ही तप और पावन व्रतके प्रभावसे महान् संकटसे मुक्त हुए हैं—

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव ।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥१४, ६॥

प्रिय असत्य तो सभी बोलते हैं, अप्रिय सत्य बोलनेवालोंकी भी कमी नहीं, पर प्रिय और सत्यका बोलना केवल इच्छासे नहीं होता, परिस्थितियोंका अनुकूल चक्र भी उसमें अपेक्षित होता है । सो अवसर आते ही कविने प्रसंगकी सूक्ष्मतामें नीतिका महार्णव घोला, एक कीर्तिमान स्थापित किया ।

वही सीता कालान्तरमें, जो गुरुजनोंके समक्ष सामान्यतः भीरु और अकिंचन बनी रहती है, अपने त्यागके समय वनमें करुणासे आकुल वीर

और यशस्वी कठोरकर्मा लक्ष्मण तकके प्रति ऐसा आचरण करती है जो समुद्रके लिए भी गरिम है। चरणोंमें पड़े लक्ष्मणको वह उठा लेती है और गंभीर शालीन वचन बोलती हैं—'प्रसन्न हूँ तुमसे, सौम्य, चिरजीवो !' (पर हिंदीमें संस्कृत—प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव—की शालीनता कहाँ !) अपनी स्थितिसे लाचार हो, जानती हूँ—गुरुजनके आज्ञाकारी हो, इन्द्रके अनुज विष्णुकी ही भाँति। कर्तव्यका पालन कर रहे हो, परवश हो—

सीता समुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥१४,५६॥

और सीताकी वह वाणी अपनी परिस्थितिसे जनित क्षोभका अनधिकारीको पात्र नहीं बनाती, हाँ, उस क्षोमके कारणके प्रति वह शब्दोंकी कृपणता भी नहीं करती। लक्ष्मणकी परवश स्थितिका जहाँ उसके कहे बिना ही गुरुजनोचित आचरण द्वारा उसके अन्तरकों अभिव्यक्त करती हुई उसके औचित्य तथा शीलकी रक्षा करती है वहीं रामको संवाद भेजती हुई उसकी वाणीमें असाधारण क्षमता और शक्ति भर जाती है—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥६१॥

कहना उस राजासे—अपने आप नहीं कह सकोगे, मेरे शब्दोंमें कहना, मेरी ओरसे—उस राजासे, जिसने लोगोंके कुवाच्यके डरसे राजधर्म तक छोड़ दिया, मुझे साधारण नागरिक तकका अधिकार न दिया, पतिका, मानवका आचरण छोड़ मात्र हृदयहीन भीरु शासकका धर्म अपनाया, उससे कहना—अग्निमें डालकर, सोनेको तपाकर, जिस मेरी शुद्धताको तुमने कभी परखा था उसे आज लोकापवादके डरसे अकारण त्याग जो आचरण कर रहे हो वह क्या उस यशस्वी सूर्यकुलके योग्य है ?

वसिष्ठका शिष्य राजा अजके प्रति गुरुका संवाद वहन करता है।

राजा कालका कारण है, राष्ट्रका केन्द्र। प्रियाके निधनसे वह नितान्त द्रवित हो गया है, बिलख रहा है। वसिष्ठ क्रिया आदिमें संलग्न रहनेके कारण स्वयं राजाके पास नहीं जा पाते, शिष्य द्वारा संवाद भेजते हैं। और वह शिष्य जिस वाणीमें वह संदेश उद्‌गीरित करता है वह व्यवहार और कोमलतामें असामान्य है—आचारवान् राजा, मैं उन मर्हषिका एक छोटा-सा संदेश—'लघुसंदेशपदा सरस्वती—लेकर आया हूँ, उसे सुनो, हृदयमें धारण करो, उसे गुनो, कल्याण होगा—

मयि तस्य सुवृत्त वर्त्तते लघुसन्देशपदा सरस्वती।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥रघु०८,७७॥

और उसके संदेशका मर्म यह है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥वही, ८७॥

जीवधारियोंका मरण स्वाभाविक है—प्रकृत, जीवन उनकी विकृति है, तत्त्वों का अपने स्थानसे हट जाना—ऐसा ज्ञानवान लोग कहते हैं। इससे यदि प्राणवान् क्षण भर भी जी ले, सांस ले सके, तो जानो कि उसका लाभ ही हुआ।

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥वही, ८८॥

निर्बुद्धि प्रियके नाशको हृदयमें गड़ा हुआ कील मानता है, पर उसीको विद्वान् समझता है जैसे गड़ी हुई कील निकल गई हो, मोक्षका द्वार खुल पड़ा हो। कवि यहाँ दार्शनिककी भूमिपर आ खड़ा हुआ है। ये श्लोक आसानीसे भगवद्‌गीताके अध्यायोंमें खप सकते हैं। इनकी ध्वनि, लक्षणा और व्यंजना सब कुछ गीता और उपनिषदोंके भाव-जगत्की परम्परामें हैं।

डायलागका एक सुंदर स्थल 'रघुवंश' के सोलहवें सर्गमें है, जहाँ

अयोध्याकी राजलक्ष्मी दक्षिण कुशावतीमें रहनेवाले राजा कुशसे संवाद करती है। आरंभमें ही कविने सोये हुए राजाके सामने सहसा जाकर खड़ी राजलक्ष्मीका अप्रतिम वर्णन किया है—

सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥५॥

सज्जनोंके लिए संपत्तिदान करनेवाले इन्द्रवत् तेजस्वी शत्रुंजयके सामने 'जय हो!' कहती हुई लक्ष्मी हाथ जोड़कर खड़ी हुई। और अब कुशने जो देखा कि द्वार बन्द रहते भी ठोस दरपनमें घुस जानेवाले प्रतिबिंबकी तरह यह नारी उसके शयनागारमें घुस आई है तब आश्चर्य चकित कुश पर्यंकसे अपने शरीरको आधा उठाकर बोला—

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥८॥

वैदर्भी पदावलीका ऐसा लालित्य अन्यत्र दुर्लभ है—शुभे कौन हो, तुम? किसकी भार्या हो भला? मेरे निकट तुम्हारे आनेका कारण क्या है? बोलो, पर यह भले प्रकार देख समझकर कि इंद्रियनिग्रही रघुवंशियोंका मन परस्त्रीके प्रति चलायमान नहीं होता, उस ओरसे सर्वथा विमुख होता है। इस सावधानीसे भरे वचन द्वारा कुशने आगंतुका नारी और स्वयं अपने आपको भी सावधान किया। अर्द्धरात्रिमें उस एकान्त राजकीय कक्षमें निःसंदेह इस प्रकारकी सावधानीकी आवश्यकता थी—*इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।* फिर परित्यक्ता अयोध्या नगरीकी वह राजलक्ष्मी जब राजधानीकी उजड़ी दशाका भरपूर वर्णन कर चुप हुई तब राजाने अयोध्या लौट जानेकी प्रतिज्ञा कर उसे आश्वस्त किया। राजलक्ष्मी तब अन्तर्धान हो गई—

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम्।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥२३॥

डायलागका सुन्दरतम रूप 'कुमारसंभव' के पाँचवें सर्गमें पार्वतीके तपके प्रसंगमें सुरक्षित है। घोर तपस्वियोंको भी लजा देनेवाले तपसे जर्जर उमाके पास जब शिव ब्राह्मणका रूप धारण कर जाते हैं तब कुछ ऐसा संवाद शुरू होता है जो डायलागका आदर्श स्थापित करता है, अत्यंत सरल, स्वाभाविक और शालीन। ब्रह्मचारी जब ब्रह्मचारिणीके पास जाता था, और जो वार्तालाप परिणामतः उनके बीच हो सकता था उसका कविने अभिराम वर्णन किया है। ब्रह्मचारी उमासे पूछता है—

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥३३॥

यज्ञ, पूजादिके लिए लकड़ी, कुश आदि इस स्थानमें सुलभ तो है? स्नानके लिए जल तो मिल जाता हैं? और तनकी शक्तिके अनुसार ही तप करती हो न? भूल न जाना कि धर्मका आदि साधन शरीर ही है। धर्म उसीके माध्यमसे साधा जाता है।

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः करस्थदर्भप्रणयापहारिषु।
य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥३५॥

पद्मनयने, तुम्हारे नयनोंके समान ही इन हरिणोंके नयन भी चंचल हैं, उन्हींकी चपल चारुताका वे अभिनय करते हैं। ये मृग तुम्हारे अपने आप खिलाते भी प्रणयवश तुम्हारे हाथसे कुशा छीन कर खा जाते हैं। इनमें तुम्हारा मन रम जाता है न? इनसे प्रसन्न रहती हो न? इनसे खीझनेके कारण हैं—तुम्हारे असाधारण मदिर चंचल नयनोंकी चारुतासे इनके नयन होड़ करते हैं, सो इस प्रतियोगिता भरी ढिठाईसे चिढ़ जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं। फिर जब तुम स्वयं अपनी पसन्दसे उन्हें अपने हाथों कुशकी नरम फुनगियाँ खिलाती हो पर अधीर होकर जब वे टूटकर एक साथ सारा खींचकर खा जानेके उपक्रम करते हैं तब भी तुम्हें झल्लाहट हो सकती है, सो उस काल संयत तो रहती हो, उनसे स्निग्ध-व्यवहार तो करती हो?

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि ।
यतः सतां सन्नतगात्रि सङ्गतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥३९॥

सुन्दरि, सात पद परस्पर संभाषण करनेसे, सात पग साथ चलनेसे ही सज्जनोंमें मित्रभाव हो जाता है (वह मित्रता इसीसे साप्तपदी कहलाती भी है) और यहाँ तो आपने मेरे साथ घना आतिथ्य निर्वाह किया है, अत्यन्त आत्मीयोंका सा व्यवहार किया है जिससे प्रगट है कि आप मुझे पराया नहीं समझतीं। इससे मेरा साहस विशेषकर आपकी क्षमाशीलताको देखते हुए कुछ बढ़ गया है, वैसे ब्राह्मण स्वभाव होनेसे भी चपलता या जिज्ञासाकी कुछ कमी नहीं। सो कुछ और पूछनेकी यह जन धृष्टता करता है, जो गोपनीय न हो तो कृपया उत्तर दें—

अतोऽत्र किञ्चिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः ।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥४०॥

और उमाकी भावभंगीसे ब्राह्मण जब जान लेता है कि उसका प्रश्न तपस्विनीको अग्राह्य नहीं है तब वह पूछता है—

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ॥४१॥

कुलका कुछ पूछना नहीं, पहले ब्रह्माके कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ। सुंदरता के लिए तुम्हें कोई तृष्णा नहीं हो सकती, तीनों लोकोंका सौंदर्य तुम्हारे शरीरमें मूर्तिमान हो उठा है। इस स्थितिमें धनादि ऐश्वर्य सुख खोजना नहीं, वह तुम्हें अनायास प्राप्त है। और इन सबसे ऊपर, अभावमें इन सबको दूषित कर देने वाली, नई जवानीका भी आलम है, फिर इस तपका राज़ क्या है भला? इनसे भिन्न किस मनोरथकी उपलब्धिके लिए तप रही हो?

अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे ?
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ॥४२॥

चकित हूँ, अभिराम भौहों वाली, तुम्हारी आकृतिसे स्पष्ट है कि शोक तुम्हें नहीं व्याप सकता, और पिताके घरमें तिरस्कार भला तुम्हारा कहाँ संभव है ? और जो शत्रुओंके क्रोध द्वारा निरादरकी बात है उसकी संभावना भी नहीं, क्योंकि कौन मूर्ख है जो साँपकी मणि पानेके लिए उसकी ओर हाथ बढ़ायेगा ? फिर—

किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् ।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥४४॥

बोलो, भरी जवानीमें आभूषणोंको दूर कर जो तुमने बुढ़ापेमें पहने जाने योग्य वल्कल धारण किया है, सो क्यों ? नई चढ़ती रातकी सुंदरता भला चन्द्रमा और छिटपुट तारोंके संयोगसे है या बालरविकी लालीसे ? श्लोक सुंदर है । चढ़ती रात चढ़ती जवानीका आलम लिये आती है । तब सुरुचि से सजे तनकी ज़रूरत होती है, गहनों की, जैसे चाँदनी रात चाँदके बावजूद इक्के-दुक्के अलंकारवत् तारोंसे सजती है । इशारा नई ज़िन्दगी की ओर है जिसकी प्रतीक नई रात है, मौतकी प्रतीक सुबहकी लाली है जो रातको मिटा देती है, उसका अन्त कर देती है, बुढ़ापेकी ओर संकेत करती है ।

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
अथोपयान्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥४५॥

इसकी भी शंका नहीं की जा सकती कि आप स्वर्गकी इच्छासे तप कर रही हैं । ऐसा करना सर्वथा व्यर्थ होता क्योंकि देवभूमि (स्वर्ग) तो आपके पिताकी भूमि स्वयं है, सारे देवताओंका निवास हिमालयमें ही है । और यदि पतिकी इच्छासे तप कर रही है तो भी व्यर्थ है—आखिर लोग रत्नको खोजते हैं, रत्न स्वयं लोगोंको नहीं खोजता फिरता । पर हाँ, एक बात ज़रूर है—

निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥४६॥

निरन्तर तुम्हारे आह भरनेसे मेरे मनमें एक शंका होती है, लगता है तुम्हारा मन कहीं अटक गया है, वर पानेकी साधना कर रही हो । पर मुझे तो लगता नहीं कि तुम्हारा भी कोई प्रार्थनाका भाजन हो, प्रार्थयितव्य हो, और तुम प्रार्थना करो, किसीको चाहो, और वह तुम्हें दुर्लभ हो । यह तो कयासके बाहर है, संभव ही नहीं जान पड़ता ।

अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ॥४७॥

कितना आश्चर्य कि तुम्हारा इच्छित तरुण तुम्हारी यह दशा कर दे कि तुम्हारे कपोल कानके कमलोंसे चिर शून्य हो जायँ, कि तुम्हारे कपोल-देशपर पके धानकी फुनगियोंकी-सी अस्निग्ध ढीली लटकी जटाओंकी वह उपेक्षा करता रहे । निश्चय वज्र हृदय होगा तुम्हारा वह प्रियपात्र ! बताओ तो भला—

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥४८॥

चान्द्रायण व्रतोंके आचरणसे अत्यन्त दुबली हो गई हो तुम, प्रचंड धूपके प्रभावसे आभूषणोंके स्थल—अंगांग—झुलसकर नीले पड़ गये हैं, दिनमें चन्द्रमाकी मलिन कला-सी जो तुम हो रही हो, तुम्हें देखकर कौन है हिया रखनेवाला मानव जो कातर न हो उठे ?

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः ॥४९॥

मैं तो बस एक बात जानता हूँ—अभागा है वह सौंदर्यमदसे वंचित (छला हुआ) तुम्हारा प्रिय जो मधुरदर्शी तिरछी पलकोंवाले इन नयनोंका चिर-लक्ष्य नहीं बन पाता !

अच्छा अब सुनो गोरी—

कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि विद्यते ममापि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः ।
तदर्धभागेन लभस्व कांक्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥५०॥

यह लंबी तपस्या छोड़ो। मेरी भी ब्रह्मचर्य जीवनमें की हुई तपस्या प्रभूत संचित है। उसका भी आधा भाग लेकर तुम अपना वह इच्छित वर प्राप्त कर लो। और उस वरको मैं भी तनिक विस्तारसे जाननेकी इच्छा करता हूँ, सो बताओ।

इस प्रकार कालिदासने यह संवाद-संदर्भ संपन्न किया है। सुसंस्कृत नागरिक-नागरिकाओंकी यह सुरुचिपूर्ण गिरा निश्चय वाणीकी अभिराम शालीनता प्रस्तुत करती हुई समकालीन शिष्ट वाक्य-परंपराका आदर्श है, बीच-बीचमें जो भाषाकी सुष्ठुता और अभिव्यक्तिकी कमनीयता स्फुटित होती है, उसका बखान करना कठिन है। मधुर और मदिर, शिष्ट और सुंदर, शालीन और समुचित इस वार्तालापके प्राण हैं, सर्वथा अनुकरणीय।

आभार स्वीकार—

कालिदासके अनेकानेक स्थलोंसे प्रगट है कि लोगोंका परस्पर व्यवहार सुरुचिसे भरा था। किया हुआ कार्य अथवा अनुग्रह सदा उनके आभारकी वस्तु होता था। उपकृत लोग साधारणतः 'प्रतिगृहीतोऽस्मि' आदि पदों द्वारा अपना आभार प्रदर्शन करते थे। अनेक बार यह आभारप्रदर्शन मंगल-कामना अथवा आशीर्वचनका रूप ले लेता था। 'मेघदूत' में जब मेघ यक्षसे करणीय निवेदित कर चुकता है और उसे बोध होता है कि मेघ उसका दौत्य संपन्न कर देगा तब यक्ष उसके प्रति आभार-प्रदर्शनके लिए उसे आशीर्वाद देता है—

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ।

इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥उत्तरमेघ, ५२॥

प्रिय, तुमसे मैंने अनुचितका निवेदन किया है। तुम पर कार्यका बोझ लादना अनुचित ही है। फिर भी मित्रतासे अथवा मुझे विरही जानकर दयाके विचारसे मेरा यह कार्य संपन्न कर देना। और तब वर्षाके दिनोंमें मनमाने देशोंमें विचरण करना। मेरी उत्कट कामना है कि तुम्हारा तुम्हारी प्रिया बिजलीसे क्षणभरके लिए भी वियोग न हो। यक्षके प्रसन्न जीवनमें बस एक ही दुःख आया था, पत्नी-वियोग, अत्यन्त कठिन। और वह चाहता है कि उस दुःखका सहन और किसीको न करना पड़े। कृतज्ञ, वह मेघके पक्षमें उस स्थितिका परिहार करना चाहता है जिसकी दारुणता से वह स्वयं इतना कातर और करुण हो उठा है।

कोमल पदावली—

पदलालित्य और कोमल पदावलियोंसे तो कविका समूचा काव्य भरा है। सुंदर और ललित प्रसंग तो इतने अधिक हैं कि उनपर एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा जा सकता है। उनकी ओर स्थान स्थानपर संकेत इस ग्रंथमें भी किया गया है। यहाँ स्थालीपुलाकन्याय विधिसे केवल दो-एक उक्तियोंका उल्लेख होगा। वर्णन 'मेघदूत' में शिप्रा तीरवर्ती नगरी उज्जयिनीका है जिसके लिए कविकी विशेष कमज़ोरी है—

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥३१॥

अनुपम आचरण है शिप्राके जलके स्पर्शसे आर्द्र इस पवनका। उज्जयिनीकी मदिर नारियोंके संभोगकी थकानको वह उनके अंगांगोंको परस-परसकर दूर करता है, चाटुकार है, विनीत परिचर, 'प्रार्थयिता नर' सुरतशैथिल्यको

सुवचनसे, शीतलवायुसे, स्निग्धस्पर्शसे दूर करनेवाला प्रणयी है वह। सुमधुर कूजनेवाले सारसोंकी कलकलको वह पवन अपने पंखपर लिये दिगंत तक व्याप जाता है, प्रातः खिलनेवाले कमलोंकी गंधमें वह जा बसता है। अनुरागसिक्त वह स्वयं विलासप्रिय है, विलासियोंका प्रियसाधक।

शिवकी पूजाके लिए सखियोंके साथ जाती उमाका कविने अत्यन्त आकर्षक वर्णन किया है। दृश्य अत्यन्त कोमल है, भावोंका वितन्वन नितांत मृदु। कमलदंड लिये विजय वैजयन्ती फहराती उमा भ्रमर द्वारा पीड़ित होती है। लाल होठोंसे निरंतर मधुर सुगंधयुक्त निकलती साँसको पीनेकी इच्छा भ्रमरमें क्षण-क्षण बलवती होती जाती है। इससे वह सदा उमाके बिम्बाधरोंपर मंडरा रहा है। क्षण-क्षण जैसे वह उनपर टूटता है, क्षण-क्षण उमा हाथके कमलदण्डसे उसका निवारण करती है (लीलारविन्द तबकी नारियोंके मंडनका एक अंग था, उसे धारणकर वे बाहर निकलती थीं), और उस क्रियामें उनका सौंदर्य बस देखने ही लायक होता है। इतस्ततः उड़ते भ्रमरकी गतिचारिणी उसकी डरी आँखें कहीं रुकतीं नहीं, इससे उनका सहज चापल्य और भी बढ़ जाता है। और कमलका सहज प्रणयी भ्रमर जब लीलारविन्दके मकरन्दका इच्छुक नहीं, उन बिम्बाधरोंका है जिनसे पद्मरजसे कहीं अधिक सुरभित, कहीं मदिर निःश्वास निकल रही है। लीलारविन्द तो उसके निवारणका साधन बन गया है, आकर्षणका नहीं। मधुराधरोंकी माधुरीका संकेत कालिदास अपने प्रिय अभिप्राय-प्रतीक अधरासन्न भ्रमर द्वारा करते हैं। 'शाकुन्तल' में भी शकुन्तलाके अधरलोलुप भ्रमरका निवारण कविका प्रिय प्रसंग है जिससे नायक दुष्यंतका उद्दीपन होता है। 'कुमारसंभव' का प्रासंगिक वर्णन इस प्रकार है—

सुगन्धनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥३,५६॥

ऐसा अभिराम आकर्षण कामदेवका उत्साह-वर्धन क्यों न करे। क्यों न वह अपने इष्टसाधनके निमित्त तत्काल प्रस्तुत हो जाय चाहे उसका लक्ष्य जितेन्द्रियशूली शिव ही क्यों न हों ? इसी स्थितिसे उसका उत्साहहीन हृदय सहसा आशासे भर जाता है और अवधूत शंकरके हिए तकको बेध देनेका साहस कर वह हाथोंसे सरका धनुष धीरे-धीरे उठा लेता है—

तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम् ।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे ॥५७॥

नीचे 'शाकुंतल' का एक स्थल शकुंतलाके कोमल गात और आश्रमकी कठिन क्रियाओंके वैषम्यपर व्यंग करता है—

इदं किलाव्याजमनोहरं वपु-
स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१, १६॥

कितना निन्दनीय है महर्षि कण्वका यह आचरण जो शकुन्तलाकी इतनी कोमल कमनीय मनोहर कायाको आश्रमके कार्योंमें जोत रखा है। और इतने मृदुल तनसे जो तपकी साधना पूरी करना चाहता है निःसंदेह वह पद्मपंखुड़ीकी धारसे शमीका वृक्ष काटनेकी इच्छा करता है। कितना अनुचित है यह, कितना असंभव !

उसी शकुन्तलाकी एक प्रणय-विकलस्थितिका वर्णन इस प्रकार है—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥२, १२॥

लौटकर जानेके लिए तन्वंगी शकुन्तला अभी दो-एक पग ही चली थी कि

सहसा अकारण रुककर खड़ी हो गई, इस बहाने कि उसके पैरमें कुशका अंकुर चुभ गया। कुश स्वयं तो तेज़ होता है पर उसका अंकुर नितांत कोमल होता है। सो अगर उसके चुभ जानेका झूठा बहाना भी किया जाय तो परिणाममें वह क्रिया कुछ महत्त्वकी न होगी। हाँ, उससे पदकी कोम-लताका निर्देश अवश्य हो सकता है। यहाँ कविने बहानेकी अशक्यता द्वारा नायिकाकी कोमलता साधी है। वस्तुतः बहानेकी अशक्यता तो नायकपर प्रगट है ही क्योंकि उसकी रिक्तताका वर्णन वह स्वयं करता है, पर जिस मृदुलताका कवि उसपर प्रभाव डालना चाहता है, उसकी अभिव्यक्ति निश्चय इस 'दर्भांकुर' पदके प्रयोगसे समुचित हो जाती है। इसी प्रकार पेड़-पौधोंकी शाखाओंमें बगैर उलझे बल्कलको भी उनसे छुड़ानेका व्यापार करती केवल रुककर शकुन्तला दुष्यंतको देखनेका उपक्रम करती है। जो भी हो, वर्णन शकुन्तलाकी स्थितिको सर्वथा चित्रार्पित कर चितेरेके लिए आदर्श अभिप्राय प्रस्तुत करता है—कुशके अंकुरसे छिदे पदतलको जैसे-तैसे सम्हालती वह स्वयं सम्हलती है कि इतनेमें पेड़ोंकी शाखाएँ जैसे उसके बल्कलसे उलझ जाती हैं। फिर वह बल्कलको सम्हालने लगती है। इस प्रकार काँटा चुभनेसे सिसकारती बल्कलको पेड़की डालीसे हटाती-सी शकुन्तला सिर हल्केसे उठाये वस्तुतः देख दुष्यन्तकी ओर रही है, काँटे और बल्कल दोनोंसे दूर मात्र दुष्यंतकी दिशामें खोई। निःसंदेह राग और तूलिकाका विषय है वह।

शकुन्तलाके पैर ऊबड़-खाबड़ धरतीपर उल्टे-सीधे पड़ते जा रहे हैं। कारण कि सही तौरपर वह देख नहीं पाती, कारण कि आँखें आश्रम छोड़ते समय, आश्रमके पशु-मानव छोड़ते समय आँसुओंसे भर गई हैं, और आँसुओं से भरी होनेसे बन्द नहीं हो पातीं, पलकें ऊपरकी ऊपर ही टँगी रह जाती हैं। इससे कण्व अपनी कन्या शकुन्तलासे कहते हैं कि बेटी, धीरज धरकर आँखोंको पोंछ डाल जिससे पलकें उठने-गिरने लगें, ठीक-ठीक देखने लगें, ऊँची-नीची भूमिपर पैर सही-सही पड़ने लगें। यह कविकी सूक्ष्म निरीक्षण

शक्ति है जिसने भरी आँखोंकी यह असुविधा देख ली। इस प्रकारके निरीक्षणका प्रभाव काव्यने न जाना, यह कालिदासका अपना है—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
वाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥४,१४॥

शकुन्तलाका अपने पुत्र करके माने हिरण द्वारा मार्ग रोक लेना हमें कवि की उस महामानवीयतासे परिचित कराता है जो संस्कृत कवियोंकी सहज सम्पत्ति है और जिसमें कालिदास अपना सानी नहीं रखता। उसके मानस की असीम परिधिमें पशु-पक्षी-मानव धारिणी समूची प्रकृति समा जाती है। सो वह बालमृग शकुन्तलाके प्रति पुत्रवत् आचरण करता है। पतिगृह जाती हुई की राह वह मचलकर रोक लेता है। क्यों न हो, शकुन्तलाने उसका मातृवत् पालन भी तो किया है—कुश खाते समय छिलकर घायल मुँहके घावको इंगुदीका तेल लगाकर उसने अच्छा किया है, मुट्ठी भर भर सावेंके दानेसे उसने उसे पाला है, और आज जब स्वयं उसकी प्रेय वात्सल्यको भुलाकर अपने प्रियकी ओर प्रयाण कर चली है तब भला वह स्वजन उसकी राह क्यों छोड़े ?—

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥४, १३॥

शकुन्तलाके दरबारमें पहुँचकर दुष्यन्तके साथ अपने दाम्पत्यका बोध कराने पर भी राजा दुर्वासाके शाप वश *'कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव'* (पागलकी तरह पहलेके किये कार्योंको) उसे पहचान नहीं पाता। पर इतनी कोमल कमनीयताको, इतनी अभिराम सुंदरताको, छोड़ भी नहीं

पाता। क्या करें फिर वह ? सन्देह, सुरुचि, सौंदर्यका अद्‌भुत समागम है यह, कठिन परीक्षा भी, जब सौभाग्य लक्ष्मी स्वयं अपना सर्वस्व न्योछावर कर रही है, पर अनिश्चित उसकी क्रियाशीलता मन्त्रबद्ध सर्पकी भाँति किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहती है। नैतिकता और पौरुषमें होड़ है यह। कान्ता और कन्त हन्त की दुरभिसन्धिसे करणीयके प्रति हतप्रभ हैं। इतना अद्‌भुत स्पृहणीय रूप स्वयं उपस्थित और राजा उसके स्वीकरणमें इतना अशक्य। कुछ निश्चय नहीं कर पाता, क्या करे, ले ले या तज दे—याद भी नहीं आता उसे पत्नी रूपमें कभी ग्रहण भी किया था। उसकी स्थिति ठीक उस अभागे भौंरे की हो गई है जो प्रातःकालीन ओसकी बूदोंसे भरे कुन्दके फूलके चारों ओर बस मंड़राता रहता है, न तो उसपर बैठकर उसका रस ही चूस पाता है न उसे छोड़कर जा ही पाता है। ऐसा रूप जिसका भोग भी संभव नहीं, त्याग भी असंभव है, कितना चिन्त्य होगा—

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेति व्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्॥५,१९॥

उस शंकाकी पुष्टि, अपने किये की संभावना, राजा शकुन्तलाके धर्मसंमत क्रोधमें पाता है। उससे उसके संदेहको और बल मिलता है और कविकी वाणी अद्‌भुत कौशलसे नाटकीय व्यंग्यका उद्‌घाटन करती है—

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य॥५, २३॥

क्रोध इसका सत्यसे उद्वेलित है, आखिर अकारण कोई इस प्रकार दाम्पत्य का प्रस्ताव कर इतना क्रोध नहीं करता। मेरा मन भी परिणामतः सन्दिग्ध

होता जा रहा है, सन्देह उसके पक्षमें है। और जो मैं अकेलेमें किये इसके प्रति अपने प्रणयको स्वीकार न कर कठोर आचरण कर रहा हूँ, उससे इस नारीके नयन क्रोधातिरेकसे लाल हो गये हैं, तेवर चढ़ गये हैं, भवें तन गई हैं, धनुषाकार। और इसकी भवोंके धनुषने तो निश्चय कामदेव-की कमानको भी दो टूक कर डाला है।

विरहके क्षणोंको लंबायमान और असहाय करने वाली पदावली उन्हीं क्षणोंको निम्नलिखित श्लोकमें व्यक्त करती है--

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम् ।
तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं
नेता जनस्तव समीपमुपेष्यतीति ॥६, १२॥

'एक-एक दिन मेरी इस मुँदरी पर खुदे नामका एक-एक अक्षर पढ़ौ। इस प्रकार पढ़ते-पढ़ते जब अक्षर चुक जायँ, तब अगले दिन, जानो प्रिये, मेरे अन्तःपुरसे भेजा कोई जन आयेगा जो तुम्हें मेरे समीप पहुँचा देगा।' अद्भुत मन्थर भारती इन पंक्तियोंकी है—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम् ।

अत्यन्त मन्थर और 'दिवसे' को दुहरा देना तो जैसे करुणाको फेर-फेर लौटा लेना है। लगता है दिवस-दिवसकी उस गणनाका कभी अन्त ही न होगा। पदकी मन्दगतिमें जैसे गणनाकी अनातुरता अभाग्यके साथ जा पैठी हो और धीरे-धीरे उस आश्वासनकी प्रतीक्षाका सर्वथा लोप भी हो गया हो। जो भी हो इन पंक्तियोंकी करुणा अपरिमेय है, जितनी शकु-न्तलाके लिए उतनी ही दुष्यंतके लिए भी।

इस करुण स्थलका सहज विकास आगे दुष्यंतकी कही लाइनोंमें हुआ है, जब वह चेतन-अचेतनका अन्तर भूल जाता है—

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं
करं विहायासि निमग्नमम्भसि ।
अचेतनं नाम गुणं न लक्षये-
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥६,१३॥

अंगूठी, भला तू उस सुंदर अंगुलियोंवाले करको छोड़ जलमें क्यों कूद पड़ी ? पर तुझ अचेतनसे भी भला क्यों पूछना ? नाम और गुणकी परख न करना तुम्हारे लिए अस्वाभाविक न था । जब मुझ जैसे 'सर्वातिरिक्तसार' मानव-की यह स्थिति है कि नाम-गुणकी यह पहचान रखता भी वह अपनी पत्नी का निरादर कर सकता है, उसे पहचाननेमें चूक जाता है, फिर तुम्हारा तो दोष ही क्या ? पंक्तियाँ चमत्कारकी नहीं सहज और प्रसादकी परि-चायक हैं निश्चल भावविन्यास की ।

निचली पंक्तियोंमें कालिदासने कोमलताकी पराकाष्ठा कर दी है । दुष्यंत शकुंतलाका चित्र बना रहा है विदूषकको उसे दिखाते हुए उसकी अपूर्णताकी बात कहता है । उसमें अभी क्या-क्या करना शेष है इसकी व्याख्या उसने जिन शब्दोंमें की है वे असाधारण कोमल हैं, नितांत मृदुल—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥६, १८॥

सखे, अभी तो मैंने कानों पर सिरसके फूल भी नहीं बनाये जिनकी केसर कपोलों तक फैल जाती है । और न ही शरद्के चन्द्रमाकी किरणों-सा कोमल कमलदण्डका सूत ही स्तनोंके बीच रचा है । अभी तो इतनी अभिराम रचनाएँ रह ही गईं जिनसे इस चित्रको सनाथ करना है । कानों से कपोलों तक पर लटकने वाले और अपनी लाल रजसे श्वेताभ कपोलोंको

रँग डालने वाले फूलका आभूषण कालिदासकालीन प्रमदाओंको तो प्रिय था ही, उसका काव्याकलन कविके लिए भी सहज था, विशेषकर जब नारीके कोमलांगोंका वर्णन अभीष्ट हो। गुप्तकालीन सौंदर्याभिव्यक्तिमें पीन-पयोधरोंका स्थान विशिष्ट था। तत्कालीन नारी-मूर्तियोंमें भी स्तनों की पीवरता कुछ ऐसी कोरी गई है कि कालिदासके सौंदर्यकी ही भाँति वे एक-दूसरेका संपीड़न करते रहते हैं। इस प्रसंगसे गुप्तकालीन कवि और कलावन्त दोनों समान अभिप्रायके उपासक हैं। और स्थितिको कवि ने अपनी उक्ति-वैचित्र्यसे और भी सँवार दिया है। मृणालसूत्र स्वयं अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल होता है पर उसकी सूक्ष्मता और कोमलता को कालिदासने अपनी उपमासे सूक्ष्मतर और कोमलतर कर दिया है। जिस मृणालसूत्रसे दुष्यन्तको शकुन्तलाका स्तनान्तर भरना है वह शरच्चन्द्रकी किरणों-सा कोमल है। किरणकी तरह कोमल होना स्वयं कोमलताकी पराकाष्ठा है, पर कालिदास द्वारा व्यंजित किरण साधारण चंद्रमा की भी नहीं, शरद् ऋतुके चन्द्रमाकी है, जो निरभ्र आकाशमें विचरता है, जिसकी किरणोंका उनकी सूक्ष्मताके कारण बोध हो सकना प्रायः असंभव है। चन्द्रमाकी किरणें बादलोंके स्पर्शसे 'करों'की भाँति अलग-अलग दिखने-सी लगती हैं, पर शरद्की मेघहीन मरीचियोंकी कोमलता और सूक्ष्मताके तो क्या कहनें। बारीकी और उपमाकी मर्यादामें कविने एक मान रख दिया है।

उक्ति-वैचित्र्य—

उक्तिकी विचित्रता, असाधारण और असामान्यके उद्गीरण और प्रांजल-गिराके ऐश्वर्यमें कालिदास अनुपम हैं। प्रबंधकाव्यगत परिस्थितियों का कविने अनेक बार शालीन आचरणसे निर्वाह किया है। उदाहरणार्थ 'रघुवंश'के चौदहवें सर्गमें उसने राम, सीता और लक्ष्मणका कौशल्या आदि माताओंसे मिलनका कारण वर्णन किया है। कौशल्या और सुमित्राके

संबंधकी परिस्थिति तो साधारण करुण है, पर कैकेयीसे रामादिका मिलन निःसन्देह साधारण नहीं है, संकोच, करुणा, लज्जा आदिका स्थल है। उसका निर्वाह निश्चय कठिन है, कैकेयी और राम दोनोंके लिए। एकका दूसरे के लिए आदर-भाव रहते हुए भी किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति उत्पन्न हो सकती थी पर उसे कविने सहज और अत्यन्त स्वाभाविक विधिसे सम्हाला है। बिना किसी संकल्प-विकल्पके रामको कैकेयीके सामने ला खड़ा कर, अभिराम वक्तव्य द्वारा विमाताके संकोचका अन्त कर दिया है। कैकेयी निःसन्देह अपने किये पर लज्जित हो कुछ कहना चाहेगी, पर कुछ अजब नहीं कि उसका वक्तव्य व्यंग्यका आभास उत्पन्न कर दे। इससे उसकी संकोचशील अपराधी स्थितिका निवारण पुरुषोत्तम रामको ही करना है। सो तबका रामका आचरण असाधारण श्लाघ्य हो उठता है—

कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुर्नः।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥१६॥

आत्मग्लानिसे जर्जर भरतकी माताके कुछ कहनेके पूर्व ही राम उनकी मुश्किल आसान करते हुए हाथ जोड़ कह उठते हैं—माँ, वरदानवाली प्रतिज्ञाकी रक्षा तुम्हारे वरदान माँगनेसे हुई, और पिताका वह आचरण निःसन्देह उनके प्रण-विचलित न होनेसे उनके स्वर्ग-फलकी प्राप्तिका कारण हुआ, यह विचारणीय है, अन्य नहीं। और भरतका किंकर्तव्यविमूढता, उनके कियेका संकोच, अनुचितकी लज्जा सब एक साथ तिरोहित हो गये। कविने अपने वक्तव्यमें कैकेयीको कैकेयी नहीं, भरतकी माता कहा है, क्योंकि आत्मग्लानि और लज्जाकी स्थिति तभी संभव है और वह तभी रामके अकृत्रिम सदाचरणका प्रतिचित्र उपस्थित कर सकता है। पर स्वयं अपने वक्तव्यमें राम विमाताका समुचित आत्मीयता द्योतक 'अम्ब' शब्द से संबोधन करते हैं। स्वयं कैकेयीको रामने कुछ कहने नहीं दिया। उसकी स्थिति कुछ कह सकनेकी न थी। कुछ कह देनेसे उसके अपराधकी गुरुता किसी अंशमें कम न हो पाती। उसकी ग्लानिकी अभिव्यक्ति जिस

मात्रामें चुप रह जानेमें है उसी मात्रामें परिस्थितिकी सम्भाल रामकी उदार सदाशयतामें है। रामका औदार्य ही उसे सम्हाल सकता था। और उस परिस्थितिके निर्वाहके लिए कविने अपने प्रबन्धके कथानकमें एक विशेष परिवर्तन भी किया है। उसने तीनों माताओंको एकत्र नहीं किया, क्योंकि तीनोंकी करुणा एक-सी नहीं है, कौशल्या और सुमित्राकी पुत्र-मिलनसे जनित अनुभूति उस परिस्थितिकी कठिन कारण और गृहस्थिति की जननी कैकेयीकी अपराधी अनुभूतिसे सर्वथा भिन्न है। इससे जहाँ राजप्रासादसे बाहर दोनों अपने पुत्रोंका सावेग स्वागत करती हैं वहाँ कैकेयी अपनी करनीसे लज्जित और विषण्ण पछतावेकी मारी उसी प्रासाद में मूर्तिवत बैठी है जिसमें दिवंगत पतिका चित्र भी टँगा है। राम वह चित्र देखते हैं और माताओंकी संवेदनासे द्रवित पिताके चित्रसे और भी द्रवित हो जाते हैं। पर आगेकी करुण स्थिति और भी शोचनीय है, उसका सामना करनेके लिए और भी आर्द्र होनेकी आवश्यकता है। इससे दिवंगत पिताके चित्र द्वारा, जो चित्र ही पिताविरहित शून्य प्रासादको भर रहा है, नितांत आर्द्रकर रामको 'बाष्पायमाण' (आँखोंमें आँसू भरे) कर विमाताके समीप भेजता है और वचनीयको व्यक्तकर उसे ग्लानिसे मुक्त करता है—स्वर्ग फलको दिलाने वाला, माँ, वह तुम्हारा आचरण विचारणीय सुकृत ही है—विमाताका संकोच नष्ट हो जाता है।

चित्रस्थ किंकर्तव्यविमूढ़ताका एक चित्रण 'रघुवंश'के दूसरे सर्गमें भी हुआ है। राजा दिलीप धेनुकी सेवामें वन-वन घूम रहे हैं, सहसा शिवका सिंह धेनु पर आक्रमण करता है। उसके वधके लिए राजा का हाथ सहसा वाण निकालनेके लिए तरकश पर चला जाता है। पर सिंहके लोकोत्तर होनेके कारण राजाकी उँगलियाँ तरकशसे सट जाती हैं और वह किंकर्तव्यविमूढ़ चित्रलिखित-सा हो जाता है—

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥

इस प्रकार वाणके पंख राजाके दाहिने करके नखोंकी ज्योतिसे चमके जैसे वह किंकर्तव्यविमूढ़ स्थितिका लक्ष्य नहीं बल्कि चित्रकारने उसका चित्र ही वाण निकालते हुए खींचनेका उद्योग किया है। असाधारणका नितांत साधारणमें आधान कर कविने पूर्ण परवश-निष्क्रियताकी अभिव्यक्ति की है। यह वैज्ञानिक भाषामें काइनेटिककी स्टैटिकमें पराकाष्ठा है, अतिगतिकी अतिस्थिरमें।

वस्तुतः समूचे प्रसंगमें मनुष्यभाषी मृगेन्द्रने एक धर्मसंकट उपस्थित कर दिया है। वह कहता है कि राजा, तुम इस एक गायकी रक्षा कर थोड़के लिए बहुतका घात क्यों करते हो? एककी जगह तुम करोड़ों गायें गुरु वसिष्टको दे उनके क्रोधका शमन और आवश्यकताकी पूर्ति कर सकते हो। पर इस अकिंचन गायके बदले मेरी बुभुक्षाशांतिके अर्थ अपने शरीरको अर्पण कर तो तुम अपनी असंख्य प्रजाको पितृहीन और अनाथ कर दोगे। सो लौटकर अनंत गायोंके दानसे मुनिकी विधिक्रिया सम्पन्न कर अपनी प्रजाकी पितावत् रक्षा करो और शिव द्वारा व्यवस्थित मेरी इस 'अंकागत-सत्त्ववृत्ति' (पहुँचकी परिधिमें आये जीवका आहार) का आदर करो। बात सचमुच विचारनेकी है। कहाँ एक गायकी कालके कारण और राष्ट्रकेंद्र राजाका अपने प्राणोंके मोल रक्षा करना कहाँ असंख्य प्रजाका रंजन, निःसंदेह सिंहकी सलाह अर्थ रखती है। धर्मसंकट अनिवार्य है। पर राजा को सहसा सत्यका साक्षात्कार होता है और वह 'राजा' और 'क्षत्रिय' शब्दोंके रूढ्यर्थोंपर क्षण भर विचार करता है। सहसा उसका पथ औचित्य के प्रकाशमें आलोकित हो उठता है और वह कह उठता है—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥

क्षत (आघात, नाश) से रक्षा करना ही क्षत्रिय शब्दका मूल अर्थ है, यदि अपनी संज्ञाके इस मौलिक अर्थसे अपने आचरणमें विमुख या प्रतिगामी होता हूँ तो मेरा समूचा अस्तित्व ही अर्थहीन हो जाता है। उस

राज्यसे भला क्या लाभ जिसके आदर्शोंके विपरीत आचरण किया जाय ? इस प्रकार राजा अपने धर्मसंकट और अपनी चित्रार्पितकी-सी मूढ़स्थितिकी रक्षा करता है।

'कुमारसंभव'के सातवें सर्गमें उमाके विवाहार्थ मण्डनका वर्णन है। कन्याके ललाट पर माता मेना तिलक करने चलती है। कर्णफूलोंसे सजा सुन्दर मुखड़ा ऊपर उठाती है। उंगलियोंमें मांगलिक गीली हरतालयुक्त मैनसिल लगी है। उसे वह जैसे-तैसे उसके ललाट पर लगा देती है। पर सुन्दरता कुछ ऐसी है कि ठगी-सी रह जाती है, मन कहींका कहीं चला जाता है। शिवकी भी याद आती है और उमाके जवानी भरे सौभाग्य-की ओर उनका हृदय आनन्दसे भर जाता है, आँखोंमें आनन्दके आँसू छा जाते हैं। आँसू छा जानेसे ठीक दिखाई नहीं पड़ता और कंगनको कहींका कहीं पहना देती है। तब धायको उसे सरका कर यथास्थान करना पड़ता है। भावोंमें खो जानेका यह वर्णन सुन्दर है—

बबन्ध चास्राकुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसन्निवेशाम् ।
धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम् ॥२५॥

प्रसाधनने स्वाभाविक सौन्दर्यवती उमाके रूपको असाधारण चमत्कृत कर दिया। नया वधूचित क्षौम (रेशमी) दुकूल और नया दर्पण धारण कर वह शुक्लवसना उमा कुछ ऐसी चमक उठी जैसे पूर्ण चन्द्रमासे पुलकित शरद्की रातमें क्षीरसागरकी झागसे भरी लहरीवाली तीरभूमि—

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा ।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना ॥२६॥

सौन्दर्यको मुखरित करनेवाली इस श्लोककी भारती भी अति मधुर है।

मगर किंकर्तव्यविमूढ़ताका सबसे हृदयग्राही वर्णन तो कालिदासने 'कुमारसंभव' के पाँचवें सर्गमें किया है जिसका सानी संसारके साहित्यमें मिलना कठिन है। उमा शिवके लिए घोर तप कर रही है। शिव उस

१५

तपकी प्रखरतासे आकृष्ट हो उसका यथेच्छ फल देने उमाके निकट ब्रह्मचारीके वेशमें जाते हैं। उमा उनका आतिथ्य सत्कार करती है। फिर दोनोंमें उस तपके कारण पर वार्तालाप होता है जिसमें ब्रह्मचारी शिवको बुरा-भला कहते हैं और उमा उनको कुवाच्य भाषणके लिए धिक्कारती है। इस प्रकार उमाका प्रेम-सम्बन्धी परीक्षण कर जब शिव ब्रह्मचारीका रूप छोड़ अपना प्रकृत रूप धारण करते हैं तब उमाकी स्थिति अत्यंत चिन्त्य हो जाती है। अपने प्रियको सहसा सामने देख वह घबड़ा उठती है, तनसे पसीना छूटने लगता है, बदनमें कंपकंपी समा जाती है। वह एकाएक खड़ी हो जाती है और वहाँसे चले जानेका उपक्रम करती है, पर डग भर नहीं पाती। डग उठा ज़रूर पर उसे आगे रख नहीं पाती और उठा हुआ पैर उठाका उठा ही रह जाता है, ठीक उस नदीकी धाराकी तरह जिसके प्रवाहकी राहमें पहाड़ आजाय और धाराकी गति सहसा रुक जाय, न आगे बढ़ सके न पीछे ही हट सके। दुविधा, घबड़ाहट और किंकर्तव्यविमूढ़ताका ऐसा वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं हुआ—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥८५॥

इस स्थितिका चमत्कार किसीके लिए भी असह्य हो सकता है उस प्रणय-पात्रके लिए तो कहना ही क्या जिसके लिए उस "शैलाधिराजतनया" (नाम—पर्वतराज हिमालयकी कन्या—में भी नदीकी ध्वनि है) ने सब कुछ तजकर कठोर तप किया था और जिसके स्वरूपदर्शनसे उसकी वह गति हुई थी। इसीका तो यह प्रभाव हुआ कि शिव हाथ जोड़कर उमाके सामने खड़े हो गये, बोले—अवनतांगि, जानो, आजसे मैं तुम्हारा तप-खरीद गुलाम हुआ, तुम्हारे तपसे खरीदा हुआ दास। और चन्द्रमौलि शिवके

इतना कहते ही उमाकी तपसे जनित सारी थकान, विरहसे जनित समूची वेदना, सहसा लुप्त हो गई। क्योंकि क्लेशसे जर्जर शरीरमें भी इष्टकी प्राप्तिके बाद नवता आ जाती है, नई स्फूर्ति पैदा हो जाती है—

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥८६॥

सुन्दर और अनोखी उक्तियाँ कालिदासके वर्णनमें स्वाभाविक बिखरी पड़ी हैं। 'मेघदूत' में उज्जयिनीका वर्णन अपूर्व है, उसकी नारियोंका वर्णन अपूर्व है, उसके महाकालके नर्तकियोंकी आचार-मुद्राका वर्णन अपूर्व है। महाकालके मन्दिरमें भी अन्य देवालयोंकी भाँति वेश्याओं या देवदासियोंकी नाचने-गानेके लिए नियुक्ति होतो थी। कालिदास कहते हैं, उज्जयिनीके महाकालके मन्दिरमें वेश्याएँ नाच रहीं होंगी। संध्या समय नाचमें चरणों को निरन्तर फेंकती हुई उन वेश्याओंकी करधनीके घुंघरू मधुर बज रहे होंगे, उनके कंकणोंके रत्नोंकी चमकसे दमकते चँवरोंके निरंतर डुलाते रहनेसे उनके हाथ सर्वथा थक गये होंगे। तब तुम अपनी वर्षारंभकी नन्हीं बूंदे डाल उनके नखक्षतोंकी जलन मिटा देना, शीतल कर देना। फिर तो बड़ा उपकार मानेंगी तुम्हारा वे वेश्याएँ। भौंरोंकी पाँतकी तरह अपनी काली लंबी पलकोंवाली आँखोंके कटाक्ष देर तक तुमपर फेंककर वे तुम्हें निहाल कर देंगी, आभार प्रदर्शन करेंगी—

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥पूर्वमेघ, ३५॥

उसी पूर्वमेघमें कैलास पहुँचनेसे पहले मिलनेवाली हिममंडित हिमालयकी

चोटी पर विश्राम करते मेघका कविने बड़ा भव्य वर्णन किया है। उस हिमाच्छादित गिरिशिखरकी ओरसे ही गंगाकी धारा आती है, उसकी शिलाएँ कस्तूरी मृगोंके निरंतर बैठते रहनेसे सुरभित रहती हैं। जब उस चोटीपर दम लेनेके लिए तुम ठहरोगे तब ऐसा लगेगा कि शिवके धवल नन्दीकी सींगपर वप्रक्रीडा (मिट्टीके टीलोंपर बरसातमें टक्कर मारते रहने) से कीच जम गई हो—

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्षस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५२॥

उपमा भी इस चोटी पर बैठे मेघकी वृषभ-सींगपर लगी कीचसे असाधारण है। वप्रक्रीड़ामें लगे साड़ोंकी सींगोंपर जमी यह पंक वर्षा ऋतुमें गली-गलीमें देखी जा सकती है। अद्भुतकी अवधारणा साधारण द्वारा होती है। इसी साधारणका उदाहरण उपमाको सार्थक और चरितार्थ करता है। आगेके एक श्लोकमें इसके विपरीत रूप खड़ाकर अद्भुत उक्तिकी कविने अभिसृष्टि की है—

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥५८॥

कुछ और ऊपर जाते ही तुम्हें कैलास पर्वत मिलेगा। हिमकाय होनेसे वह स्फटिकवत् दरपन-सा लगता है। देवनारियाँ उसमें अपना मुँह देखा करती हैं। उस कैलासको झकझोरकर रावणने कभी उसके जोड़-जोड़ ढीले कर दिये थे। खिले सफेद कोईं (कमल) की पंखुड़ियोंकी तरह उसकी चोटियाँ आकाशमें दूर-दूर तक फैली हुई हैं। लगता है, जैसे शिवका रोज़-रोज़का

अट्टहास इकट्ठा होकर राशीभूत हो गया हो। हास्यका रंग श्वेत माना जाता है, अट्टहासमें हास्यका ठोसपन ध्वनित है। कैलासकी ऊँचाई प्रायः बीस हज़ार फुट हिमालयमें सदा कुहरा जमा रहता है। विशेषकर वर्षाकालमें घनीभूत बादल वहाँ ठसे रहते हैं, जिससे अट्टहासके शब्दका भी भाप बनकर राशीभूत हो जानेकी कल्पना कविके चित्तमें सहज ही आ गई, यद्यपि समूची उपमा सहजबुद्धिके परेकी है। और इस अट्टहासका चोटियोंकी ही भाँति आकाशमें फैल जाना प्रकृतिके महातत्त्वोंके स्वभावकी ओर संकेत करता है। शब्द आकाशका गुण है जो गगनमें व्याप्त होता है, शब्दायमान अट्टहासका आकाशमें व्यापक प्रसार कविको शब्द और आकाशके सान्निध्य-से सहसा और स्वाभाविक ही याद आ गया।

एक अत्यंत सुंदर और सूक्ष्म वर्णन नीचेके श्लोकमें हुआ है। रघुका उनके पिताके यज्ञाश्वके चोर इन्द्रसे युद्ध हो रहा है। दोनोंने एक-से-एक बढ़कर हस्तलाघव दिखाया है। अन्तमें देवराजके वज्रसे घायल हो रघु गिर पड़ता है। शीघ्र ही वह संज्ञालाभ कर उठ भी जाता है। इस स्थिति-का वर्णन कविने असाधारण चमत्कार और अद्भुत कवि-कौशल द्वारा किया है। कहता है, रघु उस वज्रकी घनी चोट खाकर धरापर सैनिकोंके आँसुओंके साथ गिरा, पर क्षणमात्रमें उस चोटकी व्यथाको झेलकर युवराज सैनिकोंकी हर्षध्वनिके साथ उठ खड़ा हुआ—

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः॥
रघु० ३, ६१॥

नितांत थोड़े शब्दोंमें युवराज और उसके सैनिकोंके चार कृत्योंका इस श्लोकमें कविने वर्णन किया है—रघुके गिरने और उठनेका, सैनिकोंके रोने और हँसनेका। इस वर्णनमें कारण और कार्य इस प्रकार संपृक्त हो गये हैं कि अभिव्यक्ति असाधारण सफल हो गई है। युवराजके गिरनेके साथ

ही उसके सैनिकोंके अश्रु गिरने लगते हैं, उसके उठनेके साथ ही उनकी हर्षपूरित जयजयकार दिगंतमें व्याप्त हो जाती है।

वही रघु जब पिताके सिंहासनपर बैठता है तब उसके चारों ओर प्रभामण्डल बन जाता है। कवि कहता है कि लगता है कि स्वयं लक्ष्मी उस प्रभामंडलके माध्यमसे (लक्षणाके बहानेसे) उस सम्राट् पद पाये रघुके ऊपर कमलछत्र धारण किये हुए है—

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ वही, ४, ५ ॥

गुप्तकालीन देवमूर्तियोंमें सदा इस छायामंडल (प्रभामंडल) का छत्र छाया रहता है। उसपर अनेक प्रकारके अभिप्राय उत्खचित रहते हैं। ऐसे प्रभामंडल-छत्रोंपर अक्सर प्रफुल्ल कमलकी पंखुड़ियाँ बनी रहती हैं जिनसे छत्र की खड़ी भूमि सर्वथा भर जाती है। कविने कमलके सान्निध्यसे प्रच्छन्न लक्ष्मीकी वह उपस्थिति मानी।

इस प्रकार हिमालय और रघुके महत्त्वका परस्पर स्वीकरण भी कविने बड़ी खूबसूरतीसे कहा है। दोनों उदारमना महापुरुष जब एक दूसरेके सामने भेंटकी वस्तुएँ हाथमें लेकर खड़े हुए तब उन्होंने एक दूसरेकी महत्ता जानी—

परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥४,७९॥

जब हिमाद्रिने कीमती उपायन राजाको भेंट किये तब राजाने हिमाद्रिका महत्त्व जाना और जब राजाका युद्धकौशल हिमाद्रिने देखा तब उसने जाना कि राजा कितना सारवान्, कितना शक्तिमान् है। पर इस श्लोकका सौंदर्य उसके अर्थकी गुरुतासे कहीं बढ़कर उसकी काव्यध्वनिमें है, उसके पदोंकी कायरचनामें—

राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा।

राजा दशरथके शिकारका वर्णन है । जंगली भैंसा उनकी ओर झपटता है । वे इस तरह वाण मारते हैं कि वह भैंसेकी आँख फोंड़ता हुआ उसके शरीरसे इतनी तेजीसे निकल जाता है कि उसकी पाँखमें तनिक रक्त नहीं लगता । भैंसा उधर मरकर पहले गिरता है बाण पीछे—

तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री
वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्ख-
स्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥९, ६१॥

'कुमारसंभव' का एक चमत्कारी वर्णन उमाके सौंदर्यके पक्षमें हुआ है । कवि कहता है कि जबतक उमा उत्पन्न न हुई थी बेचारी लक्ष्मी बड़ी दुविधामें रहा करती थीं । चन्द्रमा और कमल बस यही दो उनके वासस्थल थे । पर दोनोंका संयोग तो होता नहीं, एक खिलता है दिनमें सूर्यके प्रभावसे, दूसरा दिनमें अस्त रहता है, रातमें उगता है । सो जब वे दिनमें कमलमें निवास करती थीं तब चन्द्रमाकी शीतलतासे वंचित हो जाती थीं और जब वह अमृतमयी स्निग्ध मरीचियोंसे युक्त चन्द्रमाके वृत्तमें रात्रिमें वास करती थीं तब परागसुरभित कमलके सुखसे विरहित हो जाती थीं । उमाके जन्मने उसकी वह रात-दिनके धरती-आकाशकी भागदौड़की समस्या हल कर दी क्योंकि उमाके आकर्षक मुखमें जो चन्द्रमाकी सुधास्निग्धता और प्रफुल्ल कमलका सौंदर्य एकत्र उपलब्ध था तो वह बस उसी किशोरी के मुखमें बस कर दोनोंका स्वाद पाने लगीं । गरज़ कि उमाकी रम्य अभिनव कांति ऐसी थी कि उसमें तीनोंकी मुखश्री उपलब्ध थी—चन्द्रमा, कमल और लक्ष्मीकी । लक्ष्मीने उमाकी मुखकांतिमें समाकर दोनोंको एकत्र पा लिया—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥१,४३॥

शिवकी समाधि लगी हुई है। लतामंडपके भीतर जहाँ वे समाधिस्थ हैं भरपूर शांति है पर बाहर शिवके गण सभी प्रकारके कौतुकमें लगे हैं। गणोंका स्वामी नंदी द्वारपाल है। उसका धर्म है कि देखे कि किसी प्रकार का शोर न हो, शिवकी समाधिमें बाहरके उपद्रवोंसे विघ्न न हो। द्वारपर उस नंदीका चित्र कालिदासने अत्यन्त सुंदर और सजीव खींचा है, बिलकुल गुप्तकालके वास्तुमें कंधेसे दंड टिकाये द्वारपर खड़े मानव द्वारपालोंकी तरह। अन्तर बस इतना है कि जहाँ वे मात्र चुपचाप खड़े रहते हैं नन्दी लतागृहके द्वारपर खड़ा बायें प्रकोष्ठसे सोनेकी बेंत टिकाये बिना बोले होठों पर उंगली रखकर इशारेसे गणोंको सावधान करता है—ख़बरदार, चंचलता न करना—

लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः।
मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत् ॥कु०३,४१॥

नतीजा यह होता है कि उसके उस एक इशारेसे सर्वत्र शांति छा जाती है। वृक्ष निष्कम्प स्थिर हो जाते हैं, भौंरे गूँजना छोड़ सहसा निश्चल हो जाते हैं, सारे अण्डज पक्षी, सर्प, आदि शान्त हो जाते हैं, मृगों, पशुओं आदिका डोलना एकाएक बन्द हो जाता है। गरज़ कि चारों ओर ऐसी चुप्पी छा जाती है कि लगता है, जैसे समूचा बन चित्रमें लिख दिया गया हो, वास्तविक न हो—

निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम्।
तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥४२॥

उमाने हरिणियोंको बड़े प्यारसे जंगली दाने और बीज खिला-खिलाकर खूब भरमा-परचा लिया था। इससे वे उसका इतना विश्वास करने लगी थीं कि अनेक बार वह सखियोंके आगे कुतूहलवश उनकी आँखोंपर अपनी आँखें रख नापा करती थी। मानवेतर जीवोंके प्रति मानवका अनुराग और सहानुभूति, दोनोंके पारस्परिक सौजन्य और अन्योन्याश्रय तथा

विश्वास, मृगियोंके नयनोंको देख उमाके मनमें एक प्रकारकी उत्सुकता और तनिक यह जाननेकी जिज्ञासा कि किसके नयन बड़े हैं, उसके अपने या मृगियोंके और परिणामतः उन्हें उनकी आँखोंपर नाप लेना, अनेक संवेग और क्रियाएँ कविने इस छोटेसे श्लोकमें व्यक्त की हैं। संसारके किसी कविने प्रकृति और मानवको इतना निकट नहीं रक्खा, एक दूसरेके दुःख-सुखका इतना समझदार साथी नहीं बनाया जितना कालिदासने। श्लोक इस प्रकार है—

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने॥
कु०, ५,१५॥

मानवका पशु-पक्षीके प्रति सौजन्य और सहानुभूति वैसे तो कालिदासके ग्रंथोंमें पग-पगपर अभिव्यक्त है, पर शैलाधिराजतनयाका उनसे साहचर्य तो असाधारण है। मृगोंके साथ तो उनके व्यवहारका ऊपर उल्लेख हो ही चुका है, पक्षियोंके प्रति भी उनके सौहार्दका एक उदाहरण लें—

निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती॥५, २६॥

पार्वतीका तप जारी है। शरीरको अनेकानेक प्रकारसे वे जर्जर करती जा रही हैं, एक-से-एक कड़े व्रत-नियम वे साध रही हैं। पर अपने एकांतिक तप और विरहजनित पीड़ाके बावजूद दूसरेकी व्यथा वह नहीं देख पातीं। पूसकी रातोंमें हिमालयमें बरफके झकोरे चलते हैं, प्रचंड वायु हिमको सर्वत्र बिखेरती चलती है फिर भी उमा अपनी वह भयंकर ठंढी रातें जलमें बैठकर बिताती हैं। किन्तु वह तपजनित पीड़ा उनके मनको इतना व्यथित नहीं कर पाती जितनी बिछुड़े हुए चकवे-चकवी जोड़ोंकी एक दूसरेसे मिलने के लिए आतुर कातर ध्वनि। उस स्थितिमें भी वह अपनी पीड़ा भूलकर उन कलपते जोड़ोंके प्रति कृपालु होती है, उन्हें ढाढस बँधाती हैं। इससे

कविका भाव उमाके सहज कृपालु चित्तकी दयाशीलताके अतिरिक्त भी उस स्थितिको व्यक्त करना है जिसे अपनी विरहस्थितिमें वह स्वयं झेल रही है।

शिष्ट, सुंदर, कोमल और कुशल वार्तालाप या उक्ति कालिदासका सहज विषय है। मधुर कोमल पदावलीमें कठिन भावोंका इतनी सुघराई और सादगीसे बयान करते हैं कि मन नाच उठता है। मारीच ऋषिके आश्रममें उनके आशीर्वादके प्रसंगमें दुष्यंत करबद्ध कहते हैं—भगवन्, आपका अनुग्रह ही सब फ़लोंका देनेवाला है। आपकी कृपासे सारी संपदा बिना कारणकार्यकी अपेक्षा किये ही उपलब्ध हो जाती है। प्रकृतिका नियम है कि कारण पहले होता है परिणाम उसका कार्य है, पहले फूल लगते हैं तब फलागम होता है, पहले बादल घिरते हैं तब पानी बरसता है—यही कारण-कार्यका स्वाभाविक क्रम है। पर इस क्रमकी सत्ता आपका संयोग होते ही कृपापात्रोंके संबंधमें नष्ट हो जाती है। क्योंकि आपके अनुग्रहसे इस क्रमका उल्लंघन कर फल पहले मिल जाता है, उसके लिए कार्य पीछे होता है, संपदा उसके प्राप्त्यर्थ प्रयत्नकी पुरोगामी होती है, सो मैं भी उसी प्रकार उपकृत हूँ, अकारण पुरुषार्थविहीन संपत्तिवान्—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥शाकु०, ७,३०॥

'अभिज्ञान शाकुन्तल' के पहले सर्गमें ही रथधावनका बड़ा सूक्ष्म औंर सचित्र वर्णन हुआ है। रथपर बैठा दुष्यंत शिकार कर रहा है। हिरन वेगसे प्यारी जानकी रक्षाके लिए भागा जा रहा हैं, राजाका रथ उसका अविराम पीछा कर रहा है। राजा कहता है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥१,७॥

गरदन मोड़कर (ग्रीवाभंग द्वारा) बार बार रथको फिर फिर देखता हुआ यह हिरन कितना सुंदर लग रहा है। बाणके घातक भयसे वह अपने पिछले शरीरके अर्ध भागको सर्वत्रसे सिकोड़कर आगेके भागसे सटाये कैसा भागा जा रहा है। थकावटसे चूर उसका मुँह खुल पड़ा है जिससे आधी कुचली हुई कुशा मार्गमें गिरती चली जा रही है। और देखो तो सही, उसके लंबी लंबी छलांगों भरनेसे लगता है कि जैसे धरतीपर इसके पैर पड़ते ही नहीं, आकाशमें ही उड़ा जा रहा है।

सारथीको राजाकी बातसे जैसे लगा कि हिरनके दौड़नेके वेगसे वह घोड़ोंका वेग भूल गया है। सो वह उनकी गतिकी ओर लक्ष्य कर कहता है, स्वामिन्, रास ढीली करते ही अपने आगेके शरीरको लंबायमान कर, सिरके तुर्रेको स्थिर कर, कानोंको निष्कंप उठाये ये घोड़े इतने वेगसे भाग रहे हैं कि इनकी टापोंसे उठी हुई धूल तक इनको नहीं छू पाती। लगता है, जैसे ये उस तीव्रगामी हिरनसे दौड़की तेजीमें होड़ कर रहे हों—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥८॥

अद्भुत वर्णन है घोड़ोंके दौड़नेका। जिसने बाजी वाली घुड़दौड़ें देखी है वह भले प्रकार इस वर्णनको समझ सकता है। घोड़ोंका शरीर कैसा लंबा हो जाता है, तीव्रगतिके कारण सिरके चँवर या कलगियाँ बिलकुल स्थिर हो जाती हैं, घोड़ोंके कान जरा नहीं हिलते, सीधे खड़े हो जाते हैं। यही स्थिति है इन घोड़ों की। और अत्यन्त वेगसे भागते इन घोड़ोंका परिणाम

यह होता है कि दूर क्षण भरमें निकट आ जाता है और प्रकृतिकी स्वाभाविकतामें वैषम्य पड़ता जाता है—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत् ।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥९॥

राजा कहता है–जो वस्तुएँ सामने नितांत छोटी दिखाई देती हैं वे सहसा अत्यंत बड़ी हो जाती हैं, जो आधेसे कटी लगती हैं वह यकायक जुड़ सी जाती हैं, जो स्वभावसे ही टेढ़ी हैं वह भी आँखोंको बिलकुल सीधी लगने लगती हैं । सच बात तो यह है कि रथके वेगसे न तो मुझे कोई वस्तु दूर दिखाई पड़ती है न समीप ।

'विक्रमोर्वशीय' में भी पुरूरवाके रथके घोड़ोंके वेगका अत्यंत सचित्र वर्णन हुआ है । राजा कहता है कि रथके वेगसे चलनेसे घने बादल धूल होकर मार्गमें उड़ रहे हैं, पहियोंके वेगसे घूमनेके कारण लगता है कि उनके अरोंके बीच अनेकानेक अरे बनते चले जा रहे हैं । घोड़ोंके सिरके चँवर उस दौड़की तेज़ीके कारण बिलकुल स्थिर हो गये हैं, चित्रलिखित जैसे, वैसे ही ध्वजाका कपड़ा ध्वजाकी तेज़ीसे ध्वजकी डंडी और अपने छोरके बीच कड़ा निश्चल तन गया है––

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम् ।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात् ॥१,५॥

प्रगट ही यह वर्णन आकाशमें बादलोंके बीच रथधावनका है । ऐसा ही चमत्कारी वर्णन आकाश-मार्गमें दौड़ते दुष्यंतके रथका 'शाकुन्तल' के सातवें अंक में हुआ है । राजा दैत्योंके विरुद्ध इन्द्रकी सहायता कर पृथ्वीको

लौट रहा है। आकाशमें पवनोंके विविध मार्गोंमें रथ मारीचके आश्रमकी ओर दौड़ता चला जा रहा हे। पवनोंके तलोंकी ओर लक्ष्य कर मातलि कहता है—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां
ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं
वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥६॥

तीन धाराओं वाली गंगाकी आकाशधारा इसी परिवह पवनके मार्गमें बहती है। इसी भागमें उन नक्षत्रोंकी स्थिति है जिन्हें उनकी किरणोंको फैलाता परिवह चलता है। इसी आकाश-भूमिको हरिविक्रम वामन भगवान ने अपने द्वितीय पगसे नाप दिया था। आकाशके अनेक वायुतलोंमें यह परिवह पवनका तल है। इसमें भागते रथकी गति देखो। राजा उसके उत्तरमें कहता है—

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
र्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः ॥७॥

सो तो प्रगट ही है, क्योंकि रथकी अराओंके बीचसे चातक उड़कर निकल जाते हैं, बिजलीके चमकनेसे घोड़े उस चमकमें लिपट जाते हैं, पहियोंकी धुरी जलकणोंसे भींगी हुई है, रथकी राह भी उनसे सिंच सी गई है। ज़ाहिर है कि हम जलभरे बादलोंके ऊपरसे चले जा रहे हैं। और ऊँचेसे धरती भला कैसी दिख रही है—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।

संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥८॥

देखो, लगता है, पृथ्वी पहाड़ोंके शिखरोंसे जैसे उतरती जा रही है, पत्तियोंसे सर्वथा ढकी तरुशाखाएँ अब दिखाई पड़ने लगी हैं, दूरके कारण जिन नदियोंकी पतली धाराएँ नहीं दिखती थीं वे अब चौड़ी दिखने लगी हैं। देखो, देखो यह धरती इस गतिसे हमारी ओर उठती चली आ रही है कि जैसे किसीने इसे उछलकर ऊपर फेंक दिया हो। और लो, रथ धरा पर भी अचानक उतर आया। कब आया, कैसे उतरा, यह हमने जाना तक नहीं, सहसा निःशब्द पृथ्वीसे आ लगा, न स्पर्शका धक्का ही लगा, न पहियोंके धरतीपर दौड़नेकी आवाज़ ही हुई- न धूल ही उड़ी, और न तुमने रास ही खींची। चमत्कार है—

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः
प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः।
अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धत-
स्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥१०॥

निःसंदेह यह वर्णन आकाशमार्गमें रथ-संचालनका है। विमानकी गतिसे दृश्यमान होने वाली पृथ्वीका वर्णन अन्यत्र हो चुका है।

नाटकीय वर्णन-वेगका एक प्रसंग 'कुमारसंभव'के तीसरे सर्गमें है। उमा सखियों सहित शिवकी पूजाको उनके समाधिभवन लतागृहमें गई हुई है। मौका देखकर काम अपना अचूक वाण शिव पर छोड़ता है और शिव उसे भस्म कर देते हैं। अपने देवसहायक पंचशरका इस प्रकार भस्म हो जाना उमाकी अपनी हार है क्योंकि अपने रूपका ज़ादू वह उसी कामशर द्वारा शिवपर चला सकती थीं जो स्वामीके प्रनष्ट हो जानेसे सर्वथा निरर्थक हो गया। और इस किंकर्तव्यविमूढ़ स्थितिमें सखियोंके सामने अपने पराभवकी लज्जा और भी उपहासास्पद मानती हुई अपने

रूपको कोसती हुई—*व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च*—उमा अब केवल किसी ऐसेके पास जाना चाहती है जो उसकी इस स्थितिको सम्हाल सके, उसे इससे उबार सके। और यह उसका रक्षक मात्र पिता ही कर सकता है। सो कविने तत्काल नाटकीय तीव्रतासे उसके पिता हिमालयको वहाँ ला उपस्थित किया है। रुद्रके क्रोधसे डरी उमा आँख मीचे तेज घर की ओर चली जा रही है कि पिता हिमालय सहसा वहाँ आकर अपनी उस कन्याको अपनी भुजाओंमें उठा लेते हैं, वैसे ही जैसे ऐरावत पद्मिनी (कमलिनी) को अपने दातोंपर कोमलतासे उठा ले। और उन्नतकाय पर्वतराज जिधरसे आते हैं उधर ही वेगसे चले जाते हैं। अद्‌भुत वर्णन है यह। 'दीर्घीकृताङ्गः' पदके प्रयोगसे कविने हिमालयमें एक प्रकारके अभिमान का अध्यादेश किया है। वह तो वैसे ही ऊँचा है फिर भी वह अपनी कायाको और भी ऊँचा कर लेता है, संभवतः यह बोध करानेके लिए कि उसकी कन्याको संकुचित होनेका कोई कारण नहीं है। पिताका पालन भाव और उदारता दोनों उसके इस आचरणमें संनिहित हैं। और स्थिति ऐसी नहीं कि उमाको बाहर रखा जाय। उसकी मनःस्थितिमें उसके अभिमानकी बाहरवालोंसे रक्षा करनी है इससे हिमालय वहाँ क्षणभर भी रुकते नहीं, सखियोंसे स्थितिका ब्योरा भी नहीं पूछते, चुपचाप अपनी धुटन लिये दर्पसे भरे अपने भवनकी ओर चले जाते हैं—

सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या
दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम् ।
सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां
प्रतिपथगतिरासीद्वेगदीर्घीकृताङ्गः ॥७६॥

उमाकी मनःस्थिति उस क्रोधका परिणाम थी जिससे शिवने कामको जला दिया था। वह प्रसंग 'कुमारसंभव' के उसी तीसरे सर्गमें वर्णित है—तपमें विघ्न होनेसे जो कामपर क्रोध बढ़ा तो भृकुटियोंके चढ़ जानेसे मुखमंडल

इस तरह विकृत हो गया कि देखा नहीं जा सकता था। तीसरा नेत्र फिर सहसा खुल गया और उससे एकाएक आगकी लपटें निकलने लगीं—

तपः परामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ॥७१॥

और वे इतनी तेज़ निकलीं कि जब तक आकाशके देवता घबड़ाकर अभी चिल्लाते ही रहे—रोको, रोको, क्रोध रोको, प्रभु, क्रोध रोको !—कि तब तक नेत्रसे निकलनेवाली उस ज्वालाने कामदेवको जलाकर क्षार कर डाला—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥७२॥

क्रोध और उसके दुखद परिणामके वर्णनसे अतिरिक्त इस श्लोकके शब्दों का चयन, उनकी रवानी और नाटकीयता ग़ज़बकी है, स्वयं कालिदास या अन्य किसी संस्कृत कविने अन्यत्र ऐसा शक्तिम क्रोधका वर्णन नहीं किया।

क्रोध और क्रोधयुक्त संभाषणका एक और वर्णन उसी 'कुमारसंभव' में हुआ है, पाँचवें सर्गमें, पार्वतीके तपके समय, पार्वती और ब्रह्मचारीरूपधारी शिवके वार्तालापमें। शिव अपने वक्तव्यमें जान-बूझकर असावधान हो जाते हैं। असावधान ही नहीं होते बल्कि प्रगट रूपसे पार्वतीके तपके लक्ष्य और श्रद्धेय शिवकी निन्दा करने लगते हैं। फिर तो उमाका चेहरा क्रोधसे तमतमा उठता है, होठ फड़कने लगते हैं, आँखें लाल हो आती हैं, तेवर चढ़ जाते हैं, और वह उसे कठोर मुद्रामें देखने लगती है—

इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥७४॥

फिर चेष्टाओं द्वारा इस क्रोधके प्रदर्शन मात्रसे वह संतुष्ट नहीं हुई। कहा उसने—

उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम् ।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥७५॥

जो तुम मुझसे इस प्रकार बोल रहे हो तो निश्चय तुम शिवको नहीं जानते । मूढ़ लोग अज्ञानवश महात्माओंके चरितकी निन्दा करते हैं । अन्त में इस संबंधके विवादको व्यर्थ समझती हुई वह कहती है—बन्द करो यह विवाद, काफी हो चुका । कुछ बात नहीं जो शिव वैसे ही हैं जैसा आपने सुना और कहा है, पर मेरा मन तो उन्हींसे बँध गया है, और ऐसा हो जानेपर कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है—

अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥८२॥

फिर ब्रह्मचारीके होठोंको जो हिलते देखा तो उसने जाना कि वह फिर शिवकी निन्दामें कुछ बोलने जा रहा है और उसका धीरज छूट गया । क्रोधसे तमतमाकर सखीसे वह बोली—

निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥८३॥

देख सखि, इस ब्रह्मचारीके होठ कुछ हिल चले, फिर यह कुछ कहना चाहता है, रोको इसे । महात्माओंकी निन्दाका पाप केवल करनेवालेको ही नहीं लगता सुननेवालेको भी लगता है ।

यह क्रोधका चित्र है । अनेक स्थलोंपर कालिदासने अपने संपन्न और शक्तिम वर्णनों द्वारा जो परिस्थितियोंका सजीव चित्र खींचा है वह अन्यत्र दुर्लभ है । कुछ इस प्रकार है—

इन्दुमतीका स्वयंवर है । प्रतिहारी सुनंदा उसके साथ-साथ प्रत्येक राजाके पास जाती और उसके यशका बखान करती है और इन्दुमती जब उसके प्रति अपना अनाकर्षण प्रगट कर देती है तब दोनों अगले राजाके निकट बढ़ जाती हैं। इसी क्रमसे जब वे अजके पास पहुँचती है तब इन्दुमती

राजकुमारके कुल-वैभव और कान्तिसे संतुष्ट हो जाती है और आगे बढ़ना नहीं चाहती वहीं रुक जाती है। तब सुनन्दा मज़ाकमें उससे कहती है— आगे चले आर्ये, इसे छोड़ अन्यके पास। और तब इन्दुमती जवाबमें आँखें तरेरकर उसकी ओर देखती है—

तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदावभाषे।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूया कुटिलं ददर्श ॥रघु०६,८२॥

'रघुवंश' के सातवें सर्गमें कालिदासने विवाहके लिए वधूके घर नगरके राजमार्गसे जाते हुए अजको देखनेके लिए खिड़कियोंकी ओर दौड़ती हुई नारियोंका चित्र खींचा है। अजको देखनेकी कामना इतनी बलवती है कि प्रिय-से-प्रिय, आवश्यक-से-आवश्यक कार्य करती हुई भी नारियाँ उसे बीचमें ही छोड़, मंडन तक, राजमार्गपर खुलनेवाली खिड़कियोंकी ओर दौड़ पड़ती हैं। घर-गाँवके दामाद या वरको देखनेके लिए नारियोंकी वह उत्सुकता आज भी नहीं मिटी। इसी कामना और इसे पूरी करनेकी हड़बड़ीको कालिदासने अनेक श्लोकोंमें अत्यंत सूक्ष्मता और अनुभवजन्य बारीकीसे प्रगट किया है। और यह स्थल उन्हें इतना प्रिय लगता है कि उन्होंने श्लोकोंको एक दूसरे इसी प्रकारके प्रसंग—'कुमारसंभव' के शिव-विवाह—में दुहरा दिया है। वस्तुतः यह सारा प्रसंग अश्वघोषके 'बुद्धचरित'में वर्णित है। कालिदासने वह प्रसंग लेकर उसमें अपना पदलालित्य भर दिया है। इन्हें हम 'रघुवंश' से नीचे देते हैं—

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बन्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥६॥

खिड़की (आलोकमार्ग, वातायन) की ओर अजको देखनेके लिए एक लपकी। वह अपना केशकलाप कर रही थी, इसका उसे ध्यान कत्तई न रहा। उसने जूड़ेको पुष्पमालासे बाँधते-बाँधते सहसा जो आलोकमार्गकी

ओर वेगसे गमन किया तो केशपाश खुल गया पर उसे हाथसे सम्हालते वह भागी।

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥७॥

एक स्त्री प्रसाधिकासे पैरोंमें महावर लगवा रही थी। उसका पैर प्रसाधिकाके हाथमें था, पैरपर चढ़ा हुआ रंग अभी गीला ही था। पर उसने जो अजकी राजमार्गपर सवारी निकलनेकी बात सुनी तो एकाएक प्रसाधिकाके हाथोंसे अपना पैर खींच खिड़कीकी ओर दौड़ी और खिड़की तक महावर लगे 'पैरोंके चिह्न' छोड़ती चली गई।

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥८॥

एक आँखोंमें अंजन लगा रही थी। दाई आँखमें लगा चुकी थी और बाईंमें लगाने ही वाली थी कि बारातका बाजा सुन पड़ा और उसी स्थितिमें बाईं आँखमें आँजन बग़ैर लगाये हाथमें सलाई लिये ही खिड़कीको ओर भागी। इस प्रकार प्रसाधन करती नारियोंकी मूरतें कुषाणकालीन रेलिंगों-स्तंभोंपर बनी हैं। इनमें शलाका द्वारा आँखोंमें आँजन लगानेके चित्रार्थ कुषाण और गुप्त कलाकारोंके बड़े प्रिय अभिप्राय हैं। प्रसाधन करती नारियोंकी अनंत परंपरा उन्होंने कोरी या चित्रित की है। गुप्तकालका कवि भी इस दैनंदिन प्रसाधन और जीवनकी इस स्वाभाविक नारी रुचिकी उपेक्षा नहीं कर सका। आगे वह कहता है—

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥९॥

एक अधोवस्त्र पहनते-पहनते, उसका इज़ारबन्द बाँधते जो खिड़कीकी ओर भागकर बाहर देखने लगी तो इस दौड़ा-दौड़ीमें उसका इज़ारबन्द ही टूट गया, पर उससे वह रुकी नहीं, लँहगेंकी ऊपरी चुन्नटको जैसे तैसे हाथोंसे

सम्हाले अस्त-व्यस्त खड़ी रही। हाँ, उसे इस तककी सुध न रही कि उसकी नाभि दिख रही है और उसकी विवरमें हाथों-उँगलियोंमें पहले आभूषणोंके रत्नोंकी ज्योति प्रवेशकर उसे भीतर तक चमका रही है। सूक्ष्म वर्णनका यह अद्‌भुत उदाहरण है। नीवी, धोती या लँहगेका वह ऊपरी भाग है जिसे चुनकर इज़ारबन्द या नीबी-सूत्रसे बाँध लेते थे, उसके टूट जानेका मतलब था वस्त्रका प्रायः गिर जाना या गिरने लगना। वृद्धा नारियाँ अभी हाल तक इस प्रकारके नीवीसूत्रका उपयोग करती रही हैं। इसी नीबीबन्धसे हिंदीका लेखार्थक 'निबन्ध' शब्द बना है, कारण कि ताड़ या भोजपत्रपर लिखे ग्रंथोंके पन्नों या पत्रोंको नीवी या सूतसे छेदकर बाँध देते थे। निबंधका अर्थ हुआ सूतमें बँधे हुए लिखे पत्र, और अब लाक्षणिक रूपसे स्वयं लेख।

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥१०॥

एक नारी बैठी हुई पैरके अंगूठेमें सूत बाँधे उसमें करधनीकी मणियाँ गूँथ रही थी। अब जो राजमार्गपर अजका आना सुन वह उसे देखने तेजीसे खिड़कीकी ओर भागी तो मणियाँ तो पद-पदपर एक-एककर सूतसे सरक-सरककर निकलती-गिरती गईं, पर सूत अंगूठेमें बँधा रह गया। वर्णन सचमुच बड़ा बारीक है और स्थितिका चित्र खींच देता है। इस प्रकार खिड़कियों पर अपने प्रकृत कार्योंको बीचमें ही छोड़ भाग खड़ी हुई। स्त्रियोंके मुखोंसे वातायन भर गये। तब उन मुखों और उनकी काली पलकोंवाली आँखोंसे ऐसा लगने लगा जैसे खिड़कियाँ कमलोंसे भर गई हैं और उनपर नयनरूपी भौंरे मँडरा रहे हैं। कुतूहल भरी नारियोंके मुख और उनके चंचल नयन ! निःसंदेह डंठलोंपर हिलते कमल और उनपर मँडराते भ्रमर! निश्चय उनके शराब पिये मुँहकी मदिर गंधसे आकृष्ट भौरोंको कमलकी सुरभि न भाई, उसकी बास उन मुखोंमें ही समा गई थी—

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥११॥

इतना मधुर इतना संपन्न इतना बारीक वर्णन ऐसे प्रसंगका कभी किसी कविने नहीं किया। कविका यह सामाजिक निरीक्षण और अनुभूति इतनी मार्मिक है कि पाठक विस्मृत रह जाता है। कल्पनाके योगसे वह अनुभूति कविकी ललित पदावली द्वारा अभिराम मुखरित होती है, आँखोंके लिए जितनी प्रिय है, कानोंके लिए उतनी ही स्वादु।

युद्ध-वर्णनमें बाणोंको तरकशसे निकालने, धनुषपर चढ़ाने और फेंकने की तेज़ीका कविने इस प्रकार वर्णन किया है—

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ ॥
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥
रघु०, ७, ५७॥

अब बड़ी फुर्तीसे बाण चला रहा था, इतनी फुर्तीसे कि देखनेवालोंको पता ही नहीं चलता था कि कब उसने दाहिने हाथसे तरकशसे बाण निकाला और कब धनुष पर रखकर बायें हाथसे उसे छोड़ा। बस इतना लगता था कि कानों तक खिंची धनुषकी डोरीसे लगातार बाण प्रसूत होते जा रहे हैं। वह निःसंदेह दाहिने हाथसे तरकशसे तीर निकालकर धनुषपर रखता था और बायेंसे उसे धनुषपर सम्हालता भी था पर उसका वह व्यापार किसीको नहीं दिखाई पड़ता था, इसीसे जान पड़ता था कि कान तक खिंची डोरी ही वह आकर है जिससे बाण निकलते जा रहे हैं, शत्रु मरते जा रहे हैं।

एक अत्यंत अभिराम कल्पना कविने नारदकी वीणाके रोनेकी की है। नारद आकाश-मार्गसे उड़े जा रहे हैं। हाथमें वीणा है जिससे फूलोंकी माला लटकी हुई है। भौंरे उसके ऊपर-नीचे मँडरा रहे हैं। सहसा माला नीचे गिर जाती है और उपवनमें विहार करते इन्दुमतीके निधन और अज

के विलापका कारण बनती है। पर भौंरे वीणासे लगे ही रह जाते हैं। साधारणतः भौंरोंको भी उस मालाका अनुसरण करना चाहिए था, पर उसका अधःपात कुछ इतनी तेज़ीसे इतना असंभावित हुआ कि माला तो भूमिपर जा गिरी पर भौंरे वहींके वहीं सुरभिके मदसे माते वीणा पर ही ऊपर-नीचे मँडराते रहे, जाना तक नहीं कि उनका प्रिय लक्ष्य पुष्पमाला अब वहाँ नहीं, पराग सहित दूर नीचे जा गिरी है। और उनका वीणाके नीचे उड़ना कविको कुछ ऐसा लगा जैसे वीणा रो पड़ी हो और उसकी काजल लगी आँखोसे आँसू गिर रहे हों। आँजनसे काली की हुई आँखोंसे आँसू भी नयननीरसे धुल जानेके कारण काले ही गिरेंगे। सो भौंरे वीणाके काले आँसूसे लगते हैं। कल्पना कीजिये और दृश्य आँखोंके सामने उठ आएगा। कवि कहता है—

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥रघु० ८,३५॥

निश्चय इस प्रकार पवनके प्रहारसे सखी मालाके अपहरणसे जनित अपमान से दुखी वीणाके नेत्रोंसे आँसू बहना सार्थक ही है।

और इस पुष्पमालाके स्पर्शसे इन्दुमतीका विकल होकर दम तोड़ देना भी कविने बड़ी योग्यता और अनुभूतिसे वर्णन किया है—

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥३७॥

अपने सुंदर स्तनोंकी क्षणमात्र सखी उस मालाको देख इन्दुमती अत्यन्त विह्वल हो सहसा मर गई। उस मालाने उसे वैसे ही ग्रस लिया जैसे राहु चन्द्रमाको ग्रस लेता है और चाँदनी एकाएक विलीन हो जाती है। फिर तो—

वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥३८॥

मृत्यु इन्द्रियोंके व्यापार और बंधनसे शरीरको मुक्त कर देती है। पर उससे शरीर निष्प्राण निस्पंद हो जाता है, खड़ा नहीं रह सकता। जब इन्दुमतीके शरीरको भी इंद्रियोंने छोड़ दिया तब वह भूमि पर गिर पड़ा और स्वयं गिरते-गिरते उसने अपने पतिको भी गिरा दिया। सही जब दीपकी लौ या बत्ती ही गिर पड़े तब उसे सींचने वाली तेलकी बूँदें भला उससे अलग कहाँ तक रह सकती है ?

रामके विवाहके बाद अयोध्या लौटनेकी बात है। दशरथ सबको लिये दिये अयोध्या पहुँच रहे हैं। वर्णन सीधी बातका है पर उसके लिए जिस शब्दावलीका उपयोग हुआ है वह अतीव मधुर है। छंदके अर्थमें इतना सौंदर्य नहीं जितना पदके लालित्यमें है। बात वैसे बस इतनी ही है कि शिवके सदृश राजा दशरथ जब कुछ रातें राहके सुंदर खेमोंमें बिताकर अभिराम उज्ज्वल नगरी अयोध्या पहुँचे तब जानकीको देखनेके लिए उत्सुक नारियोंके कमल वदनोंसे राजमार्गकी खिड़कियाँ भर गईं। पर निःसंदेह शब्दोंकी ध्वनि और ध्वनिपरंपराका माधुर्य अद्‌भुत है—

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥रघु०, ११,९३॥

कमलार्थक संज्ञा कुवलयसे कितना सुंदर क्रिया-विशेषण 'कुवलयित' बनाया है जैसे नीचेके चरणमें वसनसे वसाना—

वसने परिधूसरे वसाना।

राजा दशरथ आखेट करते हुए सहसा मोरको देख धनुषपर चढ़ा हुआ बाण रोक लेते हैं। अपने घोड़ेके अत्यंत समीपसे भी उन्हें उड़कर निकल जाने देते हैं क्योंकि उनके रंग-बिरंगे रुचिर कलापको देखकर उन्हें प्रियाके

विविध रंगके फूलोंसे गुंथी मालासे संयुक्त पर संभोगसे शिथिल केशपाशकी एकाएक याद आ जाती है—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥९, ६७॥

'रघुवंश'के दसवें सर्गमें कविने लक्ष्मीका वह चित्र खींचा है जो अनन्त संख्यामें (क्षीरशायी विष्णुकी परिचर्या करती हुई) लक्ष्मीका भारतीय मूर्तियोंमें मिलता है। इससे चितेरा सच्चा चित्र बना सकता है और कलावन्त मूर्ति कोर सकता है—

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥१०, ८॥

विष्णुके पैरोंके पास लक्ष्मी कमलके ऊपर बैठी हुई है। उनकी मेखला उनके रेशमी वस्त्रोंसे छिपी हुई है। विष्णुके चरण वह अपने करकमलोंमें लिये सहला रही हैं। इसी प्रकारका एक दूसरा दृश्य-चित्र कविने 'मालविकाग्निमित्र'में खींचा है। वस्तुतः यह नीचेका श्लोक न केवल वास्तुकार, तक्षक और चित्रकारके लिए आदर्श अभिप्राय प्रस्तुत करता है, वरन् मथुरा संग्रहालयकी तद्वत्, सर्वथा छन्दमें बताई मुद्रामें खड़ी, शुंगकालीन नारी-मूर्तिके नीचे लिखा जा सकता है—

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥२, ६॥

मालविका नृत्योपरान्त कमरपर हाथ रखे खड़ी है। उसका बायाँ हाथ कमरके निचले भागपर रखा हुआ है जिससे कलाईपर टिका कंकण

निःशब्द है। दूसरा दाहिना हाथ श्यामा लताकी डालीकी तरह मुक्त छोड़ दिया है। आँखें नीचे पच्चीकारीकी फर्शपर गड़ी हुई हैं जहाँ वह पैरके अँगूठेसे फूलोंको कुरेद रही है। इस प्रकार खड़ी उसके ऊपरका आधा शरीर सीधा लम्बा लगता है। निःसंदेह नृत्यके बादका उसका यह रूप स्थिर होकर सुन्दरतर लगने लगा है।

युद्धारंभके पहले और उसके बीच-बीच भी रघु और इंद्रके कथोपकथन अत्यंत सुरुचिपूर्ण और शालीन हैं, दोनोंको गौरवान्वित करते हैं। विशेषकर रघुकी शिष्टता तो स्पृहणीय है। पिताका यज्ञाश्व चुरानेवाले चोर इन्द्रको जब वह गुरु-धेनुके दूधके चमत्कारसे देख लेता है तब नितांत शिष्ट वाणीमें उसका संबोधन करता है—

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे॥
रघु० ३, ४४॥

देवेन्द्र, मनीषियोंका कहना है कि यज्ञके भागके पहले अधिकारी आप हैं, (आपकी ही पत्नी शची यज्ञकी अधिष्ठात्री देवी है), फिर नित्य दीक्षित, निरन्तर विधिक्रियाओंमें संलग्न आपके अर्थ ही यज्ञ करनेवाले मेरे पिताकी यज्ञक्रियामें आप अश्वका हरणकर भला विघ्न क्यों डाल रहे हैं? वचन अभिमान भरे थे जो वस्तुतः आर्तके नहीं उस वीरात्माके थे जो अपने पराक्रमसे अश्वको इन्द्र से छीन लेनेको तत्पर था। उसके इस अभिमान भरे वचनको ऐसा ही इंद्रने माना भी और जिस शालीनताका व्यवहार परिणामतः उसने किया वह स्वयं कविकी वाणीमें अद्भुत क्षमता और गरिमा से कही गई है—

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम्।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम्॥३,४७॥

इस प्रकार रघुकी अभिमान भरी वाणी सुनकर इन्द्र चकित रह गया। सविस्मय उसने अपना रथ लौटाया और उत्तर दिया—

यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥४८॥

सही, राजकुमार, जो बात तुमने कही निःसंदेह सच है। परंतु हमारे जैसे यशस्वियोंका अपने यशकी शत्रुओंसे रक्षा करना भी स्वाभाविक है। तुम्हारे पिता हमारे उस विश्वविख्यात यशको यज्ञ द्वारा तिरस्कृत करनेको उद्यत हैं, मैं करूँ क्या ?

शिष्टता और परस्पर कोमल मिलनका दृश्य कालिदासने 'रघुवंश'के चौदहवें सर्गमें रामके गृहागमन पर खींचा है। माताएँ चौदह वर्ष तक अपने पुत्रोंको खोकर अब पा रही हैं। अनुभवसिद्ध योग्यतासे कविने केवल राम और लक्ष्मणकी माताओं—कौशल्या और सुमित्रा—को मिलन-स्थल पर एकत्र किया है। प्रकट है कि कैकेयीका वहाँ होना एक प्रकार की व्यक्त या अव्यक्त कटुता अथवा कुण्ठाका उद्बोधक होता, या विमाता स्वयं अनिवार्य ग्लानिका अनुभव करती, इससे कविने, जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, भरतजननीको घटनास्थलसे हटाकर राजप्रासादमें रख दिया है। केवल कौशल्या और सुमित्रा राम, लक्ष्मण और सीतासे मिलती हैं। उस मिलनका दृश्य अत्यन्त हृदयस्पर्शी है—

उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥२॥

अपने विक्रमसे समुज्ज्वल और शत्रुओंके उच्छेदक राम और लक्ष्मणने बारी-बारीसे दोनों (माताओं) के चरण छुए। पुत्रोंके आगमनसे जो आँखें आँसुओंसे भर गईं उससे निःसंदेह दृष्टि लुप्त हो जानेसे उन्हें देख तो न सकीं पर उनके स्पर्शसे, स्पर्शजनित रोमांचसे, उन्होंने उन्हें पहचाना।

आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥३॥

आँखें आँसुओंसे भरी थीं, गात रोमोद्गमसे पुलकित थे। सुखके उनके शीतल आँसुओंने उनके दुःखके गर्म आँसुओंसे मिलकर उनका अन्त कर दिया, जैसे हिमालयका बर्फसे पिघला जल गंगा और सरयूके गर्म जलसे मिलकर उन्हें शीतल कर देता है। फिर माताओंको अपने पुत्रोंके युद्धोंकी याद आ गई और—

ते पुत्रयोर्नैऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥४॥

वे राक्षसोंके शत्रुओं द्वारा किये अपने पुत्रोंके घावोंको अत्यंत धीरे-धीरे नरमीसे सहलाने लगीं जैसे वे आजके ही लगे हों, अभी ताजे ही हों। उन घावोंका उन्हें इतना दर्द हुआ कि क्षत्रिय कुलांगनाओंका स्वाभाविक लक्ष्य वीरसू या वीरपुत्र जननेवाली माता कहलानेकी स्वाभाविक इच्छा भी जाती रही। आनन्दके साथ-साथ विषादका अद्भुत वर्णन है।

स्पर्शका प्रभाव कविने एक स्थल पर—रघुवंश और कुमारसंभवके सातवें सर्गमें पाणिग्रहणके प्रसंगमें—और दिखाया है, यद्यपि इसमें विषाद का सर्वथा अभाव है—

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥२२॥

इन्दुमती (वधू) की उंगलियाँ पकड़ते ही अज (वर) का प्रकोष्ट (पहुँचा) रोमांचित हो उठा, इधर कुमारी इन्दुमतीकी उंगलियोंसे पसीना छूटने लगा। लगा जैसे मदनने अपनी भाववृत्ति दो हिस्सोंमें बाँटकर समान रूपसे उन्हें दे दिया है। फिर तो उन दोनोंमें एक प्रच्छन्न भाववृत्तिका व्यापार होने लगा। स्पर्शसे पहले दोनों परस्पर संयत थे, पर एक

दूसरेका स्पर्श करते ही प्रेमने जोर मारा और स्निग्ध संबन्ध अनेक प्रक्रियाओंसे लक्षित होने लगा। स्पर्शने एक दूसरेके समीप उन्हें खींचकर एकस्थ कर दिया और आँखोंकी लुकाछिपी शुरू हो गई। एक-दूसरेको वे कनखियोंसे देखने लगे। आँखोंको फैलाकर कानोंसे वे परस्पर देखते और आँखें चार होते ही अपनी नज़रें वे लौटा लेते। आँखें चार होते ही निगाहें झपककर नीची हो जाती थीं, लज्जासे झुक जाती थीं। आँखोंका संकोच भरा यह आलोडन-विलोडन, आँखमिचौनी, देख लोग निहाल हो जाते थे—

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥२३॥

लाजके संकोचको कविने ह्रीयन्त्रणा कहा है। सच लज्जा अनेकबार अत्यंत निष्ठुर होकर यंत्रणा सिद्ध होने लगती है।

विरहकी उत्कंठाका वर्णन कविने बड़े मधुर शब्दोंमें किया है। भाव बड़े कोमल हैं और उन्हें व्यक्त करनेवाली भारती भी असाधारण मृदु है। 'मेघदूत' में यक्ष मेघसे कहता है—

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥१०॥

सर्वत्र गतिमान् मेघ, निश्चय उस एकस्वामी पतिव्रता भाभीको तुम विरह का एक-एक दिन गिन-गिनकर काटते पाओगे। जानो कि विरहान्तमें प्रणयीसे मिलनेकी आशा ही उसके टूटते हृदयको सम्हाले रहती है, वरना नारी हृदय जो इतना कोमल होता है कहीं टिक पाता? पेड़से गिरते फूलको जैसे जाला रोक लेता है, वैसे ही आशा कुसुमहृदय नारियोंके हृदय-को नष्ट होनेसे बचा लेती है—

कुसुम समान हृदय रमणी का जब वियोगमें कुम्हलाता,
आशारूप वृन्तमें फँसकर गिरते गिरते रह जाता ।

उसी प्रसंगमें कवि जब मेघसे अपनी राह समझ लेनेकी बात कहता है तब वह वैदर्भी वृत्तिका आदर्श अपने छंद द्वारा रच जाता है—

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
सन्देशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥१३॥

अब ज़रा अपनी राह समझ लो, मित्र, अपने जाने लायक अनुकूल मार्ग । पहले उसे सुनो, फिर जलद, मैं अपना कानोंमें अमृत बरसानेवाला संदेश कहूँगा । देखो, तुम्हारे पाँव जब चलते-चलते थक चलें तब पहाड़ोंकी चोटियोंपर उन्हें टेकते धीरे धीरे सुस्ताते चलना और जब लगे कि दुबले और कमज़ोर हो रहे हो तो नदियोंका हल्का जल पी लेना । यह तो हुआ इस छन्दके शब्दोंका अर्थ पर उनकी मधुर ध्वनि मूलके सिवा अन्यतः कैसे प्रकाशित हो सकती है ? लघुपदोंकी लघुता भावोंकी कोमलताके साथ अत्यन्त पैनी हो उठती है, 'सतसैयाके दोहरों'की तरह जो

देखनमें छोटे लगें घाव करैं गंभीर ।

मूलके लघु पदोंको फिर एक बार पढ़िए—

खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य ।

इसी प्रकार सुमधुर शब्दोंमें एक स्थल पर कविने आश्वासन भरा है। प्रसंग 'विक्रमोर्वशीय' के पहले अंकका है । दैत्य केशी अप्सरा उर्वशीको बलपूर्वक हर ले गया है । राजा पुरूरवा रथसे उसका पीछा कर अप्सराको

उसके चंगुलसे मुक्त करता है। पर मुक्त होकर भी उर्वशी मारे डरके थर-थर काँप रही है, उसके स्तन भय और अपहरणके श्रमसे उठ-गिर रहे हैं जिससे उसका हृदयकंप सूचित हो रहा है। राजा तब अन्यत्र स्निग्ध और कोमल पदावलीमें सम्बोधन करता और उसे धीरज बँधाता है—

गतं भयं भीरु सुरारिसम्भवं
त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणा।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं
निशावसाने नलिनीव पङ्कजम् ॥६॥

देखो, भयपीड़िते, डर छोड़ो अब अपना। भयका कारण देवताओंका शत्रु दैत्य अब नहीं रहा। सदाकी तरह तीनों लोकोंकी रक्षा करने वाली इन्द्रकी महिमा फिर विराजने लगी। इससे खोलो इन बड़ी-बड़ी पंकजरूप आँखोंको जैसे निशाकी समाप्ति पर, अन्धकारके नाशके बाद प्रभात बेला में, नलिनी खिलकर अपने कमल-नेत्रोंको खोलती है। और तब इस मदिर आश्वासनको पाकर उर्वशी अपने आयत नयन सखियोंके बीच खोल देती हैं, और पुरूरवा उनका बन्दी हो जाता है।

पुत्र-सुख—

भारतीय दृष्टिमें पुत्रकी महिमा बड़ी रही है। दाय और श्राद्ध दोनोंमें तो उसका स्थान असाधारण रहा ही है, वैसे भी गृहके वातावरणमें वह सदा स्पृहणीय रहा है। निःसंतान होना बहुत बड़ा अभाग्य माना गया है, और पुत्रका पिता होना महान् सौभाग्य। बच्चेके स्पर्श मात्रसे तन पुलकित हो जाता है। दुष्यन्त मारीचके आश्रममें जब भरतका स्पर्श करता है तब उसे बड़ा सुख मिलता है। बार-बार वह उसका स्पर्श करता है, उसे बदनमें चिपटाता है, उससे खेलता है। इसी सुखका अनुभव करता अपने

को निःसंतान मानता, पुलकित होता वह शकुन्तलाके सातवें अङ्कमें कहता है—

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्या-
द्यस्यायमङ्कात्कृतिनः प्ररूढ़ः ॥१६॥

वैदर्भी शैलीमें लिखा यह छंद अतीव मधुर और लघुपदीय है। इसके भावों में असाधारण कोमलता और पुत्रके प्रति तीव्र कामना है। न जाने किसका कुलांकुर है यह बालक। पर इसको छूकर मुझे बड़ा सुख मिलता है। फिर जिसका यह पुत्र होगा उसके सुखके क्या कहने। बड़ा भाग्यवान् होगा वह पिता। नाटकीय व्यंग्य है यह, पर सन्तानके प्रति कामनाका कोमल दृष्टान्त भी है।

इसी प्रकार दिलीप भी पहले चिरकाल तक निःसंतति रहकर बड़ी तपस्याके बाद पुत्रवान् होते हैं। रघुके उत्पन्न होनेसे फिर कृतार्थ होते हैं। बार-बार नवजातका मुँह देखते हैं और देख-देखकर फूले नहीं समाते। पुत्रोत्पत्तिकी बात सुनते ही अन्तःपुरमें जाते हैं और जैसे वायु के बन्द हो जानेसे कमल निश्चल हो जाता है वैसे ही निस्पंद होकर नवजातको अपलक निहारते हैं, बेटेकी मुखछवि अपने नेत्रोंसे पीते हैं। फिर तो ऐसा लगता है कि समुन्दरमें चन्द्रमाको देख ज्वार आगया हो, आनन्द अंगोंमें नहीं समा पाता, पुलकित हो उठते हैं—

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम्।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि॥
रघु० ३, १७॥

और फिर राजा नित्यके अपने ही किये प्रयत्नसे शिशुको बढ़ाता है। उस सारी संपदाओंके स्वामी दिलीपकी स्नेहभरी देखरेख में रघु दिन-दिन बढ़

चलता है जैसे बालचंद्रमा—शुक्लपक्षकी प्रतिपदाका चन्द्रमा—सूर्यकी किरणोंका योग पाकर दिन-दिन बढ़ता जाता है। कालिदासने चन्द्रमाका सूर्यकी किरणोंकी सहायतासे चमकना मानकर वैज्ञानिक दृष्टिका संपोषण किया है—

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥२२॥

इसी प्रकारका वर्णन कविने 'कुमारसंभव'के पहले सर्गमें उमाके जन्म और विकासका किया है। और वह वर्णन वाणीका वस्तुतः विलास है—

तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥२४॥

कन्या उमाकी जननी मेना दुहिताके स्फुरणशील प्रभामंडलसे इस प्रकार चमक उठी जिस प्रकार वैदूर्यमणिके पर्वतकी भूमि नये मेघके मधुर गर्जनसे रत्नांकुरोंके फूट उठनेसे चमक उठती है। प्रभामंडलका उपयोग वैसे तो गुप्तकालके पहले और पीछे दोनों युगोंमें हुआ है पर 'स्फुरत्प्रभामंडल'की सार्थकता गुप्तयुगीन मूर्तिकलामें ही है। उस कालके बने प्रभामंडलों (मस्तकके चारों ओर गोलाकार बनी आभा या प्रभा-रेखाओं) में रश्मियों का स्फुरण तत्कालीन मूर्तिकलाकी लाक्षणिक विशेषता है। तब किरणोंकी तरंगों या बाणों द्वारा अंधकार भेदनका आभास प्रभामंडलके प्रतीकसे प्रस्तुत किया जाता था। उस युगकी अनेकानेक देवमूर्तियोंमें इस प्रभामण्डल या छायामण्डलका उत्खचन हुआ है। इस श्लोकसे यह भी प्रगट है कि यद्यपि अनेक कारणोंसे पुत्रकी पिता विशेष अभिलाषा करता था, कन्याके प्रति भी उसका प्यार कुछ कम न था। पार्वतीके दिन-दिन बढ़नेका वर्णन भी कविके शब्दोंमें पढ़िए—

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥२५॥

चन्द्रमाकी कलाकी तरह उमा दिन-दिन बढ़ने लगी। और जिस प्रकार सारी कलाएँ चाँदनीमें निहित होती हैं जो चन्द्रिकाके बढ़नेके साथ-साथ बढ़ती जाती हैं उसी प्रकार उमाके अंग-प्रत्यंगमें भी सौन्दर्य कूट-कूटकर भरा था, और जब उसके अंगांग बढ़ने लगे तब दिन-दिन उसका लावण्य भी विशेष विकास पाने लगा। फिर तो—

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥२९॥

वह पार्वती बचपनमें—कुछ बड़ी होते ही—मन्दाकिनी गंगाकी सिकता-भूमिमें बालूकी वेदिकाएँ बना-बनाकर, गेंद उछाल-उछालकर या गुड़ियोंसे (उन्हें बेटी-बेटा मानकर) खेलने लगी। सखियोंके बीच इस प्रकार खेल-खेलकर उसने अपना बालपन बिताया। फिर धीरे-धीरे वह बचपन भी बीत चला और कैशोरने मस्तक उठाया। फिर तो जैसे हंसोंकी कतारें शरद् ऋतुमें अपने आप गंगाकी ओर उड़ चलती हैं, जैसे रातमें महौषधियाँ अपने आप चमक उठती हैं, वैसे ही विद्या पढ़ते समय सारी विद्याएँ उस मेधाविनी उमाको पिछले जन्ममें साधी गई के समान अपने आप अनायास प्राप्त हो गईं—

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥३०॥

फिर यौवनका आगमन हुआ और तब उसके संयोगसे उमाका रूप चारों ओर वैसे ही खिल उठा जैसे सही मिले हुए रंगोंके तूलिका (कूची) द्वारा उपयोगसे चित्र खिल उठता है, जैसे बाल-रविकी रश्मियोंके मृदु स्पर्शसे अरविन्द (कमल) खिल उठता है—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥३२॥

उसी प्रकार रघुको बढ़ते देखकर दिलीप और सुदक्षिणाका आह्लाद सीमाओंको पार कर गया। राजा और रानीमें चकवा-चकवी का-सा प्रेम था। इकलौते बेटेपर उनका स्नेह निश्चय एकत्र हुआ पर इस प्रकार बँट जानेपर भी परस्पर वह प्रेम घटा नहीं। प्रेमकी भी विद्याकी ही भाँति प्रवृत्ति है, वह बाँटने से घटता नहीं, निरंतर बढ़ता ही जाता है। उस राजदम्पतिका भी प्रेम बढ़ता ही गया—

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥रघु० ३,२४॥

शिशु जब पहली वाणी बोलता है तब माता-पिताको बड़ा सुख मिलता है। जब धाय द्वारा सिखाई पहली बोली रघु बोला, जब वह धायकी उँगलियाँ पकड़ लड़खड़ाते पैरों चलने लगा, विनीत हो गुरुजनोंको प्रणाम करने लगा, फिर तो पिताकी प्रसन्नताके क्या कहने, आनन्द अंगोंमें नहीं समाता था, अघा जाते थे—

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥२५॥

राजा उसे गोदमें लेकर गद्‌गद हो जाते थे। उसके स्पर्शसे लगता कि गात जैसे अमृतसे सिंच गया हो। आँखोंके खुले रहनेसे विचार बँट जाते हैं। सो दिलीप अपनी आँखें बन्दकर पुत्रस्पर्शके एकान्तिक सुखका देर तक आस्वादन करते रहते—

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसम्मीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥

और अब धीरे-धीरे सारी विद्याएँ सीखकर रघु युवराज पदके योग्य हुआ। फिर अपने उस स्वयमेव विनीत हुए सुसंस्कृत पुत्रको सभी प्रकार योग्य समझ चिरकालसे सम्हाली अत्यन्त भारी और उत्तरदायित्व पूर्ण राजधुरीका

बोझ कुछ हल्का करनेके लिए राजा दिलीपने उसे अंशतः सौंप दिया। रघुका युवराज्याभिषेक कर दिया—

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम्।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥३५॥

उमा और रघुकी बाल्यावस्थाके वर्णनसे स्पष्ट है कि शिशुके प्रति माता-पिताका मन किस प्रकार अनुरक्त रहता था। यह सही है कि पुत्रकी महिमा कन्यासे बड़ी होती थी, पर उमाके प्रति हिमालय और मेनाके आचरणसे प्रगट है कि कन्यापर भी लाड़ कुछ कम नहीं बरसता था। पिताने जिस प्रकार रूपगर्विता पार्वतीकी ग्लानिको अंकमें भरकर भेंटा वह किसी कन्याके लिए अभिमत हो सकता है। वैसे यह सही है कि उमाके शिवपत्नी होनेसे उसके प्रति कविका आदर विशेष है।

व्रत-नियम—

व्रत-नियमोंकी महिमामें कालिदासका अटूट विश्वास है और इतिहास-पुराणके अनुसार जब-जब व्रत या तपके प्रसंग आये हैं तब-तब उन्होंने उनका बड़ी निष्ठासे वर्णन किया है। व्रतका विस्तृत वर्णन 'रघुवंश' के दूसरे सर्गमें हुआ है जिसमें निःसंतान राजा दिलीप संततिके लिए धेनु-सेवा-व्रत करते और फलस्वरूप रघु-सा पुत्र प्राप्त करते हैं। उस प्रसंगमें कविने अत्यंत सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन सेवक राजा और सेव्या धेनुका किया है—

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥४॥

व्रतके लिए वसिष्ठकी गायका पीछा करते हुए उसने किसी परिचर, सेना आदिको साथ न लिया, सबको पीछे छोड़ दिया। वस्तुतः मनुके वंशज सूर्यवंशी क्षत्रियोंको अन्य शरीररक्षकोंकी आवश्यकता नहीं होती। सेनाएँ

उनकी रक्षा नहीं करतीं, अपनी रक्षा वे आप करते हैं। इससे दिलीप केवल धनुष-बाण ले सेना और रक्षकोंको पीछे छोड़कर चले। निरन्तर वे उस गायका पीछा करते रहे। जब वह खड़ी होती वह भी खड़े होते, जब चलती वह भी चलते, बैठती तब वह भी बैठ जाते, जब उसकी जल पीनेकी इच्छा होती तब वह उसे जल पिलाते। इस प्रकार वे पीछे-पीछे छायाकी भाँति वन-वन फिरते रहे—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥६॥

साधारण व्रतोंके अतिरिक्त मान-व्रतोंका भी कविने यथावसर वर्णन किया है, जो विशेषतः साहित्यकी परम्पराकी दृष्टिसे आवश्यक ही था। वैसे उसके प्रति संकेत तो अनेक स्थलों पर हुआ है पर स्पष्ट उल्लेख उसका मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय नाटकोंमें हुआ है। मालविकाग्निमित्रमें रानी इरावती मान करती है और विक्रमोर्वशीयमें पुरूरवाकी रानी। पुरूरवा मानव्रत धारण किये श्वेतवसन मंगलमात्र आभूषण पहने और अलकोंमें दूब धारण किये अपनी रानीसे अत्यन्त कोमल शब्दोंमें पूछता है—

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम्।
प्रसादमाकांक्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ॥३, २३॥

यह क्या, शुभे! कमलकोमल अपना यह तन कठिन व्रतसे अकारण क्यों गलाती हो? जो स्वयं तुम्हारा दास है, दास बने रहने और तुम्हारी कृपाकी अभिलाषा करता है, उसे अनुरक्त ओर प्रसन्न करनेके लिए भला तुम क्यों यह व्रत रख रही हो?

इसी प्रकार 'शाकुन्तल' के सातवें अंकमें शकुन्तला पतिके घर लौटनेके

लिए व्रत करती है। उसका उल्लेख अपनी भर्त्सना करता हुआ स्वयं दुष्यन्त अत्यन्त कोमल वाणीमें करता है—

वसने परिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥२१॥

यह शकुन्तला है जो मलिन (मैले) वसन पहने, व्रत-नियम करनेसे सूखे मुँह वाली, रूखे बालोंकी मात्र एक चोटी किये शुद्ध मनसे मेरे जैसे निर्दयीके लिए लम्बे विरह-व्रतका पालन कर रही है। अत्यन्त मधुर है यह पदावली—*वसने परिधूसरे वसाना*—छन्दका यह चरण तो अत्यन्त कर्णसुखद है, कविने वसन और क्रियापद (पहनने) के लिए एक ही शब्दका उपयोग किया है।

वैसे तो अनेक तपस्वियों और उनके तपकी ओर जगह-जगह पर कालिदासने संकेत किया है पर उसका विशद और मार्मिक वर्णन 'कुमारसम्भव' के पाचवें सर्गमें हुआ है जिसमें रूपनिन्दिता उमा शिवके लिए कठोर तप करती हुई पुरुष तपस्वियों तकको लजा देती है, आहार जल आदि तज 'अपर्णा' नाम, और फलस्वरूप शिवको पति रूपमें, प्राप्त करती है। उनकी उस तपस्याकी कठोरताका उल्लेख अन्यत्र इस ग्रंथमें हुआ है।

तप आदिसे प्राप्य अन्तर्धान करने वाली तिरस्करिणी आदिकी शक्तिकी ओर संकेत तो कविने किया ही है, उसके परिणामसे तपस्वियोंके दिये शापकी निष्फलतामें भी उसका घना विश्वास है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथाकी तो समूची धुरी दुर्वासाके शाप पर ही घूमती है, वही कथाकी करुणा और घटनाओंकी परिणतिका कारण बन गया है। दुर्वासाका वह शाप नितान्त दारुण है—

आ : अतिथिपरिभाविनि,

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स-
न्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥४,१॥

हे अतिथिका अपमान करने वाली ! जिस प्रियका ऐसे अनन्य मनसे स्मरण कर रही हो कि मुझ तपोधन मुनिके आ उपस्थित होने पर भी उसे नहीं पहचानतीं—उसका अतिथि-सत्कार नहीं करतीं, तो जानो कि वह तुम्हारा प्रिय भी ऐसे तुम्हें भूल जायगा कि बार-बार याद दिलाने पर भी वह तुम्हें नहीं पहचान सकेगा, वैसे ही जैसे पागल अपने किये हुए पहले कामों को नहीं पहचान पाता ।

शिवकी समाधि—

तपका अद्‌भुत वर्णन तो कविने किया ही है, उसी 'कुमारसंभव' के तीसरे सर्गमें शिवकी समाधिका जो वर्णन है वह भी अपने प्रकारका एकांतिक है । पण्डितोंका मत है कि शिवकी इस समाधिके वर्णन पर तथागत बुद्‌धकी समाधि-भावनाका प्रभाव है । योगमुद्रा या वीरासन मुद्रामें बैठी बुद्‌धकी सैकड़ों मूर्तियाँ देशके संग्रहालयोंमें भरी पड़ी हैं । कुछ अजब नहीं जो कविने उनका प्रभाव जाना हो । शिवकी उस समाधिका वर्णन कालिदासने इस प्रकार किया है । लतागृहमें शिव बैठे हुए हैं । लतागृहके द्वार पर शिवका नन्दी द्वारपाल बना, सोनेकी बेंत पहुँचे-कन्धेसे टिकाये खड़ा है और उँगली होठों पर धरे भृकुटी चढ़ाये दौड़ा-दौड़ी करते शिवके गणोंको सावधान कर रहा है कि खबरदार चंचलता बन्द करो, तनिक शोर न हो और एकाएक पेड़-पौधे हिलना-डुलना बन्द कर देते हैं, भौंरे गूँजना छोड़ देते हैं, पक्षी, सर्प आदि जहाँ हैं वहीं सहसा ठहर जाते हैं,

और मृग, पशु आदि सर्वथा शान्त हो जाते हैं। नन्दीकी उस आज्ञाका परिणाम यह होता है कि सारा चराचर लगता है, चित्रमें खिंच गया हो, उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र जीवित सत्ता न हो। तभी जैसे शुभयात्राके अभिलाषी यात्री शुक्रकी दृष्टि बचाकर यात्रारम्भ करते हैं वैसे ही, उस शिवप्रहरी नन्दीकी आँख बचाकर कामदेव नमेरु वृक्षोंकी डालियोंसे छिपे उस स्थान पर चुपकेसे पहुँच एक पेड़ पर आसन जमा लेता है। फिर मौतके मुँहमें गिरनेको तैयार वह कामदेव देखता क्या है कि देवदार तले वेदी पर बाघम्बर बिछाये संयमी त्र्यंबक शंकर उसपर आसन मारे विराजमान हैं—

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥४४॥

वीरासन (पर्यंकबन्ध) लगाये शिव समाधिमें बैठे हैं, ऊपरी धड़ उनका बिलकुल सीधा है, नितान्त स्थिर। कन्धे उनके तनिक झुके हुए हैं, खिले कमलकी भाँति हथेलियाँ गोदमें उत्तान पड़ी हैं—

पर्यंकबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥४५॥

जटाएँ भुजङ्गोंसे बँधी हैं, दोलड़ी रुद्राक्षमालाएँ कानोंमें कसी हैं। नीलकण्ठकी गरदनकी नीलिमासे अधिकतर नीली दिखनेवाली मृगछालाकी गाँठ उनके तन पर बँधी है (मृगछाल पहने हुए हैं)—

भुजङ्गमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥४६॥

आँखें निश्चल हैं, भौंहोंके तेवर निस्पन्द हो गये हैं, आँखें आधी बन्द होनेके कारण उनके उग्रतारों (पुतलियों) का प्रकाश तनिक कम हो गया है और अचल पलकों वाली दृष्टि नासाग्र पर टिकी है जिससे नयनतारोंकी किरणें अधोमुखी हो गई हैं—

किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥४७॥

शरीरमें ग्यारह प्राण होते हैं । इनमें विशिष्ट प्राण और अपान वायुएँ होती हैं । ये पवन शरीरके भीतर सदैव विचरण करते रहते हैं । इन पवनोंको भीतर ही भीतर निरुद्ध कर शिव समाधिमें ऐसे निश्चल बैठे थे जैसे न बरसने वाला बादल, जैसे तरंगहीन सरोवर, जैसे दीपककी वायुहीन स्थिर लौ ।

कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥४९॥

इस प्रकार बैठे शिवके ब्रह्मरन्ध्रसे निकल-निकल कर ज्योतिकी जो किरणें फैल रही थीं उनसे कमल-सूतसे भी अधिक सुकुमार बालचन्द्रमाकी कान्ति भी तिरस्कृत हो जाती थी ।

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥५०॥

शंकर समाधि द्वारा अन्तर्मुख हो उस अविनाशी आत्माको अपने भीतर देख रहे थे जिसे ज्ञानी लोग नवों इन्द्रियोंकी क्रिया बन्दकर मनको हृदयमें स्थापित कर देखा करते हैं । ऐसे योगस्थ शिवको देख कामदेवको पसीना छूट चला । मनसे भी अनिष्ट न किये जा सकनेवाले उस रूपको इतने निकटसे देख वह ऐसा सुन्न हो गया कि उसने जाना भी नहीं कि कब धनुष और बाण उसके हाथसे छूटकर नीचे गिर पड़े—

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥५१॥

साहित्यमें समाधिका यह वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है । इससे प्रगट है कि कवि केवल करुण और शृंगारका यशस्वी पारखी न था बल्कि उस

योगका जानकार भी था जिसकी महिमा योगसूत्रों और गीता आदिमें गाई गई है। और उस समाधिकी दीपककी लौ जैसी निर्वात निश्चय स्थितिका उसने वर्णन किया है वह उस दशामें असाधारण गतिका परिचायक है। फिर उसे प्रगट करनेके लिए कविने जिस भारतीका उपयोग किया है वह दर्शनकी भाषा है, काव्यगत शैलीमें उद्गीरित योग-शास्त्र की।

चित्र और मूर्तिकला—

अनेकानेक संदर्भों और संकेतोंसे कालिदासने समसामयिक वास्तु, चित्र और मूर्तिकलाओंकी सर्वांगीण विकसित स्थितिका बोध कराया है। गुप्त-कालीन अजन्ता और बाधके चित्रों और कुषाणकालीन वास्तु तथा मूर्तियों-से तत्कालीन कला संबंधी जनविलासका परिचय मिलता है। कुषाणकालीन मूर्तिसंपदा कालिदासकी पृष्ठभूमिमें है यहाँ हम केवल एकाध प्रसंगोंका उल्लेख करेंगे।

परित्यक्ता अयोध्याका वर्णन करता हुआ कवि 'रघुवंश' के सोलहवें सर्गमें कहता है कि नगरीकी यह दशा है कि उसके भवनोंकी दीवारोंके चित्र रजसे धूमिल पड़ गये हैं। उन चित्रोंमें सरोवरोंके पद्मवनोंमें उतरते हाथियों और उन्हें तोड़-तोड़कर कमलदंड देती हथिनियोंकी जो आकृतियाँ फिर भी शेष बच रही हैं उन्हें सिंह वास्तविक समझ लेते हैं और उनपर नखोंके अंकुशसे चोटकर उनका मस्तक उन्होंने विदीर्ण कर दिया है—

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥१६॥

ठीक इसी अभिप्रायका एक चित्र अजंताकी एक गुफामें चित्रित है। उसमें हाथियोंका जलविहार अंकित है जिसमें हथिनी अपने मत्त कुंजरको कमल-दंड प्रदान कर रही है। श्लोकमें कविने भित्तिचित्रोंका तो वर्णन किया ही

है उनकी उस सजीवताकी ओर भी संकेत किया है जिससे सिंहके से जीव सच्चा समझ अनुकूल आचरण करने लगते थे और श्लोकगत या चित्राभिप्राय तो निश्चय अत्यन्त कोमल और आकर्षक हैं। सदा साहित्य और कलामें समान अभिप्रायोंका चित्रण हुआ है। प्रगट है कि हथिनी द्वारा हाथीको कमलदंड प्रदान करनेवाला अभिप्राय गुप्तकालमें समान रूपसे साहित्य और कलामें प्रयुक्त होता था।

कविने 'शाकुन्तल' में जो दुष्यंत द्वारा शकुंतलाका चित्र बनवाया है उसमें अभी कुछ शेष रह गया है—राजा कहता है कि चित्रका खाका तो उसने खींच लिया है पर उसमें अभी कुछ और करना है—शकुंतलाके कानोंपर गालोंपर लटकते और पराग बिखेरते सिरिसके फूलोंको सजाना है, फिर शरत्पूनोंके चन्द्रमाकी किरणों-सा कोमल कमलनालका सूत उसे प्रियाके स्तनोंके बीच रखना है।

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥६,१८॥

इसके अतिरिक्त भी दुष्यंतकी एक चित्र-कल्पना है। वह चाहता है कि ऐसा चित्र अंकित करे जिसमें उसके शिष्यकी साक्षी नदी मालिनी हो, उसके आँचलकी रेतमें जोड़े हंसोंके पदचिह्न अंकित हों, दोनों ओर हिमालयकी श्रृंखलाएँ चली गई हों जिनपर हिरन बैठे हों। वहाँ आश्रमके वृक्ष भी बनेंगे जिनकी डालोंसे लटकते वह आश्रमवासियोंके भींगे वल्कल चित्रित करेगा। और उसमेंसे एकके नीचे अपने प्रिय मृगकी सींगसे अपनी बाईं आँख खुजाती मृगी बनाएगा——

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।

शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥६,१७॥

तक्षण या मूर्तिकलाकी ओर संकेत कविने अनेक स्थलोंके अतिरिक्त 'रघुवंश' के सोलहवें सर्गमें किया है। वह कहता है कि उजड़ी अयोध्याके महलोंके चारों ओर दौड़ती जो वेदिका (रेलिंग) बनी हुई है उसके स्तंभोंपर अर्द्धचित्रोंमें उत्कीर्ण और उभारी नारियोंके रंग फीके पड़ गये हैं, उनके स्तनोंसे वर्ण चित्रित उत्तरीय (चादर) रंगोंके मिट जानेसे लुप्त हो गये हैं और उनका स्थान साँपोंकी छोड़ी केचुलोंने ले लिया है, वही केंकुलें उनके स्तनोंको ढकनेवाले उत्तरीय बन गई हैं। कितना बीभत्स और डरावना दृश्य है कि जिन स्तनोंका दर्शन कोमल दृष्टि द्वारा और स्पर्श मृदुलकरों द्वारा कल्पित हुआ करता था उनपर अब नाग रेंगते हैं—

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥१७॥

उजड़ी नगरी अयोध्या—

राजा रामके पुत्र कुशने अयोध्याको तज दक्षिण कोशलमें कुशावतीको अपनी राजधानी बनाया था। अयोध्या नगरीकी परित्यक्ता राजलक्ष्मी राजा कुशके पास जाकर उससे उस उपेक्षित नगरीके पूर्व ऐश्वर्य और संप्रति करुण स्थितिका वर्णन करती है। वह वर्णन जितना अयोध्याके संबंधमें सही है उतना ही दूसरे ध्वस्त और उपेक्षित नगरोंकी स्थितिका भी परिचायक हो सकता है। राजलक्ष्मी कहती है—

विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥

रघु० १६, ११॥

मेरी नगरी मेरे राजाके न रहनेसे, भवनशिखरों और अटारियोंके टूट जानेसे, परकोटोंके गिर जानेसे कुछ ऐसी लगती है जैसी सूर्यास्तकी वह साँझ, संध्याका वह आकाश, जहाँ निःसत्त्व टूटे बादल बिखरे रहते हैं। रातें तो उस नगरीकी और भी भयानक हो उठती हैं। एक दिन था जब रातमें उस राजमार्गपर चमकते निःशब्द पाजेब पहने अभिसारिकाएँ चलती थीं और आज उसपर वे अशुभरूप सियारिनें डोलती हैं जिनके मुँहसे रोते-चिल्लाते समय उल्काएँ निकलती रहती हैं—

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥१२॥

नगरकी दीर्घिकाओं (बावलियों) का आज बुरा हाल है। उनमें कभी जलविहारके समय मस्त नारियाँ उनका जल हाथोंसे पीट-पीटकर मृदंगकी मादक गंभीर ध्वनि उत्पन्न किया करती थीं आज वही बावलियाँ जंगली भैंसोंकी सींगोंकी मारसे चीख़ रही हैं, शब्दायमान हैं—

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥१३॥

उन्हीं दीर्घिकाओंमें स्नान करनेके लिए जातीं रमणियाँ जहाँ सीढ़ियोंपर हालके लगे पैरोंकी महावरके लाल रंग छोड़ जाती थीं आज वहीं उनपर हालके मारे मृगोंके रक्तसे सने अपने पैरोंकी छाप बाघ छोड़ देते हैं—

सोपानमार्गेषु च येषु रामानिक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥१५॥

महलोंके नज़रबागोंमें जो मोरोंके आराम करनेके लिए डंडे बने थे उनके टूट जानेसे वे अब पेड़ोंपर सोया करते हैं; नगरके मृदंगोंकी आवाज़ तब मेघ की गड़गड़ाहट-सी लगती थी जिसे सुन वे अपने मंडल बाँध थिरक उठते थे, आज उस आवाज़के अभावने इन्हें आलसी बना दिया है, वे अब

नाचते नहीं। हाँ, जंगली आगने उनके मंडलके पंख जो जला डाले हैं तो बचे पंखोंसे वे साफ जंगली लगने लगे हैं। क्रीडामयूर आज वन्यमयूर हो गये हैं—

वृत्तेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥१४॥

भवनभित्तियोंपर बने चित्रोंमें अंकित हथिनियों द्वारा कमलनाल दिये जाते हाथियोंको वास्तविक समझ नगरमें फिरनेवाले बाघ अब उनपर चोटकर उनकी कनपटियाँ फाड़ देते हैं। जहाँ चित्रोंकी कोमल भावनाओंके दर्शन होते थे वहाँ जंगल हो गया है, शेर फिरते हैं और नखोंसे चित्रित गजोंके मस्तकोंपर प्रहारकर चित्रोंको नष्ट कर देते है। यही हाल है महलोंकी रेलिंगोंके खंभोंपर बनी नारी मूर्तियोंका जिनके स्तनोंपर रंगोंसे चढ़ी ओढ़-नियोंकी जगह अब उनपर रेंगते सापोंकी छोड़ी केचुलोंने ले ली है। (मूल श्लोक चित्र और मूर्तिकलाके प्रसंगमें देखिये) स्वयं भवनोंकी अब बुरी गति है। कभी उनकी धवलता चाँदनीकी चमकसे भी मोतियोंकी माला-सी दमकती थी, आज उसी चाँदनीसे उनकी कलुषता प्रकट हो जाती है, क्योंकि उनका चूना काला पड़ गया है और उनकी मुडेरों और दीवारोंपर घास उग आई हैं। चाँदनी भी वही है, रात भी वही है, वही भवन है, पर राजाकी उपेक्षा मात्रके कारण चन्द्रकिरणें अब उनपर चँवर नहीं झलतीं—

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणांकुरेषु।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥१८॥

कभी उपवनोंकी वल्लरियोंको अपने कोमल करोंसे झुकाकर दयापूर्वक विलासिनियाँ फूल लोढ़ा करतीं, आज नन्हीं उद्यानलताओंको जंगली पुलिन्द और बन्दर झकझोर कर व्यथित कर देते हैं—

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥१६॥

महलोंकी वे खिड़कियाँ जो कभी रातमें दीपकोंकी प्रभासे आलोकित रहती थीं और दिनमें सुंदरियोंके मुखोंसे सजी रहती थीं आज उनसे विरहित और धुएँसे काली हो गई हैं। वे टूट गई हैं और उनपर मकड़ियोंने जाले तन दिये हैं—

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥२०॥

और नगरवर्ती उस सरजू नदीको देखते तो छाती फटने लगती है। उसका तट सूना है, उसकी रेतमें अब पूजा आदि क्रियाएँ नहीं होतीं, न उसका जल ही स्नानार्थियोंके तनमें लगे चूर्ण, अंगरागादिके स्पर्शका सुख पाता है। और तीरके बेतोंके कुंज सूने पड़े हैं। इस कुंजके उल्लेखसे संकेतस्थान-का निर्देश किया गया है।

बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥२१॥

बसी नगरी उज्जयिनी—

कालिदासकी उज्जयिनी (आधुनिक उज्जैन) नगरीके प्रति विशेष अनुरक्ति है। उसका उन्होंने विशद और अभिराम वर्णन किया है। इसीसे कुछ विद्वानोंको उनके उज्जयिनी निवासी होनेका भी भ्रम हुआ है। कालि-दास रहने वाले चाहे जहाँके रहे हों, यह निःसंदेह सही है कि उस नगरीके प्रति उनका असाधारण अनुराग था। इससे यद्यपि 'मेघदूत'में मेघकी सीधी राहमें उज्जयिनी नहीं पड़ती, उनका यक्ष अपने मित्रको राह छोड़ कर भी उस नगरीकी ओर भेजता है। वह स्पष्ट कहता है कि सही है कि उत्तर दिशा

की अलकाकी ओर जाते हुए उज्जयिनी तुम्हारी राहमें नहीं पड़ेगी, और यदि उज्जयिनीकी ओर जाओ तो निश्चय मार्ग छोड़कर, घूमकर, तिरछे जाना होगा, पर निःसन्देह मैं नहीं चाहूँगा कि तुम उस रहस्यमयी नगरी को देखनेसे चूक जाओ। हरगिज़ तुम उसके भवनोंके दर्शनसे वंचित न रह जाना क्योंकि तुम्हारी बिजलीके लपकते शोलोंसे डरी घबड़ाहटमें चंचल-नयनोंके कटाक्षोंको इधर-उधर फेंकती वहाँकी नागरिकाओंकी चितवनोंमें अगर तुम न रमे तो निश्चय तुम अभागे हो, तुम्हारा जन्म अकारथ है—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥पूर्व, २७॥

सो जाना, उस नगरीको, उस विशाला नगरीको, जिसका नाम ही 'विशाला' है, जो अवंति देशकी राजधानी है, और जहाँ उदयनकी कथा चरितार्थ हुई थी। वह कथा आज तक अवन्ति और उज्जयिनीके निवासियोंको नहीं भूली। आज भी उस कथाको गाँवके जानकार बूढ़े कहते और भावुक नौजवान बड़े चावसे सुनते हैं। क्या थी वह कथा? कौशांबीके रोमांचक प्रणयी वत्सराज उदयनकी कथा है वह जिसे संस्कृतके सभी मतिमान कवियोंने गाया है—भासने, सोमदेवने, हर्षने। वत्स और उसके दक्षिणकी अवन्तीकी सीमाएँ लगी हुई थीं, उनके स्वामी उदयन और प्रद्योत परस्पर शत्रु थे, एक दूसरेके राज्यको निगल जानेके उपक्रम किया करते थे। उदयन को गजग्रहणकी कमजोरी थी। प्रद्योतने कृत्रिम गजराजको वत्सकी सीमाके जंगलोंमें छोड़ दिया। उसके उदरमें सशस्त्र सैनिक छिपे थे। उदयन जब हाथीके शिकारको वहाँ गया तब उस कपटगजसे निकलकर सैनिकोंने अकस्मात् उसे बाँध लिया। उदयन प्रद्योतका बन्दी होकर उज्जयिनीमें रहने लगा। वीणावादनमें वह अनुपम था। अपनी वीणासे जब वह राग

झंकृत करता तब क्या गज क्या मानव सभी विभोर हो उठते। प्रद्योतकी अप्रतिम कन्या वासवदत्ता उदयनके रूप-गुण पर मुग्ध थी। उसने पितासे वीणा सीखनेकी आज्ञा माँगी, अनुनय किया। उदयन उसे वीणावादन सिखाने लगा और एक दिन दोनों गज पर चढ़ कौशांबी निकल भागे। शुंगकालीन मूर्तिकारोंको वह पलायन इतना भाया कि उन्होंने कलामें उसे विशिष्ट अभिप्राय ही बना डाला। अनेकानेक ठीकरों पर उस पलायनका दृश्य उभार दिया गया। यही उदयनकी वह कथा थी जो गाँवके बूढ़े उज्जयिनीमें तब भी कहा करते थे जब कालिदासने उज्जयिनीको जाना था। सो वह नगरी भी ऐसी थी जहाँ स्वर्गके पुण्यात्मा निवासी वहाँसे धरा पर लौटकर अवन्तीके उस स्वर्ग-खण्ड उज्जयिनीमें ही बस गये थे। कवि कहता है कि वे पुणयात्मा अपने पुण्यका एक भाग बचाकर, उसके मूल्यमें उज्जयिनीको पाकर, वहीं आ बसे थे और इस प्रकारके स्वर्गको धरतो पर उतार लाये थे, क्योंकि निःसन्देह उज्जयिनी उसी स्वर्गका एक देदीप्यमान खण्ड थी। उसमें बसने वाले भाग्यवान पुण्यात्मा थे, स्वर्गोचित गुणवान। बड़े भाग उनके जो वहाँ तब बसते थे, अब जो वहाँ बसते हैं—

प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-
न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥३०॥

और वहाँके वैभवके क्या कहने, अनुराग और प्रणयके स्रोत वहाँ फूटे पड़ते हैं, सिप्रातटवर्ती वह नगरी निसर्गकी प्रिया है, अनमोल। सिप्राके जलसे आलोडित उसके सीकरोंसे सिंचे पवनके पंखों पर चढ़कर सारसोंकी कूक-ध्वनि दिगन्तमें फैल जाती है। वह पवन प्रभातकालीन प्रफुल्ल कमलोंकी रजसे बोझिल हो वातावरणको महमह कर देता है, गातमें लग उसे पुलकित कर देता है, फिर नारियोंकी संयोगजनित थकान उनकी देह परस परस कर

मिटाता है। वस्तुतः वह सिप्रावर्ती पवन नारियोंके प्रति प्रियतमका-सा आचरण करता है, सभी प्रकारसे उनकी चाटुकारिता करता है।

फिर यक्ष उज्जयिनीकी विशाल अट्टालिकाओंकी ओर इशारा करता है। कहता है, मेघ, वहाँके विशाल भवनोंकी खिड़कियोंकी जालियोंसे सुगन्धित द्रव्योंसे बसा वह धुआँ निकल रहा होगा जिससे वहाँकी सुरुचिशील ललित वनिताएँ अपने केश सुखाया करती हैं। उस धुएँको पीकर अपना शरीर पुष्ट कर लेना—धुएँसे ही मेघका तन बनता है (*धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः*) फिर अपने बन्धुजनों, उन अट्टालिकाओंमें पले मयूरों द्वारा प्रस्तुत भेंट स्वीकार करना, उनका तुम्हारे स्वागतमें प्रस्तुत नृत्य उन धवल हर्म्योंकी श्वेत फर्श प्रमदाओंके रंगे चरणोंकी आलता से जगह-जगह रंग जाती है, उनका कोना-कोना कुसुमोंकी सुरभिसे बस जाता है। वह निःसन्देह उस नगरीके उन भवनोंका बड़ा वैभव है, लक्ष्मी है वह उनकी अभिराम संपदा, उनको निहारते, अभिमत वातावरणमें रमते तुम कुछ काल वहाँ रुककर अपनी राहकी थकान दूर कर लेना, फिर आगेकी तय करना—

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यंल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥३२॥

वहीं सिप्रा तटपर चण्डीश्वरका पवित्र धाम है, शिवके ज्योतिर्लिङ्गोंमेंसे एक, सिप्राकी गन्धवती धारासे संयुक्त। सो मेघ, तुम वहाँ जाना, महाकाल के उस धाम पर, जहाँ नीलकण्ठके गण तुम्हारी नीलिमामें अपने स्वामीकी आकर्षक आभा देख तुम्हें प्रसन्न वदन निहारेंगे और जानो, कि उस त्रिभुवनके प्रभुके पावन धामकी महिमा अपरम्पार है। उसके उद्यानके वृक्षोंको साधारण वायु नहीं हिलाती, गंभीराकी वह शीतल सीकरबोझिल वायु

मन्द-मन्द हिलाती है जिसके कमलोंकी परागसे बसे जलको उज्जयिनीकी मदमस्त नारियाँ स्नान और जलविहारके समय अपने शरीरके अंगरागादि द्रव्योंसे भर देती हैं। महाकालकी अवधूत संज्ञा जिस मात्रामें उस उद्यानमें सार्थक है उसी मात्रामें विशालाका वैभव भी वहाँ चरितार्थ है। इससे, मेघ, डरना नहीं, रमना उस नगरीमें—

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३३॥

और उज्जयिनीमें महाकालकी सांध्य अर्चना तो बस देखने ही लायक होती है—हजार-हजार दीपोंके सहसा जल उठने और अनेकानेक नगाड़ोंके मन्द-ध्वनिसे बज उठनेसे मन्दिरका प्रांगण आलोक और मधुरध्वनिसे उमग उठता है। सो, अगर सन्ध्यासे अन्य भी किसी समय वहाँ पहुँचना तो यह सोचकर कि यात्रा है चल पड़ें, चल न पड़ना, विरम जाना वहाँ, और तब-तक विरमे रहना जबतक कि सूर्य नयनोंसे ओझल न हो जाय, फिर साँझ की शिव-पूजाके समय धीरे-धीरे गरजकर, नगाड़ोंकी गम्भीर ध्वनिका प्रतिनिधि बन अपनी गर्जनाको चरितार्थ कर लेना, उसका अविकल फल प्राप्त कर लेना। क्योंकि अगर तुम वहाँ न गरजे तो तुम्हारा गरजना अकारथ है—

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३४॥

महाकालके मन्दिरमें देवदासियाँ नियुक्त हैं, नाचती-गाती रहने वाली वेश्याएँ। उनका काम है पूजाके अवसर पर, समय-समय पर, नाचते हुए

भगवानको चँवर झलते रहना। यह कार्य साधारण नहीं बड़ी मेहनतका है। जानो कि थिरकते रहनेसे उनकी करधनियोंके घुँघुरू बज रहे होंगे, अत्यन्त मीठे और रत्न जड़े कंगनोंकी ज्योतिसे दमकते चँवर-दण्डको डुलाते-डुलाते उनके हाथ कबके थक गये होंगे, तुम्हारा निःसंदेह बड़ा उपकार मानेंगी वे, अगर तुम अपनी वर्षारम्भकी नई नन्हीं बूँदोंसे उनके नखोंको, नखक्षतोंको, सींच दोगे। बड़ी जलन होती हैं नखक्षतोंमें (वेश्या नाम आते ही कविको उसकी वृत्तिकी भी याद आई और उसने नखोंका दर्द नखक्षतों तक पहुँचा दिया)—और शीतल जल उनपर शीतल मरहमका काम करता है । सो कवि कहता है, अपनेको उपकृत मान वे वेश्याएँ तुमपर भौंरों सरीखे काले लम्बे कटाक्ष फेंकेंगी—

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥३५॥

पशुपतिकी उस सांध्य पूजाके पश्चात् भी, जलधर, तुम्हें कुछ करना होगा। शिवका तब ताण्डव प्रारम्भ होगा और वे अपने सारे संहारक सिंगारोंसे सजकर नाचेंगे। ऐसेमें भवानी अनेक बार संत्रस्त हो उठती हैं और त्रास-की शिवविभूतियोंमें उन्हें कोई इतना भयान्वित नहीं कर पाता जितना रक्त टपकाता शिवका वसन गजचर्म। सो, एक काम करना, वनके तरुलताओं पर छाकर मण्डल बना लेना जिससे डूबते सूरजकी बची-बिखरी किरनोंके सांध्य तेजसे तुम्हारे कलेवर जब कुसुमका रक्ताभ सौन्दर्य धारण करेगा, आकर्षक और दर्शनीय हो उठेगा। तभी भवानीकी आँखें भी तुम-पर टिक न सकेंगी, और तब भयके शान्त हो जानेसे गजाजिनसे नयन हटा उन्हें निस्पन्द कर, तुम पर डालेंगी, तुम्हारा सौभाग्य जागेगा—

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।

नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥३६॥

और देखो उस नगरीमें केवल महाकाल और उनके गणोंका ही राज नहीं है। स्वयं महाकालकी पूजाको अपने लास्यका योग देती हैं मन्दिरकी वेश्याएँ। नगरी वह विलासकी भी है, जहाँ परकीयाओंकी प्रधानता भी उतनी ही है जितनी स्वकीयाओंकी, और जहाँके सुरभित वनोंके संकेतस्थान सदा अभिसारिकाओंकी गतिके लक्ष्य बने रहते हैं। इन्हीं अभिसारिकाओंकी, उनके अभिसारकी, बात कहता हूँ, तनिक स्थिर हो सुनो—रात्रिमें राज-मार्ग जब सूने हो जाते हैं, तब उनपर निबिड़ अन्धकार छा जाता है, तब सूचीभेद्य अन्धकारमें उन अबलाओंको गति रुक जाती है। बस तभी उन्हें तुम्हारी सहायताकी आवश्यकता होगी। पर सहायता वह ऐसी होनी चाहिए कि उनका मार्ग भी सूचित हो जाय और न वे परेशान होने पायें न घबड़ायें। तुम इसलिए, तब न तो गरजना, न बरसना, वरना वे डरकर काँप जायँगी, संकल्पभ्रष्ट हो जायँगी, भींजकर वे प्रियकी कमनीय नहीं रह जायँगी, कामकी गर्मी उनकी शान्त हो जायगी, तपनकी पीड़ाका अन्तर उष्णतासे तपता है, जलका स्पर्श उसे कामविरत कर देता है, उसका सहकारी तो मात्र सात्त्विक स्वेद है। सो न तो तुम गरजना, न बरसना, अपनी बिजली द्वारा उनकी खोई राह उन्हें सुझा देना। और वह भी दिशाओंको सर्वशः आलोकित कर नहीं, पतली तारवत् चमक द्वारा, जैसे काली कसौटी पर सुनार सोनेको परखते समय उससे लाल रेखा खींच देता है वैसे ही तुम घने अन्धेरेमें अपनी बिजलीका महीन तार खींच देना, जिससे 'सूचिभेद्यान्धकार' की संज्ञा चरितार्थ हो जाय, जिससे बिजलीकी लाल सुनहरी सुईसे उनकी काली छाती दरक जाय। इसीसे रमण-भवनोंको जाती हुई अभिसारिकाओंका काम सधेगा और अनुरागियोंका प्यार पलेगा—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥३७॥

थोड़ेसे शब्दोंमें कविने कितनी सुरुचि और खूबसूरतीसे कितने भाव भर दिये हैं—अभिसारिकाओंका अभिसारके लिए रातमें जाना, सुईसे छिद जानेवाले ठोस अँधेरेसे उनकी गतिका रुक जाना, बिजलीसे मेघका कसौटीपर सोनेकी लकीरकी तरह तार भर उजेला कर राह झलका देना। फिर अन्तिम चरणमें तो कविने एक साथ दो जनोंके तीन भाव व्यक्त कर दिये हैं—मेघका गरजना, उसका बरसना और उनसे अभिसारिकाओंका डर जाना। इनमें एकको उसने सावधान किया है दूसरीको आश्वस्त।

और तब मेघको कविका यक्ष उसका कर्तव्य सुझा देता है। उज्जयिनीके विलास-प्रदर्शनमें कवि स्वयं इतना विभोर हो गया था कि उसे हुआ कि मेघ भी कहीं अपना करणीय न विसार बैठे। सो वह उसे नगरीकी अन्तिम छटाकी ओर आकृष्ट करता सावधान करता-सा कहता है—

तां कस्याञ्चिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥३८॥

फिर मेघ, तुम तनिक विश्राम करना, अपनी उस पत्नी चपलाका भी थकान मिटाना जो निरन्तर चमकते रहनेसे थककर कमजोर हो गई होगी। नगरकी ऊँची अटारियोंपर कबूतर तक निःशब्द सो गये होंगे। निरन्तर गुटरगू करते रहते हैं ये, पर महलोंकी वलभियाँ (ओरियानियाँ-मुंडेरों) में रहनेवाले इन कबूतरोंकी नीरवतासे तुम दोनोंको बड़ा एकान्त प्रतीत होगा क्योंकि निर्जनता प्रणयकी पोषक है। सो वहीं किसी अटारीकी छतपर

रात भर रम लेना। पर पौ फटते ही सूर्यके क्षितिजपर दृष्टिगोचर होते ही चल पड़ना अपने बचे हुए मार्गको तय करने। हाथमें लिये हुए कार्यको विना पूरा किये मित्र आलस्य नहीं करते, शिथिल नहीं होते। कविने इस श्लोकमें और बातोंके साथ दो विशेष परिस्थितियोंका ध्वनि द्वारा उल्लेख किया है। एक तो उज्जयिनी ऊँची और स्पर्शशीतल अटारियोंका, चूँकि ऊँचे और शीतल मकानों, मन्दिर-शिखरों आदिमें ही कबूतर अपने नीड बनाते हैं। दूसरे विद्युतके बिलाससे खिन्न होनेका बराबर चमकते रहनेसे चुककर उसका क्षीण हो जाना स्वाभाविक है, फिर चिरबिलास करके कौन क्षीणताको प्राप्त नहीं होता।

कालिदासको उज्जयिनी बड़ी प्रिय है, फलतः उनके प्रभात-सूर्यको भी वह उतनी ही प्रिय है, उसके पद्म, नलिनियाँ सभी। सो वह मेघको सावधान करते हुए कहते हैं—उसी प्रातःकाल जब सूर्यके दृष्टिगोचर होते ही तुम अपनी बची राह तय करने चल पड़ोगे तब कुछ अजब नहीं कि तेजीके कारण तुम उस प्रखर देवताकी राहमें आ अटको। तुम्हें जल्दी होगी; मित्रका कार्य पूरा करनेके लिए बची राहको तय करनेकी, उधर सूर्यको भी जल्दी होगी। कारण कि रात भर अन्यत्र रमनेवाले उस नायककी अनेक प्रियाएँ (कमलिनियाँ) खंडिता नायिकाएँ बन गई होंगी। विरह और मानमें रात भर बहाये उनके आँसुओंको पोंछकर उन्हें शान्ति प्रदान करने सूर्य उसी काल दौड़ा जा रहा होगा। तुम झट उसकी राह छोड़ देना वरना नलिनियोंके कमलवदनोंसे ओस रूप आँसू पोंछते जाते हुए सूर्यकी राह रोककर उसके विपरीत आचरण करनेसे वह तुमपर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठेगा। यह चेतावनी कविने अति मधुर असाधारण ललित पदावलीमें व्यक्त की है—

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।

प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥३६॥

अलका—

उज्जयिनीकी ही भाँति कालिदासने अलकाका वर्णन भीं मधुर वाणीमें किया है। कश्मीरके नागरिक कविको हिमालयके अंकमें बसी अलका और मालवामें बसी उज्जयिनी दोनों अमित प्रिय हैं। एक जन्म-भूमि होनेके कारण, दूसरी प्रवासकी नगरी होनेसे। दोनोंकी स्मृतियाँ बड़े मदिर पदों में कविने बिसूर-बिसूरकर कही हैं। दोनोंकी बिसूरती यादें उसके लिए गहरा अर्थ रखती हैं। अलकाका पहला ही दृश्य अत्यन्त रोमांचक और आकर्षक है—

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वां दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥६३॥

इच्छाचारी मेघ, उस प्रियतम कैलासकी गोदमें गंगारूपी साड़ी सरका कर बैठी हुई अलकाको भला हो सकता है तुम न पहचान सको ? निश्चय पहचान लोगे। यही अलका जब वर्षा ऋतुमें अपने ऊँचे महलोंके शिखरोंपर बरसते हुए तुम्हें धारण करती है तब लगता है कि कोई कामिनी अपनी अलकोंमें मुक्ताजाल गूँथे खड़ी हो।

और वह अलका तुमसे सभी बातोंमें होड़ करेगी, है भी वह अनेक बातोंमें तुम्हारी ही तरहकी—तुम्हारे अन्तरमें चपला कौंधती रहती है, उसके भवनोंमें स्वर्णाभ कामिनियाँ बिलसती हैं, तुम जब-तब सात रंगोंसे संयुक्त इन्द्रधनुष धारण करते हो उधर अलकामें महलोंकी दीवारें सतरंग चित्रोंसे उजागर हैं, तुम मनभावन गरजते हो तो अलकाकी अटारियोंसे भी बजते मृदंगोंकी गंभीर मधुर ध्वनि निकलती रहती है, तुम्हारे भीतर

जल भरा है तो उसके भवनोंकी फर्श भी मणिमयी स्वच्छ है, और जो तुम इतने ऊँचे विचरते हो. आकाशगामी हो तो उसके प्रासाद भी अभ्रंकष हैं, अपनी चोटियोंसे आसमान चूमनेवाले, बादल चाटनेवाले—निःसन्देह अलका तुमसे किसी बातमें न्यून नहीं—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

उत्तरमेघ, १ ॥

करमें लीलाकमल, कुन्तलों में टटके माघी कुसुम, चूड़ापाशमें नये कुरबकके फूल, कानोंमें सिरसके प्रसून और माँगपर कदंबकुसुम धारे, होठोंको आलतासे रंग लोधकी रजसे उन्हें पीताभ किये, मुखड़ोंपर अकथनीय कांति बिखेरतीं अभिराम ललनाएँ अलकामें डोलती है। वहाँ प्रासादोंकी मणिमयी स्फटिक निर्मित छतोंपर, जो झिलमिल तारोंकी छबि प्रतिबिम्ब करती रहती हैं, यक्ष लोग रत्युपरांत बैठकर कल्पवृक्षके प्रसूनोंसे खिंची कादम्बरी चषकोंमें ढालते हैं, जब पुष्करकी स्निग्ध गम्भीर ध्वनि उनका मनोरंजन करती है।

फिर कवि हिमालयके नगरोंकी एक विशेषताकी ओर संकेत करता है—किस तरह बादल भवनोंमें घुसकर सब चीजें गीली कर देते हैं, उसकी ओर। वह कहता है—

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥६॥

वहाँ वायु द्वारा प्रेरित तुम्हारे सरीखे मेघ तेजीसे घुस सतखंडे महलोंकी

ऊँची छतों (और कमरों) की फर्शोंपर बने चित्रोंकों अपने नये जल-कणोंसे विकृत (मिटा) कर धुएँका रूप धारण करनेमें निपुण डरके मारे बिखर-बिखर खिड़कियोंकी जालीकी राह लौट पड़ते हैं। इसमें कविने मेघका चोरवत्-जारवत् सम्बोधन किया है। मल्लिनाथने मेघके इस आचरणमें जारका आचरण संचित माना है। मेघ घरोंमें जारवत् प्रवेश करता है, छिपकर, फिर वहाँ अन्तःपुरकी नारियों या प्रियतमा विशेषको भ्रष्ट कर, सहवाससे गीला कर, जार धर्मके अनुरूप ही जीर्णकर, स्वयं थकान और स्खलनसे जर्जर हुआ, पहचाने जानेके डरसे अपना प्रकृत रूप छोड़ अन्य रूप धारणकर चोरकी तरह भाग जाता है।

इस प्रकार कविने अलकाके वैभव और सौंदर्यका अत्यंत मार्मिक, ममत्वपूर्ण और मधुर वर्णन किया है। इस ग्रंथमें भी उसका अन्यत्र सविस्तर उल्लेख हो चुका है। नगरोंके प्रति कविका अनुराग प्रभूत है, पर वह उन्हें केवल अपनी वैयक्तिक प्रवृत्तिसे नहीं देखता। दूसरोंमें नगरोंके दर्शनसे क्या प्रतिक्रिया होती है इसका वर्णन भी उसे इष्ट है। इस दृष्टिको हस्तिनापुर संबंधी उसके वैखानसों द्वारा मुखरित वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं।

आश्रमवासियोंकी दृष्टिमें नगर—

शारद्वत और शार्ङ्गरव, कण्वाश्रमके ऋषिकुमार, तपस्विनी गौतमीके साथ शकुंतलाको साथ लेकर राजा दुष्यंतकी नगरी हस्तिनापुर पहुँचते हैं। नगरको देखते ही जो प्रबल प्रतिक्रिया ऋषिकुमारोंमें होती है उसका चित्र कालिदासने 'अभिज्ञानशाकुंतल' के पाँचवें अंकमें थोड़ेमें हीं पर बड़ी सफलतासे खींचा है। नगरके समीप पहुँचते ही, उसके दर्शनसे ही दोनोंके मनमें जैसे भाँति-भाँतिकी आशंकाएँ होने लगती हैं, उनके अनुभवमें एक प्रकारकी घिनौनी परिस्थिति घर करती है। शार्ङ्गरव अपनी उस स्थितिको छिपा नहीं पाता, कह डालता है—

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरहो
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।

तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥५,१०॥

शारद्वत, सही है कि राजा सामाजिक मर्यादाओंका पालन करनेवाला है, स्वयं धर्मात्मा है, और उसके राज्यमें अधम-से-अधम पेशावर भी अपनी शास्त्रीय सीमा नहीं लाँघता, अपनी सनातन राहपर चलता है। निश्चय श्लाघ्य है ऐसे राजा द्वारा शासित यह नगर। फिर भी मेरा मन इसे देखकर शांत नहीं होता, उद्विग्न हो उठता है। एकांतसेवी मेरा मानस इस जनसंकुल (भीड़भरे) नगरको देखकर भयभीत हो उठता है। मुझे लगता है जैसे यह ज्वालाओंसे घिरा हुआ गाँव हो।

स्वयं शारद्वतकी प्रतिक्रिया इस दशासे विशेष भिन्न नहीं है। उसे भी भोगोंमें आसक्त नगरवासी वैसे ही अस्पृश्य और घिनौने लगते हैं जैसे स्नान किये हुए व्यक्तिको तेल लगाया हुआ व्यक्ति लगता है, जैसे पवित्रको अपवित्र, जागते हुए को सोता हुआ और मुक्तजनको बन्धनबद्ध लगता है—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥५,११॥

यह स्थिति केवल स्वभावज नहीं है। निःसन्देह आश्रमवासीकी प्रतिक्रिया जनाकीर्ण नगरमें ऐसी ही हो सकती है, नाटककारने नाटकीय कारणोंसे इस प्रतिक्रियाको विशेषतः व्यक्त किया है। महाभारतकी लीकपर चलकर कवि राजाको अपने युगका निर्माता मानता है—*राजा कालस्य कारणम्*— ऐसे राजाके होने मात्रसे उससे शासित जनपदमें ईतियाँ नहीं व्यापतीं, प्रजा को विपद्का सामना नहीं करना पड़ता। राजा गोप्ता है जिससे उसके अस्तित्व मात्रसे पुत्रार्थ धेनु-सेवाके लिए वनमें प्रवेश करते ही वन्यस्थिति में सकृत् परिवर्तन होनेकी बात 'रघुवंश' सर्ग दो में कहता है—

शशाम वृष्ट्यापि बिना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

रक्षक (गोप्ता) राजाके उस वनमें प्रवेश करते ही दवाग्नि बिना मेहके ही शान्त हो गई, चारों ओर फलकी विशेष समृद्धिसे वन उमग उठा, और बलिष्ठोंने कमजोरोंको सताना छोड़ दिया। इसके विपरीत प्रकृतिके विरुद्ध परिणाम राजाके अपचारका फल माना जाता था। पिताके जीवन-कालमें पुत्रका निधन राजाके पापका परिणाम समझा जाता था। जब जनपदके ब्राह्मणने अपने ऐसे संकटके समय रामके दरबारमें पुकार की तब दशरथके शासनसे च्युत होकर रामके शासनमें आनेसे ही पृथ्वीको अपचार का कारण माना—

शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथाच्च्युता ।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता ॥रघु०, १५,४३॥

और रामसे कहा भी कि राजा, जरा पता लगाओ, कहीं अपचार हो रहा है तुम्हारे राजमें, उसे मेटो—

राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते ।

सो कालिदास भी एक स्मार्त परिस्थितिको सम्हाल रहे हैं। राजा असाधारण शासक है, वर्णाश्रमोंका रक्षक है, स्वयं अपने शीलसे उनकी मर्यादाओं और सीमाओंको माननेवाला है, उत्तरदायी है, फिर तो उसकी राजधानीमें किसी प्रकारके अन्यायकी संभावना ही नहीं, विशेषकर जब स्वयं वही धर्मासन पर बैठा न्यायका मनुकी नेमिवृत्तिसे वितरण कर रहा हो। और नारीके प्रति तो वैसे भी वह दुःशील नहीं हो सकता, विशेषकर जब वह नारी शकुंतला सी अनिन्द्य सुंदरी और आश्रमवासिनी हो, सर्वथा निष्कपट, फिर जब वह उस राजाकी स्वयं अपनी प्रिया हो, गन्धर्वरीत्या स्वीकृता पत्नी हो।

पर नाटकमें हो उसके विपरीत जाता है और राजा ऐसी शकुंतलाको

त्याग कर निर्मम क्रूरताका व्यवहार करता है, पालक स्वयं अत्याचार कर बैठता है, विशेषकर जब अबलाका दोष सिवा इसके और कुछ नहीं कि उसने उसके साथ निश्छल प्रेम किया। निश्छल प्रेमका परिणाम क्या यही है? स्वाभाविक ही यह प्रश्न होगा और सौजन्यकी सारी भावना अपचारके पंकमें डूब जायगी, दर्शक स्वयं इस अनपेक्षित स्थितिको सह न सकेगा। इससे समर्थ कवि विशेष मानवीय मानस वाले ऋषिकुमारोंको, उनके हृदयोंमें आशंका उठाकर, उस शीघ्र घटने वाली घिनौनी घटनाके प्रति तैयार कर देता है, जिससे वे नितांत सुजनताके व्यवहारके प्रति शंकित हो जायँ और आगे आनेवाली विपत्ति उन्हें सर्वथा निस्पन्द, निरवलंब न कर दे।

राजा और राजधर्म—

कालिदासने राजा और राजधर्मका, उसकी नीति और व्यवहारका बड़ा एकांतिक और विशद वर्णन किया है। यहाँ उसका सविस्तर उल्लेख या व्याख्यान अभिप्रेत नहीं, पर उसका प्रायः संक्षिप्त उल्लेख कर देना नामुनासिब न होगा। सही है कि तत्संबंधी श्लोकोंमें कोई साहित्यिक या पदलालित्यका चमत्कार नहीं है। पर इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता कि उनमें नीतिकी निःसीम जानकारी और बहुतको थोड़ेमें सूत्रवत् कहनेकी अनुपमेय शक्ति है। एक स्थल दृष्टांततः निर्दिष्ट कर देना अनुचित न होगा। प्रसंग 'रघुवंश'के पहले सर्गमें सूर्यवंशी राजाओंके गुणोंके व्याख्यानका है जिनकी कथा कहना कालिदासको अभीष्ट है। वे कहते हैं—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥१,५॥

मैं उन पराक्रमी राजाओंका चरित वर्णन करने जा रहा हूँ जिनके चरित आरम्भसे (अन्त तक) पवित्र थे, जो कर्मोंका प्रयत्न फल-लाभ तक करते थे, जिनका साम्राज्य समुद्रोंके तीर तक फैला हुआ था और इन्द्रकी

सहायताके लिए जाते-आते जिन्होंने स्वर्ग तक अपने रथोंकी लीक बना दी थी।

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥६॥

वे रघुवंशी राजा शास्त्रानुसार यज्ञ करते थे, याचकोंको मुँह-माँगा दान देते थे, अपराधोंका दण्ड वे उनकी लघुता-गुरुताके अनुसार देते थे, समयानुसार कार्य करते थे, राजाओंमें बताई दैनिक व्यवस्थाके अनुसार ही आचरण करते थे। उनके कार्यकलाप निःसन्देह विस्मयजनक थे—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥७॥

वे धनका संचय उसे दान करके त्याग देनेके लिए ही करते थे, सत्यकी रक्षाके लिए ही मितभाषी होते थे, यश और कीर्तिके लिए ही देश विजय करते थे, कुछ धन और राज्यकी लालसासे नहीं, और विवाह विलासके लिए नहीं केवल संतानलाभके लिए ही करते थे। उनका चरित ऐसा था—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥

—कि बालपनमें विद्याका अर्जन करते थे, जवानीमें भोगोंको भोगते थे, वृद्धावस्थामें ऋषिवत् आचरण करते थे, और अन्तमें योग द्वारा शरीरका विसर्जन करते थे। इस प्रकार अपने जीवनमें वे चारों आश्रमोंके कर्तव्यों का पालन करते थे।

कविने 'रघुवंश' में अन्यत्र भी राजधर्मका अनेक प्रकार और प्रसंगमें वर्णन किया है। रघुवंशी राजाओंकी गुणगणनाके विस्तारमें ही राजा दिलीपके गुणोंका बखान भी हुआ है जो साधारणतः किसी भी आदर्श राजाके पक्षमें सही हो सकता है। राजा दिलीपके लिए कवि कहता है—

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भः आरम्भसदृशोदयः ॥१५॥

राजाका जैसा रूप था वैसी ही बुद्धि थी जैसी बुद्धि थी वैसी ही धारणा शक्ति थी जिससे शास्त्रादिका अध्ययन स्वाभाविक और सहज हुआ, शास्त्रके अनुसार ही वह सुन्दर कार्य और उनका सही आरम्भ करता था और आरम्भके अनुकूल ही उसे सफलता मिलती थी, उसका अध्यवसाय फलता था ।

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥१८॥

राजा दिलीप प्रजाके कल्याण और समृद्धिके लिए ही उससे कर लेते थे, और जैसे सूर्य पृथ्वीसे जितना जल खींचता है उसका हज़ारगुना मेहके रूपमें बरसा देता है वैसे ही राजा प्रजासे जो कुछ कर वसूल करता था उसे वह उसीके कार्यमें खरच देता था, उससे प्रजाके लाभके हज़ार काम कर देता था । उसके वैयक्तिक गुणोंकी सत्ता भी असाधारण थी—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥२२॥

ज्ञान होने पर मनुष्य प्रगल्भ होता है, पर वह इतना ज्ञानी होकर भी प्रकृतितः मौन और मितभाषी था, शक्ति होने पर राजा उद्दण्ड और क्रूर हो जाता है, पर वह उस स्थितिमें शत्रुओंके प्रति क्षमाशील था, दान देकर मनुष्य प्रशंसा और यशकी कामना करता है, पर वह उनकी ओरसे उदासीन था । वस्तुतः इन परस्पर विरोधी गुणोंको उसने इस प्रकार साधा था कि, लगता था, वे एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं, सहोदर हैं ।

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥२४॥

वह राजा अपनी प्रजाके प्रति सर्वथा पितावत् आचरण करता था, उनको विद्वान् तथा विनयी बनाता था, खतरोंसे उनकी रक्षा करता था, उनका भरण-पोषण करता था । ये सारे काम जन्म देने वाले पिताके हुआ करते हैं, पर जो राजने उन्हें अपने हाथमें ले लिया था तो स्वाभाविक पिता तो प्रजाजनोंको केवल जन्म देने वाले रह गये थे, वास्तविक पिता तो राजा दिलीप थे ।

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥२६॥

राजा (गाय) पृथ्वीको यज्ञके लिए दुहता था । जैसे इन्द्र आकाशको अन्नोंके लिए । यज्ञसे इन्द्रका लाभ था, वर्षासे राजाकी प्रजाका । इस प्रकार राजा यज्ञादिसे इन्द्रका और इन्द्र वर्षादिसे राजाका परस्पर उपकार करते हुए दोनों लोकोंको पालते थे ।

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथाहि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥२६॥

निश्चय उसे ब्रह्माने साधारण मानव उपकरणोंसे नहीं महाभूत समाधियोंसे बनाया था, और जैसे महाभूत प्रकृतिके पंचतत्त्व अपने-अपने आश्रय छोड़ शरीरका निर्माण करते हैं, वैसे ही उस राजाके गुण भी मात्र दूसरोंके अर्थसाधक थे, परोपकार करने वाले । और राजा वह चक्रवर्ती था, समूची पृथ्वी पर अकेला राज करता था और उसका शासन उस विस्तृत धरा पर ऐसा था जैसे वह एक नगरका शासन हो । जैसे एक नगरको परकोटे और जलभरी खाईसे घेर कर कोई उसकी रक्षा करे वैसे ही राजा अपनी ससागरा धराको समुंदर तीरके परकोटेसे घेर, समुंदरको ही जल भरी खाई बना अपने साम्राज्यका एक नगरकी भाँति शासन करता था—

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥३०॥

इस श्लोकके भावार्थसे कविने चक्रवर्ती नृपतिके साम्राज्यकी ओर संकेत किया है। इसी प्रकारके चक्रवर्ती राजा कुशके पौत्र नलके संबंधमें भी कविने कहा है कि कमलनेत्र सागरवत् धीरचित्त वाले पृथ्वी पर अनुपम वीर नगरके सिंहद्वारकी अर्गलाकी-सी दीर्घ भुजाओं वाले उस राजा निषध (नल)ने अपनी ससागरा पृथ्वीको एकछत्र सम्राट् होकर भोगा, उसपर शासन किया—

पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥रघु० १८,४॥

इसी चक्रवर्ती स्वरूपको महर्षि मारीच बालक भरतको आशीर्वाद देते हुए व्यक्त करते हैं—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥
शाकु० ७, ३३॥

राजन्, चक्रवर्ती होगा पुत्र यह तुम्हारा। दृढ़ और सीधे चलने वाले रथ पर चढ़ स्वयं अप्रतिरथ (बेजोड़) यह समुद्रोंको पारकर सातों द्वीपोंको जीत लेगा। और जो यह हमारे आश्रममें सभी जीवोंको बलपूर्वक दमन करनेके कारण सर्वदमन कहलाता है वही लोक (प्रजा) का भरण-पोषण करनेके कारण अब संसारमें 'भरत' नामसे विख्यात होगा।

चक्रवर्ती सम्राट् अपने मांडलिकों-सामंतोंसे सदा घिरे रहते थे। उनकी पादपीठी सामन्तोंके मस्तक-नमनसे, उनके मुकुटोंके रत्नोंसे, चमक उठती थी, रंग-बिरंगी आभासे रँग जाया करती थी। 'विक्रमोर्वशीय'में राजा अपनी साम्राज्य-प्रभुताको इस प्रकार व्यक्त करता है—देखो, सखे, इस प्रियाके आज्ञापालनसे मैं अपनेको जितना कृतार्थ मानता हूँ उतना अपने एकछत्र

साम्राज्यकी प्रभुता और सामन्तोंके चरणस्पर्शके लिए झुकते मुकुटोंकी मणियोंकी आभासे रंजित पादपीठीसे भी अपनेको धन्य नहीं मानता—

सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठ-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम् ।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्त-
माज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥३, १६॥

वही स्थिति विशेष विस्तारसे राजलांछनको अभिव्यक्त करती हुई कविने उसी नाटकके चतुर्थ अंकमें इस छंदमें दर्शाया है—

विद्युल्लेखाकनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।
धर्मच्छेदात्पटुतरगिरो बन्दिनो नीलकंठा
धारासारोपनयनपरा नैगमाश्चाम्बुवाहाः ॥१३॥

बिजलीकी कौंधती लकीरोंसे भरे बादल ही मेरा स्वर्णखचित राजचंदोवा (श्रीवितान) है, निचुल वृक्षोंकी मंजरियाँ जैसे मुझे चँवर डुला रही हैं, निदाघ बीत जाने पर वर्षारम्भमें जिनकी वाणी और मधुर तीव्रतर हो गई है वही नीलकंठ मोर मेरे बन्दीजन (भाट) है, और मूसलधार बरसने वाले बादल ही मेरे ऋद्ध वणिक् हैं, जो वाणिज्यके फलस्वरूप देशमें धारासार धनकी वर्षा करते हैं, मुझे अनन्त धन भेंटकर मेरा खजाना भरते हैं ।

इस प्रकारके राजाका आचरण उसकी प्रभुताके बावजूद नरम होता था । नई पाई हुई पृथ्वी, नया हस्तगत शासन, उस नई बहूकी तरह है जो प्रखरता और बलात्कारसे डर जाती है । वस्तुतः उसका शासन-पालन कोमलतासे होना चाहिए जैसे नवपाणिगृहीत वधूका भोग दया और सौजन्यसे—

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥रघु०८,७॥

राजनीति शास्त्रोंके आधारपर कालिदासने बताया है कि वास्तवमें राजाको शासनमें मध्यम-मार्गका अवलंबन करना चाहिए, उसकी नीति न तो अत्यन्त कठोर होनी चाहिए न अत्यन्त मृदुल। फिर वह राजाओंका बगैर नाश किये उन्हें झुका दिया करेगा जैसे बीचगतिसे बहनेवाला पवन वृक्षोंको आँधीकी तरह उखाड़े बिना उन्हें हिला-झुका दिया करता है—

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहामिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥९॥

इस नीतिको बरतनेके लिए, प्रजाके शासन और न्यायवितरणके लिए राजा को निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता था, अपनेको निरालस घिसना होता था, कारण कि लोकतन्त्रका कार्य कुछ आसान नहीं है। 'शाकुन्तल'के पाँचवें अंकमें कंचुकी और वैतालिकोंने राजधर्म और लोक-नियन्त्रणकी कठिनतापर प्रचुर प्रकाश डाला है—

भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव
रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥४॥

शासनका भार उठानेवाला राजा सूर्य, पवन और शेषनागकी तरह है। सूर्य एक बार रथमें घोड़े जोत लेनेपर फिर विश्राम नहीं करता, पवन दिन-रात बहता-रहता है, शेषनाग सदा पृथ्वीका भार धारण किये रहता है, और यही धर्म प्रजासे आयका छठा भाग उगाहे कर पर जीनेवाले राजाका है। उसे भी विश्राम नहीं, क्योंकि लोक-शासनका कार्य कठिन है।

प्रसंग यह शकुन्तलाके आगमनका है। ऋषि-कुमारों और गौतमीके साथ शकुन्तलाके आनेकी खबर कंचुकीको राजाको देनी है। उसे राजाके

कठिन जीवनपर दया आती है। राजा व्यवहारासनसे वादियों-प्रतिवादियों में न्यायका वितरण करता रहा है, अभी हाल ही उठा है, और नवागंतुकोंके प्रति अब उसे अपना कर्तव्य निभाना है, सो उसकी थकान देखकर कंचुकी को भी एक बार चिन्ता हो आती है कि उसे आगन्तुकोंके आनेकी खबर करे या न करे—

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवतेऽशान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः॥

अच्छा, देव ये इधर हैं, प्रजाकी अपने बाल-बच्चोंकी तरह व्यवस्थाकर अब एकान्तमें अपनी थकान मिटा रहे हैं, जैसे यूथप गजराज अपने गजोंका नेतृत्वकर उन्हें चरनेको छोड़ स्वयं कड़ी धूपसे तपकर शीतल स्थानमें विश्राम करता है। फिर राजा स्वयं राज्यके सुखाभासकी ओर संकेत करता है—

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम्।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥६॥

राज पानेकी उत्सुकता में ही सुख है, उसे पा लेनेके बाद नहीं। राजा बन जानेपर प्रतिष्ठाकी महत्त्वाकांक्षा तो निःसन्देह पूरी हो जाती है, पर उसके बाद कष्टका ही सामना करना पड़ता है। कारण कि प्रतिष्ठाका सुख उसके पानेकी उत्सुकतामें ही है, क्योंकि पद या उस प्रतिष्ठाके पा लेनेपर उसके परिपालनकी वृत्ति अत्यन्त क्लेशकर होती है। बात यह है कि राज्यको धारण करना उस छातेके डंडेको हाथमें धारण करनेकी तरह कष्टकर है जो इतना थकान मिटाता नहीं जितना थकान देता है। छातेके

डंडेको कभी हाथमें जोरसे पकड़ना कभी कन्धेपर डाल देना एक नई थकान और परेशानी पैदा करता है। देखने वालोंको लगता है कि छाता लगाने वाला छातेसे धूपका निवारण कर बड़े सुखका अनुभव कर रहा होगा, और उसे लगता है कि उसने बेकार ज़हमत मोल ले ली है। उसी तरह राजाके ऐश्वर्यको देख लोगोंको उसके सुखका झूठा अन्दाज़ हो आता है, पर लोग जानते नहीं कि वह सुखका आभास मात्र है, वास्तवमें तो उसकी जिम्मेदारियाँ बेइन्तहाँ बड़ी हैं—Unhappy lies the head that wears the crown!

फिर राजाकी उसी ज़िम्मेदारी और कार्यभारको व्यक्त करते हुए वैतालिक कहते हैं—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं।
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥७॥

राजन्, स्वयं अपने सुखसे उदासीन आप संसार (प्रजा) के कल्याणके अर्थ दुःख सहते रहते हैं, दिनरात कष्टकर प्रयत्न करते रहते हैं। या सच पूछो तो यही आपकी दैनिकी वृत्ति ही है, वस्तुतः महाजनोंका स्वभाव ही ऐसा है। देखिए न वृक्षको कि अत्यन्त प्रखर धूप तो अपने सिरपर सहता है, पर अपने नीचे बैठने वालोंकी गर्मी अपनी छायासे हरता है।

नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥८॥

राजन्, आप कुमार्गगामियोंको अपने राजदंड द्वारा मार्गपर लाते हैं, उनको व्यवस्थाकी सीमा स्वीकार करनेको बाध्य करते हैं, वादियों-प्रतिवादियोंके

मुकदमे फैसल करते हैं, प्रजाकी रक्षाका इन्तजाम करते हैं। धनियोंके वैभवमें तो बन्धु-बान्धवों, हीत-नातेदारोंकी कमी नहीं होती परन्तु आप तो अपनी दरिद्र प्रजाके सब कुछ हैं, उनके भाई-बन्धु, माता-पिता, हीत-मित्र सब। इस प्रकार राजा दिन-रात अपनी प्रजाका कार्य साधता हुआ अपना 'राजा' नाम सार्थक करता था। कालिदासने उसके नामका प्राचीन और व्युत्पत्तिक अर्थ दिया है, परिभाषा उसकी असाधारण सारवान है—*'राजा प्रजारञ्जनात्'*, राजा प्रजाका रंजन, उसे प्रसन्न करनेसे होता है। कालिदासके मगधराज परंतपने अपनी प्रजाका रंजन करके ही अपना नाम यश कमाया था—*'राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः'*। राजाके निरन्तर धर्म-निर्वाह, साहसिकोंके प्रति जागरूकता और प्रजारक्षण कार्यमें भरपूर सचेत रहनेका ही यह परिणाम था कि चोर-डाकुओंकी हिम्मत नागरिकोंको संत्रस्त करनेकी नहीं होती थी। रघुवंशी राजा दिलीपके शासनकी 'रघुवंश'के छठे सर्गमें चर्चा करते हुए कवि कहता है कि उसके राजमें विहारके लिए निकली वेश्याओंके मदिरालस हो अर्धमार्गमें पड़ जानेपर जब वायु तकको उनके वस्त्र छूनेकी हिम्मत नहीं होती तब भला चोर-डाकुओंको कहाँ साहस हो सकता था कि वे चीजोंको चुरानेके लिए हाथ बढ़ायें!—

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥७५॥

इसीसे तो 'चोर' शब्द जीवनमें सार्थक न होकर व्याकरण और शब्द-साधनाके अन्तर्गत मात्र पुस्तकोंमें प्रचलित था।

अत्यन्त असाधारण प्रजार्थ-साधनमें लगे होनेसे राजा और उसके शासनकी यह स्थिति होती थी। जिस निष्ठा और पराक्रमसे राजा अर्थका अर्जन करता था उसी निष्ठा और पराक्रमसे उस अर्जित अर्थके विसर्जनके लिए भी वह सदा तत्पर रहता था। रघुके दानकी महिमा तो कविने बखान करते हुए कहा है कि उस महान् राजाने विश्वजित् यज्ञमें पहले तो

सारे संसारको जीत लिया, फिर इस प्रकार अर्जित सर्वस्वको उसने दानमें दे डाला। इससे स्थिति यह आ गई कि सोने-चाँदी तो दूर साधारण धातुके पात्र भी घरमें न रहे और अर्घ्यादि देनेके लिए राजा मात्र मिट्टीके पात्रोंका व्यवहार करने लगा—

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता।
चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥७६॥

सेनाका अभियान—

कालिदासने 'रघुवंश'के अनेक स्थलोंपर सेनाके अभियानका वर्णन किया है। चतुर्थ सर्गका उनका रघुदिग्विजय वर्णन तो समूचे प्राचीन साहित्यमें दिग्विजय वर्णनोंमें अपना सानी नहीं रखता। सेना अयोध्यासे पूर्वसागरके तीर तीर चलकर सुह्मों-बंगोंको जीतती हुई उत्कल-कलिंग होती सुदूर दक्षिण पहुँचती है और पालघाटकी राह पश्चिमी घाट पहुँच केरल-अपरान्त जीत त्रिकूट (जुन्नार) में पड़ाव डालती है। फिर ईरानियोंको जीतनेके लिए समुद्री राह छोड़ कठिन मरुभूमिकी राह पकड़ फ़ारस जा पहुँचती है और बलख़-बदख़्शाँ जीतती हिमालय लांघ उसके निवासियोंसे कर वसूलती आसाम होती अयोध्या लौटती है (२३-८४)। इस प्रकार प्रायः समूचे भारत की एक आदर्श राजनीतिक परिक्रमा सम्पन्न होती है। सेनाके इस अभियानका उसकी प्रगतिमें लाँघे देश, नदियों, पहाड़ोंका, समुंदर और तटवर्ती विविध जातियोंका कविने असाधारण और अभिराम विहग-वर्णन किया है। छोटे-छोटे चुभते श्लोकोंमें असामान्य काव्यकौशलसे वह नितांत संक्षेपमें सविस्तर प्रयाणका वर्णन करता चला गया है।

'रघुवंश' के ही पाँचवें और सातवें सर्गोंमें कुमार अजके सैन्य-संचरण और स्वयंवरमें हारे राजाओंके साथ युद्धका वर्णन हुआ है। उसी काव्यके सोलहवें सर्गमें कुशके कुशावतीसे उजड़ी अयोध्याको ससैन्य लौटने का वर्णन हुआ है जिसके कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥२८॥

कुशकी उस चलती सेनाका भार धरा धारण करनेमें असमर्थ हो गई । फिर तो सेनाके पदाघातसे उड़ती हुई धूलसे, आकाशमें छाई रजसे, ऐसा लगने लगा मानो पृथ्वी अपना सनातन स्थान छोड़ विष्णुके दूसरे पद अर्थात् आकाशमें उठ आई हो ।

तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरङ्गमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥३०॥

उस कुशकी सेनाके हाथियोंके मदजलसे राहकी धूल कीचड़ और निरन्तर घोड़ोंके खुरोंके आघातसे कीचड़ धूल बन गई ।

मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥३१॥

विन्ध्य पर्वतकी घाटियों-वनोंमें अपनी राह खोजती वह सेना अनेक टोलियों में विभक्त हो जानेसे विभिन्न धाराओंमें तुमुल नादसे बहने वाली नर्मदा की भाँति कन्दराओंको प्रतिध्वनित करने लगी ।

स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥३२॥

वह राजा गेरुके चूर-चूर हो जानेसे रथलीककी रक्तिम राहसे चलती तुरहीकी ध्वनिसे द्विगुणित प्रयाणके कोलाहलसे भरी अपनी सेना सहित पुलिन्दों द्वारा समर्पित मूल्यवान् भेटों पर निगाह डालता विन्ध्याचलकी मेखला पार कर गया ।

आखेट—

राजाका आखेट करना स्वाभाविक समझा जाता था । कौटिलीय अर्थ-शास्त्रका अनुकरण करते कालिदासने भी आखेटके गुणोंका उल्लेख किया

है। 'रघुवंश'के नवें सर्गमें दशरथके आखेटका बड़ा हृदयग्राही वर्णन हुआ है। शिकारके लिए राजाके सेवकोंने जिस वनको चुना था वह उस कार्यके लिए बड़ा उपयुक्त था। वहाँ न तो चोरोंका भय था न दावाग्निका। वहाँ अनेक ताल थे जिनके तीर मृग और बनैली गायें घूमा करती थीं, जिनके जलपर भाँति-भाँतिके पक्षी मँडराया करते थे। दौड़ते घोड़ोंके लिए भी उस बनकी भूमि कड़ी थी। शिकारी कुत्ते और जाल लिये राजाके सेवक पहले ही पहुँच चुके थे और अब स्वामीके वनमें प्रवेश करते ही उन्होंने हाँका लगाया जिससे वन-पशु शंकित होकर निकले--

श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः।
स्थिरतुरङ्गमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥५३॥

फिर तो उधर राजाने धनुष चढ़ाया और इधर सिंह अपनी माँदोंसे निकले। सिंहोंके गरजनेका उत्तर राजाने धनुषकी टंकारसे दिया। लगा जैसे वनपर भादों छा गया हो, आकाशमें इन्द्रधनुष उग आया हो, जिसकी सुनहरी डोरी बिजलीकी कौंधती रेखा बनाती है और केसरियोंके गर्जनसे बादलोंकी गरजका भ्रम होता है—

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम्।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी ॥५४॥

फिर मृगोंके झुंडका अभिराम वर्णन है—हिरनों और हिरनियोंका एक झुंड सहसा सामनेसे आ निकलता है। हिरन और हिरनियाँ कुशाओंकी फुनगियाँ चबाते आ रहे हैं, पर उनकी चाल मृगशावक बन्द कर देते हैं क्योंकि राहमें अक्सर वे मृगियोंके थनोंमें मुँह मार लेते हैं जिससे उन्हें ठमक जाना पड़ता है। और झुंडोंके आगे-आगे उनका नेता कृष्णसार-मृग चलता आ रहा है—

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावै-
र्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।

आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां
यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥५५॥

राजाने तेजवान अश्वपर चढ़कर जैसे ही तरकशसे निकाल बाण धनुषपर रक्खा मृगोंका वह दल एकाएक बिखर गया। उनके आकुल दृष्टिपातोंसे वह वन श्यामकाय हो उठा, लगने लगा, जैसे वायुने नीलकमलोंकी आर्द्र पंखुड़ियोंको सहसा बिखेर दिया हो—

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा
तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपंक्ति।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातै-
र्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥५६॥

और तभी कविकी मानवीयता अकिंचन और मृदुके प्रति आक्रोशसे द्रवित मुखरित हो उठती हैं, दाम्पत्य उमड़ आता है—

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ॥५७॥

बिष्णुकी भाँति तेजस्वी इन्द्रकेसे अमोघ वाण मारनेवाले राजाने जैसे ही मृगदलके स्वामी कृष्णसार मृगको मारनेके लिए लक्ष्यकर बाण सन्धाना वैसे ही उसकी सहचरी मृगी प्रियकी रक्षाके हेतु बाणकी राहमें आ खड़ी हुई। पशुने मानवराजको यह करुण मानवीयताका, बलिदानका, उपदेश दिया और भावुक स्वयं प्रणयकी पीड़ा जाननेवाले उस राजाको अपनी प्रियाकी सहसा याद आ गई और उस प्राणवान् मृदुमना धन्वीने कान तक खिंचे धनुषकी प्रत्यंचासे बाण उतार लिया।

फिर-फिर उन्होंने अन्य मृगोंपर बाण छोड़ना चाहा, फिर-फिर अपना आवेग रोक लिया। क्योंकि उनकी मृगियोंके त्रास भरे आकुल नयनोंमें

उसने अपनी तरुणी प्रियाके चटुल नेत्रोंको देखा, उनके नयन-विभ्रमको, दृष्टि-विलासको; और कानों तक खिंचा धनुष अपने कार्यसे विरत हो गया, हाथ ढीले पड़ गये—

तस्यापरैष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥५८॥

दशरथके लिए अब मृगोंका झुण्ड दयाका पात्र बन गया। इससे आखेटकी इच्छा करते हुए वे झट दूसरी ओर मुड़े। बनैले सुअरोंका एक दल अभी हाल ही एक ओर निकल गया था और उसका मार्ग आधे चबाये मोथा घासके राहमें बिखरे मुट्ठों और तालकी कीचसे निकले सुअरोंके पाँकसे सने पैरोंके गीले चिह्नोंसे सूचित होता था। राजाने बस उसी ओर अपने घोड़ोंकी बाग ढीली की, मृगोंको तत्काल छोड़ दिया—

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्या-
न्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं
सुव्यक्तमार्द्रपदपंक्तिभिरायताभिः ॥५९॥

फिर घोड़े पर आगेको आधे झुके हुए दशरथने जैसे ही उनपर बाण संधाना वैसे ही अपने लम्बे बाल खड़े कर सुअर उन पर झपटनेको हुए। पर राजा ने कब सहसा उन्हें बाणसे बेधकर उन पेड़ोंसे चिपका दिया यह उन्होंने नहीं जाना। राजाकी त्वरता उनकी त्वरताको लाँघ गई—

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीष-
द्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा
वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥६०॥

आखेटका यह वर्णन परिस्थितिका चित्र खींच देता है। अहेरीको अपने कार्यमें इतना पटु और तीव्र होना होता है कि यदि वह ऐसा न हो तो उसीकी जान पर आ बने। राजा मृगोंका झुंड छोड़ सुअरोंके पीछे घोड़ा डाल देता है, फिर झपटते हुए भैंसेको मारता है, पश्चात् बारहसिंगोंसे जा टकराता है और तब उसका सामना वनके राजा बाघों और सिंहोंसे होता है—

तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री
वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्ख-
स्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥६१॥

सुअरोंसे अभी वह विरत हुए ही थे कि एक अदना भैंसा उनपर झपटा। राजाने तत्काल एक बाण उसकी आँखमें इस ज़ोरसे मारा कि बाण जमीन पर पीछे गिरा और भैंसा पहले। सचमुच मारनेकी तीव्रता इतनी असाधारण थी कि माथेसे निकल जाने पर भी बाणकी पाँखमें रक्तका लेश भी न लगा।

प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गा-
न्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः
शृङ्गं सदृप्तविनयाधिकृतः परेषा-
मत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥६२॥

एक ओर बारहसिंगोंका एक झुण्ड चला जा रहा था। राजाने लपककर क्षुरप्र बाणोंसे उनकी सींगें काट डालीं। उन्हें काटकर उनके सिरका बोझ हल्का कर दिया। अविनयी और घमंडसे चलने वालोंसे निश्चय राजाको वैर था जिससे ऐसोंका वे दमन करते थे। इसीसे उन बारहसिंगों की सींगें भी उन्होंने काटीं वरना उनके जीवन या आयुसे उनका कोई वैर न था।

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषा-
त्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥६३॥

राजाके धनुषकी टंकारों और आखेटके कोलाहलसे जाग्रत बाघ अपनी मादों से निकले। अश्वारोही राजाको जो बाण संधाने देखा तो उसपर वायुवेग से झपटे। पर राजा भी असाधारण शिक्षाके धनी थे। अभ्याससे उन्होंने अद्भुत लाघव प्राप्त किया था। सो बाघोंके खुले मुँहोंको उन्होंने बाण मार मार भर दिया। उनके मुँहोंको बाणोंसे भरकर जैसे तरकश बना दिया और बाघ ऐसे दीखने लगे जैसे वे आँधीसे उड़ाये हुए फूले सर्जके वृक्ष हों। उपमा बड़ी ही सुन्दर है—बाघोंके खुले मुँह बाणोंसे भर गये हैं और उनके तालुओंमें चुभ जानेसे उनके पंख मात्र बाहर निकले हुए हैं। ठीक तूणीरोंकी स्थिति है जिनमें बाणोंकी नोकें भीतरको होती हैं और पंख बाहर की ओर निकले रहते हैं।

शिक्षणका आदर्श—

'मालविकाग्निमित्र'के पहले और दूसरे अंकोंमें संगीत और अभिनयके दो आचार्यों, हरिदत्त और गणदासमें, उन कलाओंके सिद्धांत पर कथोपकथन और उनकी तद्विषयक प्रायोगिक निपुणता पर विचार होते हैं। उसी प्रसंगमें शिक्षककी योग्यताकी परिणति शिष्यकी पात्रता और धारणामें प्रतिष्ठित करते हुए केवल अपने लाभके लिए शिक्षण करनेवाले शिक्षकको आचार्य गणदास इस प्रकार धिक्कारते हैं—

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरो-
स्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवल जीविकायै
तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥१,१७॥

जो आचार्य पद प्राप्त कर लेने पर शास्त्रार्थसे भयभीत हो जाता है, दूसरों की निन्दाका भी प्रतिकार नहीं करता, चुपचाप सह लेता है, जिसका ज्ञान केवल जीविका चलानेके लिए है, उसको लोग ज्ञान बेचनेवाला बनिया कहते हैं। आचार्य महान् कौन है—जो स्वयं निष्णात है या वह जो शिष्यको निष्णात बनानेमें समर्थ है ? इस प्रश्नका उत्तर देती हुई परिव्राजिका उसी नाटकमें कहती है—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥१,१६॥

किसीका अपना ही अर्जित ज्ञान प्रशंसनीय होता है, किसीकी पात्रको (शिष्यको) अपने ज्ञानसे विदग्धकर देनेकी शक्ति स्तुत्य होती है। पर जिसमें दोनों प्रकारकी योग्यता हो, आत्मस्थित ज्ञान और शिष्यको शिक्षित बना देनेकी शक्ति, वही शिक्षकोंकी धुरी या अग्रणीके रूपमें प्रतिष्ठित होनेका अधिकारी है।

अतीतको चुनौती—

सदा ही अर्वाचीन पर हँसने और प्राचीनकी स्तुति करनेकी प्रवृत्ति रही है। परिणाम इसका अति कटु हुआ है और नये कवियों, नाटककारों और कलावन्तोंको इस दृष्टिका अक्सर शिकार बनना पड़ा है। प्राचीनकालमें तो प्रयोग जैसी वस्तुकी अतीव अप्रतिष्ठा थी। नये नाटकोंका रंगमंच पर खेला जाना इस कारण अत्यन्त कठिन हो गया था। कालिदासको भी यही भोग भोगना पड़ता यदि उन्होंने इस स्थितिके विरुद्ध अपना अंगदचरण न रोपा होता। उन्होंने भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदिकी रचनाओंकी तो प्रशंसा मुक्तकंठसे की है पर सावधि की उपेक्षा कर अतीतको केवल प्राचीनताकी दुहाई देकर पूजने वालोंको 'मालविकाग्निमित्र'

के आरंभमें ही धिक्कारा है। स्वयं उनके अपने इन नाटकोंमें प्रथमकी स्थिति डाँवाडोल थी, पर अर्वाचीन और साधु प्राचीनताकी रक्षा करते हुए उन्होंने औचित्यके निर्वाह पर जोर देते हुए स्वयं अपनी रक्षा की—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥१,२॥

पुराना होने मात्रसे सब साधु नहीं हो जाता, और न नया होने मात्रसे कोई काव्य निंदनीय हो जाता है। पंडित लोग गुण दोषका विचार कर उसकी साधुता और निकृष्टताके कायल होते हैं, मूढ़ दूसरोंकी बुद्धिमें विश्वासकर दूसरोंकी दृष्टिको चुपचाप अपना लेते हैं।

: अध्याय ६ :

उपमा

सदियोंसे साहित्यालोचक और सहृदय कालिदासकी उपमाओंको उनके काव्यका प्रधान अलंकरण और वैभव मानते आ रहे हैं। यह सही है कि सुन्दर काव्यमें उपमा ही सब कुछ नहीं है, पर निःसन्देह वह वर्णन की बारीकियोंको स्पष्ट कर देती है। स्थितिको सचित्र करनेमें उपमा बड़ी सहायक होती है और उसका योग कालिदासके काव्यको खूब ही मिला है।

वाणीकी कोमलता, शब्दोंका अनमोल चयन, वर्णनकी सुरुचि और सूक्ष्मता, ध्वनिका प्रभाव, भावोंकी गरुता कुछ इतनी मात्रामें इस कविमें मिलती है कि पाठक जब काव्यके उस जादूसे मुक्त होता है तब उसके ऐश्वर्यसे चकित रह जाता है। पर यह स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं हो सकती कि वाणी-विलास और भावविलासके पटमें कविने इन उपमाओं के सुनहरे तार चलाकर उसे असाधारण अभिराम कर दिया है, अधिकाधिक कमनीय बना दिया है।

उपमा ऐसा अलंकार है जिससे भावबोध तो होता ही है, स्थितिका चमत्कार भी उससे विशेष स्पष्ट हो जाता है। इस अलंकारका उपयोग संसारके सभी कवियोंने किया है यद्यपि सबके मानका यह नहीं रहा। बिरले ही इसकी समूची शक्तिका लाभ उठा सके हैं। कारण कि अलंकार स्वयं अपनी ज़मीन पर नहीं खड़ा होता, वह अन्यका प्रसाधक मात्र है। असुंदरको साधारण, साधारणको सुन्दर और सुन्दरको असाधारण कमनीय बना देनेमें उसकी अद्भुत शक्ति होती है। पर वही अलंकार जो कहीं सौंदर्यका उद्दीपक होता है अन्यत्र भौंडा होकर उसका संहारक भी हो सकता है। इससे अलंकारका सही और सुंदर उपयोग कविशक्तिका परिचायक होता

है। इस दिशामें संसारका कोई कवि नहीं जो कालिदासके धरातल पर खड़ा हो सके।

वैसे तो सहज ही इस महान् कविमें पदोंके लालित्य और भावोंके सौष्ठवकी इतनी प्रचुरता है कि यदि अलंकारोंका सौरभ और अभिराम योग उन्हें न मिला होता तब भी उसे असाधारण माननेके लिए संयोजित उपकरणोंकी कमी न होती। पर अलंकारोंकी विविधता और उनके सही उपयोगने उसके काव्यकी रुचिर कायाको अत्यन्त स्पृहणीय कर दिया है और इन अलंकारोंमें उपमाके उपयोगमें तो वह अनुपम है। उपमा द्वारा अपने काव्यको इतना सौन्दर्य किसी कविने नहीं दिया। नीचे कालिदासकी उन्हीं उपमाओंका यथासंभव उल्लेख होगा जिनका साहित्यमें साका चलता है। इन नीचेके श्लोकोंमेंसे एकाधका उल्लेख प्रसंगवश अन्यत्र भी हो चुका है, पर इस संदर्भमें उनका पुनरुल्लेख अनिवार्य हो जाता हैं।

अधिकतर उपमाएँ चन्द्र-सूर्यसे, भ्रमरसे, कमल और दूसरे फूलोंसे दी गई हैं, पर इनके अतिरिक्त भी अनेक वस्तुओंका कालिदासने अपनी उपमाओंके प्रसङ्गमें उल्लेख किया है। नीचे उपमा सम्बन्धी संदर्भोंका उल्लेख किया जाता है।

'मेघदूत' में यक्ष मित्र मेघसे दौत्यकी याचना करता हुआ कहता हैं कि सर्वत्र अवाधगति रखने वाले बन्धु जब गन्तव्य स्थानको पहुँचोगे तब निश्चय अपनी अधमरी भाभीको मेरे लौटनेमें बाकी दिन गिनते हुए पाओगे, निश्चय। मर जाना उसके लिए आसान होता पर आशा उसे मरने नहीं दे रही होगी, क्योंकि कोमल नारी हृदय प्रियके वियोगमें पतनशील होता हुआ भी इसी आशासे कि प्रिय लौटेगा जीता रहता है—

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥पूर्व,१०॥

एकपत्नी है वह मेरी भार्या, उसके सपत्नियाँ नहीं हैं, इससे उसे खंडिता होनेका भय नहीं, अवसर नहीं, अनुभव नहीं, इसीसे इस दिशामें प्रणयीके वियोगका, उसे अभ्यास नहीं, वह सर्वांगीण रूपेण मुझमें ही लीन है। इससे यह मेरा वियोग उसे अत्यन्त दारुण हो रहा होगा। सो जब तुम अलका जावोगे तब वह तुम्हें दिन गिनती हुई मिलेगी, शापके शेष दिन गिननेमें तत्पर होगी, (तत्पर अर्थात् सर्वथा व्यस्त होगी)। और कारण क्या कि वह केवल मरणासन्न होगी, मृतप्राय, पर मर पा न रही होगी, आख़िर जब नारीका हृदय स्वभावसे ही कोमल होता है, कुसुमवत् कोमल, जो प्रणयीसे वियुक्त होने पर टिक नहीं पाता, टूट जाता है, कुसुमकी ही भाँति अपनी जीवनदायिनी शाखासे झट चू पड़ता है? कारण कि ऐसा होनेमें, इस सहज स्वभावजन्य कार्यमें वियोगकी परिसमाप्तिकी संयोगकी आशा बाधक हो उठती है, कुसुमकी ही भाँति, जो संभवतः टहनीसे टूटकर भी जालेके वृन्तमें फँसकर गिर नहीं पाता, वहीं उसी जालेमें बँधकर अटका रहता है। जिसने फूलके टूट जाने पर भी उसके नीचे लगे जालेमें उसका अटक जाना और उसी अवस्थामें उसका दिनों-दिन पड़े रहना देखा है वह इस तथ्यको विशेष समझेगा। ध्वनिप्रधान गिरा बोलने वाले कविने उसी जाले या वृन्तकी ओर अपरोक्ष संकेत किया है। प्रेमोत्कंठाका भी यह वर्णन अनुपम प्रतीक है।

अमरकंटक (आम्रकूट) पहाड़की आमोंसे लदी पीली अमराइयोंसे मेघके स्पर्शकी उपमा कविने गोरे स्तनसे दी है—

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥पूर्व०१८॥

उपमाएँ इसमें दो हैं, एक तो वेणीकी दूसरी स्तनकी। एक साधारण

जनोंके लिए है दूसरा अमरोंके लिए। आम्रकूटकी चोटीको काले मेघका छूना कविके मानसमें दो प्रकारके दृश्य प्रस्तुत करता है। आम्रकूटका बोध उसे नारीका सा होता है। अचलका सर्वांग अमराइयोंसे ढका है, अमराइयाँ पके पीले आमोंसे लदी हैं, अमराइयाँ ऐसी जिन्हें आदमीने नहीं लगाया, जो उर्वर प्रकृतिकी सहज प्रसूति है, वन्य, जिसकी जांगल बहुलता अपरिमित है, और जो आदिम अस्पृष्ट भी है। उस पके आमोंसे पीली अचला भूमि के शिखर पर जब मेघ आरूढ़ होता है तब लगता है जैसे गौरवर्णकी नायिका मस्तक पर चिकनी (स्निग्ध) वेणी धारण किये हुए है। यह तो दृश्य सभीके लिए है, पर इसमें कुछ गोप्य भी है जिसे साधारण मानव नहीं, अमर मिथुन ही देख पाते हैं। एक-एक कर अनेक देवता भी नहीं, जोड़े-जोड़े एक पुरुष एक नारी, मिथुन। 'मिथ' एकान्तको कहते हैं, रहस्य के प्रसवक 'रहसि'को। और मिथसे 'मिथुन' बनता है, विरोधी लिंगोंका यमल, जिससे मैथुनकी ध्वनि स्पष्ट होती है। सो जब अमर मिथुन उसी आम्रकूट पर्वतको ऊपरसे देखते है, तब कन्दुक-सी लगती पृथ्वीका यह भाग आमोंकी अपनी पीताभ भूमिसे स्तनवत् गोचर होता है, ऐसे गोरे-पीले स्तन की भाँति जिसका शेष समूचा विस्तार तो पाण्डुर हो और बीचका चूचक घनश्याम हो।

भ्रमरसे आँखोंकी उपमा तो संस्कृत साहित्यमें अविशेष है, सभी कवियोंने उसका उपयोग किया है, पर वही उपमा कालिदासकी लेखनी द्वारा चमत्कार उत्पन्न कर देती है। और कितनी बार तो कविने उन्हीं साधारण उपमानों-उपमेयोंको लेकर वह चमत्कार उत्पन्न कर दिया है कि बस पढ़ते ही बनता हूँ, जाना हुआ प्रसंग सर्वथा एक नया रूप धारण करता है और व्यंजना नितांत कोरी अनास्वादित लगती है। देखिए—

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।

वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ।।पूर्व० ३५।।

महाकालके मन्दिरमें वेश्याएँ नाच रही होंगी, मेघ, और उस नृत्यसे उनकी करधनियाँ बज रही होंगी, कंगनके रत्नोंकी जोतसे चमक उठने वाले चंवरों को डुलानेसे उनके हाथ थक गये होंगे, उस साँझ समय जब तुम्हारी नन्हीं सुखदायिनी बूँदें पड़ेंगी तब वे कृतज्ञ हो तुम पर लम्बे कटाक्षोंको भौरोंकी भाँति छोड़ेंगीं। लम्बी पलकों वाले उनके कटाक्ष जब तुम पर तिरछे पड़ेंगे तो लगेगा जैसे भौरोंकी लम्वी कतार उड़ी जा रही हो। ख़याल अछूता है, कमसे कम कालिदासके पहले किसी संस्कृत कविने कटाक्षों द्वारा भौरोंकी कतार बाँध देनेकी बात नहीं कही।

'पूर्वमेघ' के श्लोक ४७ में तो वही उपमा और मुखरित हो उठी है। किसी साहित्यके किसी कविको यह ख़याल न सूझा। आँखें वही हैं, उनकी चंचलता भी वही है, वही फूल और वही भौरें हैं, पर कविने उन्हें एकत्र कर जो उक्ति की है वह नितान्त एकांतिक बन गई है, उपमाकी दिशामें उसने सीमा बाँध दी है—

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णसारप्रभाणाम् ।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ।।

यक्ष कहता है, मेघ, चंचल नदीको पारकर तुम अपने उद्दिष्ट पथपर जाओ, पर जानेके पहले अपने रूपसे दशपुरकी रमणियोंकी नेत्राभिलाषाको शान्त करते जाओ, उन्हें रिझाते जाओ और जानो कि उनके नेत्र कुछ साधारण नहीं है, भ्रूसंचालनमें निष्णात है वे। उनकी पलकें काली होती है, उनकी भ्रूविलासके समयकी चंचलतासे नीचेके कोयोंकी जो रक्ताभ छाया उनपर पड़ती है उससे उनका रंग सुनील हो ज़ाता है और तब कटाक्षोंकी

तीव्रता एक अद्भुत दृश्य उत्पन्न करती है। बार-बार सफेद कोए इधरसे उधर और उधरसे इधर चलते हैं, जैसे माघी कुन्दके फूल, और उनके साथ ही उनके ऊपरकी पलकें उसी तीव्रतासे उसी क्रमसे चलती हैं, जैसे भौंरें। लगता है जैसे कोई कुन्दके फूल इधरसे उधर, उधरसे इधर फेंकता जा रहा हो और उनका पीछा करते काले भौंरे उन्हींके साथ उसी क्रमसे इधर-से उधर और उधरसे इधर निरन्तर उड़ रहे हों। कितनी अनूठी, कितनी चमत्कार पूर्ण उपमा है यह, कवि-परिवारकी सर्वथा अनजानी, कालिदास-की अपनी।

नेत्रोंको ही एक स्थानपर कविने भ्रमर माना है। अजकी सवारी राजमार्गपर है और नारियाँ अपने सारे कार्य छोड़ राजमार्गपर खुलनेवाली खिड़कियोंके सामने जा खड़ी होती हैं। तब खिड़कियाँ उनके मुखमण्डलोंसे भरकर ऐसी लगती है जैसे कमलोंसे सजा दी गई हों। और उनके चंचल नयन इस तीव्र गतिसे इतस्ततः चलने लगते हैं कि लगता है वे भौंरे हैं और डोलते कमलोंपर मँडरा रहे हैं—

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
*विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥*रघु०,७, ११॥

'रघुवंश' के ग्यारहवें सर्गके अन्तिम श्लोकमें भी गवाक्षों (खिड़कियों) में उग आये नेत्र कमलोंकी बात कही गई है—

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम्॥९३॥

शिवरूप राजा दशरथने मिथिलासे लौटते हुए राहके पड़ावोंमें कई दिन टिकनेके बाद अन्तमें अयोध्यामें प्रवेश किया। फिर तो क्या था, मैथिली सीताको देखनेके लिए नगरकी नारियाँ खिड़कियोंपर जो उमड़ीं

तो लगा कि खिड़कियाँ अंगनाओंके लोचनोंसे कुवलयित हो उठीं, उनमें सहसा नयनरूप कमल खिल आये।

ऊपर फेंके हुए कुन्दका अनुसरण करते भ्रमरोंकी बात कही जा चुकी है। अन्यत्र ('रघुवंश' के आठवें सर्गमें) इसी सम्बन्धकी एक दूसरी मधुर कल्पना है—

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥३५॥

नारद अपनी वीणा लिये आकाशमार्गमें उड़े जा रहे हैं, वीणासे फूलोंकी माला लटक रही थी जिसे (इन्दुमतीके निधनके अर्थ) वायुने नीचे गिरा दिया है। तब माला तो वहाँ रही नहीं पर उसके सहसा खो जानेका तथ्य न जानते हुए उसके फूलोंपर मँडराने वाले भौंरे अब भी वीणासे मोहवश चिपके हुए हैं। उधर पवनने माला हरणकर मण्डनहीन कर देनेसे वीणाका जो अपमान हुआ है उससे उद्विग्न होकर वह, लगता है, जैसे भौंरोंके आँसू रोने लगी है। भौंरे उससे बिछुड़ते हैं फिर आकर चिपके जाते हैं सो लगता है जैसे आँखोंका अंजन लगातार धुलता जा रहा है और भौंरोंके रूपमें उनसे काली बूँदें निरन्तर गिरती जा रही हैं। यह उपमा भी कवि-कल्पना द्वारा सर्वथा अछूती है।

उपवनकी उड़ती परागके साथ भौंरोंका इतस्ततः उड़ना 'रघुवंश' के नवें सर्गमें भी व्यंजित है—

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मधुचूर्णमृतुश्रियः।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥४५॥

उपवनने अपने कुसुमोंके संचित कोष्ठ खोल दिये, वायु परागके कणोंको अपने डैनोंपर ले उड़ी, भौंरे उन कणोंके पीछे इधर-उधर उड़ने लगे। पराग ऐसा लगा जैसे भौंरोंकी गोट लगा धनुर्धर मदनका अभिराम ध्वज पट हो, जैसे बसंतलक्ष्मीके प्रसाधनका मुखचूर्ण उड़ चला हो।

'मेघदूत' में भी कविने अनेक सुन्दर उपमाओंका उपयोग किया है। कुछका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। संकेतस्थानको निबिड़ अन्धकारमें जातीं अभिसारिकाओंको मार्ग-प्रदर्शनके लिए यक्ष मेघसे कहता है कि कसौटीपर खिंची पतली स्वर्ण-रेखाकी तरह अपनी बिजलीको तनिक चमका देना—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥पू०,३७॥

अन्धकार इतना घना है कि उसे सुईसे छेदा जा सकता है। उस घने अन्धकारको बनाये भी रखना है जिससे उजेला हो जानेसे अभिसारिकाएँ लक्षित न हो जायँ। इससे बिजलीकी एक रेखा मात्र चमके, उस ठोस तमकी अग्रभूमि पर, जैसे ठोस कसौटीकी स्निग्ध कालिमा पर कसे जाते हुए सोनेकी रेखा होती है, जैसे स्वयं वह बिजलीकी पतली स्वर्णिम रेखा उस बादलमें कौंधती है जलके दबावसे जो ठोस हो गया होता है और जिससे जलके फव्वारे बस छूटने ही वाले होते हैं। अन्धकारमें बिजलीकी महीन रेखाकी उपमा कसौटीकी स्वर्ण-रेखासे असाधारण अभिराम है, कविजगत्में सर्वथा अज्ञात।

एक अत्यन्त गोपनीय पर नितान्त मदिर प्रसंग आगेके ४१ वें श्लोक में आया है। यक्ष कहता है—जब तुम गम्भीरा नदीका जल पी लोगे तब बचा हुआ जल नदी तलमें उतर जायगा, बेतोंसे लगा-लगा उन्हें झुकाता-सा रुक-रुक कर बहने लगेगा। लगेगा, जैसे नदीके कूलोंसे नीचा उतरा नीला जल नितम्बोंसे सरक गईं नदीकी नीली साड़ी है जिसे अपने बेंत रूपी हाथोंसे वह लज्जावश सम्हालती जा रही है—

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम् ।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ।।पूर्व०,४१।।

इसी प्रकारका एक और गोप्य वर्णन पूर्वमेघके श्लोक ६३ में हुआ है जहाँ सचित्र उपमा द्वारा कविने स्थितिको साकार किया है । कैलास तक राह बताकर यक्ष अब गंगाके सिरे पर उस पर्वतकी प्रायः गोदमें बसी अलकाकी ओर संकेत कर रहा है—

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ।।

इच्छाविचरणशील मेघ, उसी प्रणयी कैलासकी गोदमें प्रणयिनीकी भाँति बैठी हुई उस अलकाको भला कैसे न पहचानोगे जिसकी गंगारूपी साड़ी उस गोदसे आगे सरक पड़ी है (और जिसका कटि भाग सर्वथा नग्न हो गया है) ? वही अलका वर्षा ऋतुमें अपनी ऊँची अट्टालिकाओं वाले मस्तक पर रिमझिम बरसते वादलोंको वैसे ही धारण करती है जैसे मोतियोंसे गुंथे अलकजालको कामिनी ।

'मेघदूत' में इस स्थलसे जरा ही पहले कैलास पर्वतका वर्णन है जिसे कालिदासने देवनारियोंका दर्पण और शिवका राशीभूत अट्टहास कहा है । कवि-परम्परामें हासका रंग धवल मानते हैं । उसी परम्पराका कविने यहाँ निर्वाह किया है । कहता है—

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।

शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥५८॥

मेघ, थोड़ा और ऊपर चलने पर वह कैलास पर्वत मिलेगा जिसका जोड़-जोड़ कभी रावणने हिला दिया था और जो सतत तुषाराच्छादित होनेके कारण स्फटिक रजवत् हो देवनारियोंके लिए दरपनका काम करता है, इतना प्रतिबिम्बदर्शी निर्मल तन है जिसका। उसकी ऊँची चोटियाँ श्वेत कमलकी पंखुड़ियोंकी तरह आसमानमें इस प्रकार फैली हुई हैं जैसे त्र्यम्बक शिवका नित्यका अट्टहास इकट्ठा होकर राशीभूत हो गया है। इस उत्प्रेक्षामें निश्चय तनिक कष्टकल्पना है, और कष्टकल्पनासे कालिदास की उपमाएँ कोसों दूर हैं, फिर भी कविपरम्परा द्वारा सहज रूपसे स्वीकार किये गये इस काल्पनिक तथ्यका उपयोग कविने खूब ही किया है। कैलासकी श्वेत दर्पण सरीखी फैली चोटियाँ आकाशमें वैसे ही व्याप्त हैं जैसे शब्द होता है। गगन याद आया, उसकी पर्वतकी-सी नित्यता याद आई, पर साथ ही यह भी न भूला कि बीस हज़ार फुट ऊँचाईसे भी ऊँचे उठे कैलासके शिखर पर सर्दी इतनी पड़ती है कि जल तो क्या शब्द-ध्वनि तक जम जायगी और कालिदासने शिवके अट्टहासकी दैनंदिन जमी हुई राशिकी कल्पना कर ली। उक्ति निःसंदेह अनूठी है।

'रघुवंश' के दूसरे सर्गमें दिलीपके गोव्रतके प्रसंगमें कालिदासने अत्यंत कल्याणमय उपमाका उपयोग किया है, स्मृतिके श्रुतिके पीछे चलनेका। गाय नंदिनी वनमार्गमें चली जा रही है, उसके खुरोंसे उठती पवित्र धूल मार्गको पवित्र करती जा रही है। उसी पवित्र मार्गसे नंदिनीके ठीक पीछे पतिव्रताओंमें यशस्विनी राजा दिलीपकी रानी सुदक्षिणा चुपचाप चली जा रही है जैसे श्रुतिके पीछे स्मृति चलती है। उपमा दृश्यमूलक नहीं, मानसमूलक है, बुद्धिग्राह्य, कुछ दृश्य हम आखोंसे देखते हैं कुछ दिमागसे। आँखोंके माध्यमसे भी वास्तवमें दिमाग ही देखता है, वरना पागल जो दिमाग विकृत हो जानेसे नहीं देख पाता वह भी आखिर देखता ही है। यहाँ बुद्धिग्राह्य स्थितिको

स्पष्ट करनेके लिए कालिदासने जिस उपमाका उपयोग किया है वह शास्त्र-दृष्टि है और जानकारोंके लिए अतीव साधारण और चित्रप्रवण सार्थक। श्रुति या वेदोंका अध्ययन पहले पुस्तकसे या लिखकर नहीं होता था, सुनकर होता था और शिष्य उसे सुनकर दोहराता था। जो सुना हुआ वेदपरक ज्ञान था वही श्रुति था और उसीकी सही-सही याद स्मृति थी। जहाँ दोनोंसे विरोध हो वहाँ स्मृतिकी असिद्धि मानी जाती है, स्मृतिकी सार्थकता उसकी श्रुतिकी प्रतिबिम्ब सरीखी अनुकूलतामें है। इससे यह उपमा पर्याप्त सार्थक है—श्रुतियाँके अर्थके पीछे चलनेवाली स्मृतियोंकी भाँति सुदक्षिणा नंदिनीके पीछे-पीछे चली जा रही है। उसका आचरण ठीक उसकी छाया जैसा होता है। जब नंदिनी चलती है वह भी चलती है, जब वह रुकती है वह भी रुकती है जब वह बैठती है, रानी भी बैठती है। इतना और भी कल्पना कर लेनेपर कविकी उपमा सिद्ध होगी—

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥२॥

धर्मपत्नीकी बात है न, इससे श्रुत्यर्थकी अनुसारिणी स्मृति अथवा धर्मशास्त्र की ओर संकेत श्रेयस्कर ही है, जैसे नंदिनी, उसके खुरोंसे उठती धूल और पतिव्रताओंमें अग्रणी सुदक्षिणाकी पवित्रताकी ओर भी।

इसी प्रकारकी कल्याणमयी उपमा कालिदासने 'अभिज्ञान शाकुन्तल'में दुष्यंत और शकुन्तलाके संबंधमें दी हैं। जब गौतमीके साथ कण्वाश्रमसे ऋषिकुमार शकुन्तलाको लेकर दुष्यंतके दरबारमें जाते हैं तब अत्यंत धर्म-संमत कल्याणमुखरित वाणीमें शार्गरव राजासे कहता है—

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि य-
च्छकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥५, १५॥

जैसे अर्हतोंमें, पुण्यशीलों-धार्मिकोंमें, तुम्हारी प्रमुख गणना है, जैसे उनमें अग्रणीके रूपमें तुम्हारी ख्याति है, वैसी ही यह शकुन्तला भी मूर्तिमती सत्क्रिया है। ब्रह्माको सदा संसार उलाहनेके कुवाच्य कहता आया है, पर आज पहली बार समान गुणों वाले वर-वधूकी जोड़ी सिरजकर वह अनिन्द्य हुआ है। कितनी कल्याणमयी धर्मपूत गिरा है! भला वह धार्मिक कैसा जिसके कार्य-कलाप सत्क्रियासे भिन्न हों? धर्मशील पतिकी धर्मशीला भार्या कविके लिए सहज धर्मप्रतिमा है। और जिन शब्दोंमें यह उपमा मुखरित हुई है उसकी उदात्त ध्वनिकी कोई परिधि नहीं।

गोरूपधरा और उसके दोहनकी उपमा नीचेके श्लोकोंमें दी गई है। राजा दिलीप रानी सुदक्षिणाको गायकी सेवाके समय आश्रमके द्वारसे ही लौटा देते हैं और स्वयं उसके पीछे उसकी रक्षाके लिए चल पड़ते हैं। फिर तो वह कामधेनु-कन्या नंदिनी उन्हें वैसी ही प्रतीत होती है जैसे गोरूपिणी पृथ्वी। लगता है जैसे पृथ्वीके चारों समुद्र उसके चारों स्तनोंमें समा गये हों। राजाका धर्म पृथ्वीका पालन करना है सो वही कार्य वनमें धेनुकी रक्षा करते समय भी राजा कर रहा है, क्योंकि चतुःसमुद्रा धरा तो चारों थनों वाली गायके रूपमें उपस्थित ही है। चारो समुद्रोंसे गायके चारो थनोंकी उपमा उसके दूधकी असमाप्यताकी और सकेत करती है—

निर्वर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥रघु० २, ३॥

पृथ्वीको गोरूप मानकर उसे दुहकर सारे रत्न निकाल लेनेकी बात कविने इस प्रकार कही है—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥कु० १, २॥

जिस हिमालयको बछड़ा और पृथ्वीको गाय बनाकर दुहनेमें दक्ष मेरुको ग्वाला बनाकर राजा पृथुकी सलाहसे सब पर्वतोंने समूचे रत्न और संजी-

वनी आदि जड़ी-बूटियाँ उससे दुह लीं। गाय, वत्स, ग्वाला सबकी कल्पना कविने की और चूंकि प्रसंग पृथ्वीको गाय बनाकर दुहनेका था इससे समानधात्विक शब्द पृथुका प्रयोग किया। पृथ्वीके साथ राजाका संबंध स्वाभाविक ही था। देदीप्यमान रत्नों और अर्थवान् औषधियोंके अक्षय भंडार हिमालयकी अभ्यर्थना यह कितनी सुन्दर है। उसकी अध्यक्षताकी सिद्धि दोहनके संकेतसे भी की गई हैं। समयसे दूहनेसे गायका दूध कभी खत्म नहीं होता, हिमालय भी उसी प्रकार रत्नोंका अक्षय भंडार है केवल उसे दूहनेकी साध चाहिए।

'रघुवंश' के दूसरे सर्गमें राजा दिलीप जब जल-प्रपातकी ओरसे नजर हटा अपनी रक्षिता गौके ऊपर डालता है तब क्या देखता है कि—

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२६॥

लाल गायके ऊपर पीला सिंह खड़ा है, उस धनुर्धरको लगा जैसे अधित्यका की गेरुई भूमि पर खड़ा लोधका पेड़ अपने पीले फूलोंसे सहसा फूल उठा हो। लघुपदोंमें उद्धृत यह अभिनव उपमायुक्त भारती अतीव कोमल है। दृश्य नितांत दारुण है पर कविने अपनी कोमल गिरासे उसे असाधारण करुण बना दिया है, जिसमें गायकी विवशता और क्रूर सिंहकी अजेयता प्रगट है। उस विवशताकी ओर कविने इससे पहलेके श्लोकमें ही पाठकका ध्यान आकृष्ट कर दिया है—

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥

वह गाय जब सिंहकी चपेटसे गिरी और भयसे डकर उठी तब उसके डकरने की आवाज़ पर्वतकी गुफाओंमें गूँजकर लौटी और फलस्वरूप हिमालयके सौन्दर्यपान में लगी राज़ाकी दृष्टि भी उधरसे गायकी ओर ऐसे खिंच गई जैसे उसे किसीने रस्सीसे बाँधकर बलपूर्वक सहसा खींच लिया हो।

फिर तो मृगेन्द्रगामी राजाने मृगेन्द्रसे अपनी गायकी रक्षाके लिए तूणीरसे शर निकालनेके लिए हाथ उठाया। पर तभी एक विचित्र घटना घटी। तरकशके मुँहके ऊपर निकले बाणोंके पंखों पर बाण निकालनेके लिए जो दाहिने हाथकी उंगलियाँ गईं तो पंखोंसे सटीकी सटी रह गईं, उनके नखोंकी ज्योतिसे पंख चमकने लगे, और उसी स्थितिमें खड़ा राजा चित्रमें खिखा-सा होकर रह गया—

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषंगो नृपतिर्निषंगादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥
वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकंकपत्रे।
सक्तांगुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारंभ इवावतस्थे ॥३१॥

उसकी स्थिति उस सर्पकी-सी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई जो मन्त्रके प्रभावसे नितान्त निष्क्रिय हो जाता है और पराक्रम अवरुद्ध हो जाने तथा शत्रु पर प्रहार न कर सकनेसे बढ़े हुए क्रोधके कारण अपने ही तेजसे भीतर ही भीतर जलने लगता है। सारे उद्दीपन सामने होते, पराक्रमके बावजूद, अकृतकार्य राजाकी स्थितिकी उपमा मन्त्रबद्ध सर्पसे ही वस्तुतः दी जा सकती है। वास्तविक चित्र खिच गया है—

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रोषधिरुद्धवीर्यः ॥३२॥

कालिदासने अव्यक्तको सुगम उपमाओं द्वारा व्यक्त किया है। रानी सुदक्षिणा गर्भमें सत्त्व धारण किये हुए राजा दिलीपको वैसी ही लगती हैं जैसी रत्नोंको अपने भीतर धारण करने वाली (रत्नगर्भा) ससागरा वसुधा, जैसे अपने भीतर अग्नि धारण करने वाला शमीका वृक्ष, जैसे अन्तः-सलिला सरस्वती—

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥
॥रघु० ३, ९॥

अजने जब इन्दुमतीको स्वयंवरमें जीत लिया तब अन्य राजा जलते हुएसे विदर्भराजकी दी हुई चीजोंको भेंटके बहाने लौटाते हुए अपने घरको चल दिये। पर उनकी प्रकृत अवस्था यह न थी। ऊपरसे तो वे प्रसन्नमुख दिखाई पड़े पर भीतरसे कुढ़ते रहे, जैसे सपाट जलकी बगैर लहरों वाली झील ऊपरसे तो निर्मल रहती है पर भीतर भयानक मगर छिपाये रहती है—

लिंगैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन ॥७, ३०॥

सुखके हृदयमें न समा सकनेकी स्थितिका वर्णन कविने चन्द्रमा और महोदधि सम्बन्धी उपमा द्वारा किया है। राजा अपने नवजात शिशुके मुख का सौन्दर्य निर्वात निश्चल कमलकी-सी निस्पंद दृष्टिसे अपलक पीने लगा, और जिस प्रकार पूर्णचन्द्रको देखते ही सागरमें ज्वार उठने लगता है उसी प्रकार उसको इतना अधिक हर्ष हुआ कि उसके तनमें समा न सका—

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम्।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद्गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥
॥रघु० ३, १७॥

चन्द्र और सागरकी उपमा कविने 'कुमारसंभव'के तीसरे सर्गमें भी दी है। पार्वती समाधिस्थ शिवकी पूजाके लिए सखियों सहित जाती हैं, कामदेव नमेरु वृक्षकी फूटी शाखाओं पर आसन जमाये धनुष पर बाण संधाने अवसरकी प्रतीक्षा कर रहा है। उमाके शिवके सामने जाते ही वह उनपर प्रहार करता है और जैसे चन्द्रोदयके समय समुद्रमें ज्वार उठ आता है वैसे ही उमाको देखते ही कामके आक्रमणके प्रभावसे शिवने तनिक धैर्य खो दिया। उनका मन विचलित हो उठा और वे उमाके मुखको, उसके कदंबके से लाल भरे होठोंको ललचाई नजरोंसे देखने लगे—

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥६७॥

पिता राजाके संन्यास ले लेने और पुत्र राजाके राज्यारोहणसे उत्पन्न स्थितिका वर्णन कविने सुन्दर उपमासे किया है । दोनों जीवित हैं, पिता भी पुत्र भी, एक तिरोहित हो रहा है दूसरा उदीयमान । एक डूबता हुआ चाँद है दूसरा उगता हुआ सूर्य । आकाशमें कभी-कभी ही ऐसी स्थिति आती है जब चन्द्रमा और बालरविके गोले एक साथ दोनों क्षितिजों पर दिखलाई देते हैं । संसारमें भी एक साथ दो राजा कम दिखाई देते हैं, एकके मर जानेके बाद ही दूसरा गद्दी चढ़ता है, पर सूर्यवंशके राजाओंमें संन्यास लेकर राज छोड़ देनेसे जब तब यह स्थिति आ जाती थी । रघुके संन्यास और अजके राज्यारोहणसे उसी स्थितिका प्रादुर्भाव हुआ है । तुलना-प्रदर्शन के लिए कविने जो "तुला" शब्दका उपयोग किया है उससे भी एक ध्वन्यात्मक चमत्कार उसने सिरज दिया है—नभमें लगता है जैसे तुला (तराजू) टँग गई है जिसके दोनों बड़े-बड़े गोल पलडे चाँद और सूरज हैं—

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥
॥रघु० ८, १५॥

इसी प्रकारकी एक और उपमा 'रघुवंश' के ग्यारहवें सर्गमें दी गई है । राम और परशुराम आमने-सामने खड़े हैं, दोनोंने एक दूसरेकी शक्ति पहचान ली है । रामका तेज बढ़ चला है, परशुरामका घट चला है, और इस प्रकार खड़े हुए वे ऐसे लगते हैं जैसे संध्याकालके चाँद और सूरज, जब एक उग रहा होता है, दूसरा डूब रहा होता है, जिन्हें पर्वके दिन आकाशमें एक साथ स्थित देखनेके लिए जनता उमड़ पड़ती है—

तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥८२॥

उमाके बढ़ते गात और उसमें रमते सौंदर्यकी उपमा बढ़ते चन्द्रमा और उसकी फैलती चाँदनीसे दी गई है। जिस प्रकार चन्द्रमाकी कला दिन-दिन बढ़ती है उसी प्रकार उमाका शरीर धीरे-धीरे बढ़ने लगा, और जैसे चाँदनी के बढ़नेके साथ चन्द्रमाकी कलाएँ अलक्ष्य बढ़ने लगती है वैसे ही जब उमा बढ़ने लगीं तब उनके अंगांगोंमें सौंदर्य भी पुष्ट होने लगा—

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषां ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि॥
॥कु० १, २५॥

रात्रि और चन्द्रमाके संयोगको कविने अत्यन्त मृदुल उपमा द्वारा व्यक्त किया है—रात हो जानेसे अँधेरा हो गया है, कमल मुँद गये हैं। चाँद निकलता है और चाँदनी फैल चलती है, धीरे-धीरे अन्धकार चन्द्रमाकी किरणोंसे मिट चला है। किरणोंको कर या हाथ भी कहते हैं, सो कविके मानसमें एक मधुर कल्पना जगी। उसने रजनीको नायिका माना और फैले अन्धकार को उसके मुखपर फैले हुए केश, चन्द्रमाको नायक और उसकी किरणोंको उसकी उँगलियाँ। गोया चंद्रमा रजनीके अंधकाररूपी केशसंचयको अपनी किरणरूपी उँगलियोंसे धीरे-धीरे हटाकर प्रियाका मुख चूम रहा है, और रजनी लज्जावश अपने कमलरूपी नयन मूँदे पड़ी है। उसके लज्जावश अपने नेत्र मूँद लेनेसे ही कमल रात्रिमें जैसे मुँद जाते हैं—

अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥
॥कुमार० ८, ६३॥

इसी प्रकार एक दूसरे छंदमें कविने अनेक उपमाएँ एक साथ दे दी है। राक्षससे पुरूरवा द्वारा उर्वशीकी रक्षा हो चुकनेपर भी वह भयके मारे आँखें नहीं खोल पाती और राजा उसे समझाता हुआ कहता है—भयका कारण नष्ट हो गया देवि,

तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं
निशावसाने नलिनीव पङ्कजम् ॥
॥विक्रमो० १, ६॥

इससे नयन खोलो, अपने बड़े-बड़े नयन जैसे रातके बीतनेपर नलिनी अपने फूलकी पंखड़ियाँ खोल देती है। और फिर राजा कहता है—

आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रि-
र्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा ।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना
गङ्गारोधः पतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम् ॥
॥ विक्रमो० १, ६ ॥

यह उर्वशी राक्षस के चंगुलसे छूटकर ऐसी लगती है जैसे चन्द्रमाके उगने पर अन्धकारसे छूटी हुई रात, घने धुएँसे छूटी हुई आगकी लपट, जैसे कगारकी मिट्टी गिर जानेसे गँदली हुई पर फिर स्वच्छ होकर गंगाकी पवित्र धारा।

चित्रणके प्रसंगमें कविने उपमा द्वारा नितांत सुकुमार भावोंकी व्यंजना में चन्द्र-मरीचियोंका उपयोग किया है। दुष्यंत परित्यक्ता शकुन्तलाका चित्र बना रहा है, विदूषकके पूछनेपर कि अब और क्या बनाना शेष रह गया है, कहता है—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलंबिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥शाकु०६, १८॥

सखे, अभी गंडस्थलोंपर लटककर पराग बिखेरने वाले शिरीषके फूलोंको मैंने कानोंपर नहीं रचा। अरे अभी तो मैंने स्तनोंके बीच शरद्ऋतुके स्वच्छ चन्द्रमाकी कोमल किरणोंकेसे कमलतन्तु तक नहीं रचा। अत्यन्त नाजुक

खयाल हैं यह। मृणालसूत्र अपने आप नितान्त कोमल होता है, कमलकी डंडी तोड़नेसे जो सूत-सा रेशा खिचता चला आता है वही है मृणालसूत्र। वह स्वयं अत्यन्त कोमल, बारीक और नाज़ुक होता है, पर उसकी उपमा शरत्कालीन चंद्रमाकी कोमल किरणोंसे देकर तो कविने पाठकोंको निहाल कर दिया है। वस्तुतः यह कालिदासकी अपनी उपमा है, इसे बस कालिदास ही संभव कर सकते थे। जैसा करुण प्रसंग है वैसी ही कोमल भावना है, वैसी ही असाधारण मधुर कविकी पदावली है, ललित व्यंजना।

उमाके गठते अवयवोंकी, उनमें पलते-उमगते यौवनकी मदिर उपमा कविनें तूलिकाके स्पर्शसे खिल उठते चित्रसे, सूर्य किरणोंके स्पर्शसे खिल जाते कमलसे दी है, अभिराम कवि-कौशलसे—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥कुमार० १,३२॥

जैसे रँगभरी कूँचीके स्पर्शसे चित्र चमक उठता हैं, जैसे बालरविकी किरणों की परससे अरविन्द खिल उठता है वैसे ही नवयौवनके आगमसे, उसके सहसा फूट पड़नेसे उमाका तन अभिराम हो उठा, उसके अंगांग उमग उठे।

इसी प्रकार सुन्दर उपमा 'कुमारसंभव'के उसी पहले सर्गमें उमा और उनकी माता मेनाको लक्ष्यकर दी गई है। मेना उमाको गोदमें लिये हुए है और कन्याका स्फुरत्प्रभामण्डल, उसके मुख-मंडलसे निरंतर फूटती-बिखरती (स्फुरण होती) आभा माताके रूपको भी आलोकित-चमत्कृत करती, पुष्पवत् खिलाती जा रही है। जैसे विदूर पर्वतकी रत्न-लताओंमें मेघकी गर्जना सुनकर निरंतर अंकुर फूटते जाते हैं और इस प्रकार बराबर रत्नांकुर फूटते रहनेसे वह वैदूर्य-भूमि प्रत्यालोकित होती रहती है वैसे ही कन्याके चेहरेसे, उसके प्रभामंडलसे बराबर आलोक प्रसारित होते रहनेसे माताका चेहरा भी बार-बार खिल उठता था—

तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥२४॥

सन्ध्याके अनेक उपमित वर्णन कालिदासने 'कुमारसंभव' में किये हैं। रजनी दिवसकी यह सन्धि कविको विशेष प्रिय लगी है। आठवें सर्गमें वह कहता है कि संध्या समय सूर्य दूर नीचे उतर गया है, हल्की किरणों वाला उसका बिम्ब जो कुछ कुछ अभी दिखाई दे रहा है वह ऐसा लगता है मानो पश्चिम दिशा कन्या बन गई है और उसने अपने भाल पर ज्वालाभ लाल पराग भरे बन्धुजीव कुसुमका तिलक लगा लिया है—

दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥८,४०॥

पश्चिम दिशाको 'वारुणी' शब्दसे व्यंजित कर कविने दृश्यमें गम्भीर मादकता भर दी है। वारुणीका मदिर दर्शन, अरुण भानुकी दूरसे परसती कोमल किरणें, संध्याका शृङ्गार।

आगे उसी सर्गके ४५ वें श्लोकमें शिव पार्वतीसे कहते हैं—हे कुटिलकेशि, देखो इन करोड़ों लाल-पीले-भूरे बादलोंको, उनके बिखरे असंख्य टुकड़ोंको। लगता है, संध्याने जैसे अपनी तूलिकासे इन्हें इसलिए रँग दिया है कि तुम इन्हें देखोगी—

रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः।
द्रक्ष्यसि त्वमिति सन्ध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥४५॥

कवि फिर सांध्य गगनका वर्णन करता हुआ तिरोहित होते प्रकाश और प्रबल होते अन्धकारका चित्र प्रस्तुत करता है। रक्तिम प्रकाश प्रतीचीकी और छीजता जा रहा है और पूर्वाकाशका अन्धकार धीरे-धीरे पश्चिमकी ओर सरकता आ रहा है। सन्ध्या जैसे तिमिरके बढ़नेसे पीड़ित हो गई है, पकड़ गई है। लगता है जैसे गेरूकी रक्तिम धारा एक ओर बढ़ती जा रही है, और उसके तट पर तमालके वृक्ष अपनी काली छाया डालते जा रहे हैं। शिव पार्वतीको संध्याके तेज़ बदलते दृश्य दिखाते जा रहे

हैं। शामको बढ़ते हुए अन्धकारका बचे हुए निरन्तर डूबते जाते प्रकाशका वह उपमित वर्णन अत्यन्त सजीव है—

तामिमां तिमिरवृद्धिपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम्।
एकतः तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगामिव ॥५३॥

आगेका श्लोक और उसके द्वारा व्यक्त उपमा अत्यन्त चमत्कारी और प्राणवान है, दृश्यको मूर्तिमान कर देने वाला—

सान्ध्यमस्तमितशेषमातपं रक्तलेखमपरा बिभर्ति दिक्।
साम्परायवसुधासशोणितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्झितम् ॥५४॥

यह दूसरी ओरका दृश्य है, पश्चिमाकाशका, जहाँ सांध्य धूपकी बची हुई लाल रेखा ऐसी लगती है जैसे किसीने संग्रामभूमि पर लहू से भरी करवाल तिरछी चला दी हो।

धीरे-धीरे अन्धेरा फैलकर सारे चराचरको अपने काले आवरणमें लपेट लेता है। अब रात्रिका आगम है, न ऊपर कुछ दिखाई पड़ता है न नीचे, न आगे न पीछे। संसार इस प्रकार तिमिराच्छन्न हो गया है, रातके गर्भ में इस तरह ढक गया है कि लगता है जैसे गर्भकी झिल्लीमें लिपटा हुआ शिशु हो—

नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि ॥५६॥

इन्दुमतीके स्वयंबरमें प्रतीहारी सुनन्दा पतिबराको एक राजाके पास से दूसरे राजाकी ओर उसकी इच्छाके अनुकूल लिये जा रही है। लगता है जैसे मानसरोवरकी राजहंसीको पवन द्वारा उठाई लहर एक कमलसे दूसरे कमलकी ओर ले जाती है। निरीक्षणकी क्षमता कविमें असाधारण है—

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥रघु०६, २६॥

स्वयंबर सम्बन्धी एक और उपमा जो कलिदासकी लेखनीसे प्रादुर्भूत हुई हैं संस्कृत काव्यमें बेजोड़ है। इन्दुमती जब राजाओंके बीचके मार्गसे चलती एक राजाकी ओर बढ़ती है तो वह आशासे उल्लसित हो उठता हैं, पर जैसे ही उसके आगेसे वह निकल जाती है वैसे ही उस राजाका चेहरा फीका पड़ जाता है, विवर्ण हो जाता है, और आगेका राजा पहलेका सा आशासे चमक उठता है जब तक कि अपनी उपेक्षाके कुमारी उसे भी विवर्ण नहीं कर देती। कुमारीको राजाओंके बीच इस प्रकार चलनेकी उपमा कविने रातके समय राजमार्गपर दोनों ओरकी अट्टालिकाओंके बीच ले जाई जाती मशालसे दी है, संचारिणी दीपशिखासे, जिसके पास पहुंचते ही आगे-वाली अट्टालिका प्रकाशसे चमक उठती है पर जिसके आगे बढ़ते ही उसका रंग उड़ जाता है, निराशाके अंधकारमें राजाओंकी ही भाँति अट्टालिकाएँ भी डूब जाती है। उपमाके क्षेत्रमें यह संदर्भ सर्वथा लासानी है। मूल पढ़िए और देखिए उसमें इस उपमासे अतिरिक्त भी कितना लालित्य है—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥रघु० ६, ६७॥

रात्रिमें संचारिणी दीपशिखाकी भाँति जिस जिस राजाको छोड़कर वह पतिंवरा आगे बढ़ती गई वह राजा राजमार्गकी अट्टालिकाकी भाँति विवर्ण होता गया।

राजहंसी और कमलके सानिध्य के उदाहरण तो अन्य कवियोकी ही तरह कालिदासके ग्रन्थोंमें भी खूब है। कमलके दंडोंका पाथेय लेकर तो वर्षाकालमें हंसोंके मानसरोवर जानेकी बात कविने पूर्वमेघमें लिखी ही है, ऊपर भी राजहंसीका पवन द्वारा उठाई तरंगसे एक कमलसे दूसरे कमलकी छायामें चला जाना उद्धृत किया जा चुका है। नीचेके श्लोकमें एक अति साधारण उपमासे स्थिति व्यक्त कर कविने सामान्यको अनायास असामान्य कर दिया है—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरा-
त्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती ।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रा-
त्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥विक्रम०१, २०॥

राजा पुरूरवा कहता है कि यह अप्सरा (उर्वशी) आकाशमार्गसे उड़कर जाती हुई मेरे मनको बलात् शरीरसे बाहर खिंचे लिये जा रही है, ठीक वैसे ही जैसे राजहंसी कमलकी टूटी डंडीसे उसका सूत (तन्तु) खींचे लिये चली जाती है ।

उमाके लिए कालिदासकी उक्ति है कि नया दुकूल पहन करमें नया दर्पण लिये गौरी वैसी ही प्रभूत सुन्दर लगी जैसे पूर्णचन्द्रसे प्रकाशित शरद्‌ऋतुकी विभावरी क्षीर सागर के फेनिल तीर पर लगती है—

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा ।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना ॥
कुमा० ७, २६॥

फेनिल अम्बुराशिकी एक बड़ी सुन्दर उपमा कविने आकाशगंगासे दी है । 'रघुवंश' के तेरहवें सर्गमें राम सीताको पुष्पक विमानसे नीचे समुद्रका दृश्य दिखाते हुए कहते हैं—देखो, वैदेहि, देखो, उस फेनिल अम्बुराशिको जिसे मेरे सेतुने मलय पर्वत पर्यत दो भागोंमें बाट दिया है, ठीक वैसे ही जैसे सुन्दर तारोंसे भरे शरद्‌ऋतुके स्वच्छ आकाशको छायापथ (आकाशगंगा) दो भागोंमें बाँट देता है—

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥२॥

'रघुवंश' के चौथे सर्गमें ईरानियोंकी दढ़ियोंकी एक बड़ी यथार्थ उसमा मधुमक्खीके छत्तोंसे दी गई है । रघुने अपनी दिग्विजयके क्रममें जब ईरानियोंसे युद्ध किया तब उसने भल्लवाणोंसे उनके सिर काटकर धरा

पाट दी। उनके दाढी मूछोंसे व्याप्त सिर जमीन पर गिरे हुए ऐसे लगते थे जैसे मधुमक्खियोंसे भरे उनके छत्ते हों—

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥६२॥

इतने तपसे प्राप्त किये पतिसे विवाह होते समय जब पुरोहितने पार्वतीसे अग्निको विवाहकर्मका साक्षी बनाकर क्रिया सम्पन्न करते हुए औपचारिक वाणी कही तब उसे उन्होंने वैसे ही कानों तक नेत्र फैलाकर ग्रहण किया जैसे महीनों गर्मीकी धूपसे जली पृथ्वी वर्षाकी पहली बूँदोंको प्रेम और उत्कंठासे शरीरके रोम रोम खोलकर लेती है और निहाल हो जाती है। उत्कंठित कृतज्ञताका यह वर्णन मनोहर है—

आलोचनान्तं श्रवणे वितत्य पीतं गुरोस्तद्वचनं भवान्या ।
निदाघकालोल्बणतापयेव माहेन्द्रमम्भः प्रथमं पृथिव्या ॥
कुमार० ७, ८४॥

'रघुवंश' के आठवें सर्गमें गोप्य उपमासे कालिदासने प्रशासनकी उचित नीति स्पष्ट कर दी है। महाबाहु अजने प्रशासनार्थ पायी पृथ्वीका शासन नरमीसे करना शुरू किया, उसे उन्होंने दयाके साथ भोगा। नई व्याही बहूकी तरह, जिससे कठोर व्यवहारसे वह घबड़ा न जाय। निर्ममता तो जार करता है, पति नहीं, जार शब्दकी व्युत्पत्ति ही यही है, जो निर्मम व्यवहार द्वारा भोग्यको जीर्ण कर दे। उससे गार्हस्थ्य और रातनीतिकी यह मौलिक मध्यममार्गिया दृष्टि कविने यहाँ प्रस्तुत की—

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥७॥

उसी सर्गके आगे शत्रुओंके साथ भी उसी मध्यम मार्गकी राजनीतिके व्यवहारकी अपने राजाको सलाह दी है—यानी कि इस मध्यम वृत्तिका आश्रय कर शत्रु-राजाओंका विना सर्वनाश किये, बगैर उनकी गद्दी छीने या गद्दी उन्हें लौटाकर, उन्हें झुका कर स्वानुरक्त कर ले, ऐसी नीतिसे

जो न नितान्त प्रखर या कड़ी हो और न ही नितांत कोमल, उस मध्यम गतिसे बहने वाले पवनकी तरह हो जो पेड़ोंको उखाड़ता नहीं बस झुका भर देता है—

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहामिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ।।६।।

कविने एक अत्यन्त करुण स्थितिको एक दैनंदिन दृष्टिगोचर उपमासे स्पष्ट किया है। अजका अपनी पत्नी इन्दुमतीके निधन पर किया हुआ विलाप तो साहित्य प्रसिद्ध है। गुरु वसिष्ठका दार्शनिक संदेश भी जब उन्हें शान्ति प्रदान न कर सका और धीरे-धीरे उनकी काया छीजकर मरणासन्न होती गई तबकी स्थितिका वर्णन बड़ी कुशलतापूर्वक करता हुआ कवि कहता है—

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः
प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं
लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ।।रघु०८,९३।।

जैसे अट्टालिकाके तलको फाड़कर बरगदका प्ररोह निकल आता है वैसे ही मृत पत्नीके वियोगकी शोकरूपी बर्छीने राजा अजका हृदय बलपूर्वक फाड़ डाला। प्राणोंको हरनेवाली और वैद्योंकी औषधियोंसे असाध्य उस बर्छीको भी मरणान्तर प्रियासे मिलनेकी तीव्र उत्कंठामें राजाने अपना हितू ही माना। स्थिति असाधारण करुण है और उसके वर्णनका निर्वाह भी कवि ने उपमाके नये उपकरणोंसे नयी काव्योक्तिसे किया है। इस वर्णनकी गिरा भी अनुकूल मृदुकरुण है।

राम सीताको पुष्पक विमानसे नीचे समुद्रका दृश्य दिखाते हुए कहते हैं—देखो, वह बादल, समुद्रका जल पीने आया है वह, पर नीचे जो जलमें गहरा आवर्त बन गया है और तेजीसे घूम रहा है उसके साथ ही वह

मेघ भी सहसा चक्कर काटने लगा है। और यह गम्भीर भँवर (आवर्त) अत्यन्त सुंदर प्रतीत हो रहा है, लगता है, मन्दराचल देवताओं और दैत्यों द्वारा समुन्द्र-मन्थनकी तरह फिर एकबार सागर मथने लगा हो—

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः॥

रघु० १३, १४॥

वही समुद्रतीर, हे तन्वी, तमाल और ताडके वनोंकी नीली रेखासे दूरके कारण चक्रकी तरह लगता है। पहियेकी हालकी तरह पतला और वनोंसे नीला यह सागर तट लगता है जैसे चक्केकी धार पर मुर्चा बैठ गई हो—

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा॥

रघु० १३, १५॥

आगे राम चित्रकूटकी शोभा बताते हुए कहते हैं, देखो, यह चित्रकूट है जो मुझे सर्वथा वप्रक्रीड़ामें निमग्न गर्वीले साँड़ सा लगता है, अत्यन्त आकर्षक इसकी गुफा ही इसका मुख है जिससे निरंतर निकलती रहने वाली ध्वनि-मयी जलधारा ही साँड़का रँभाना है, उसकी चोटी (कविने द्व्यर्थक शृंग शब्दका यहाँ उपयोग किया है जिसका अर्थ पर्वतकी चोटी और सींग दोनों होता है)-रूपी सींग पर जो बादल मंडरा रहा है वही मानो वप्रक्रीडामें लगे साँड़की सींगमें लगी मिट्टी है। पूर्व मेघके ५२ वें श्लोकमें भी हिमालय की चोटी पर बादलके बैठनेकी उपमा कविने शिवके नंदीकी सींग पर वप्र-क्रीडासे लगी मिट्टीसे दी है—*शोभां शुभ्रत्रितयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्।*

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः॥४७॥

और यह उसी चित्रकूटके तले निर्मल श्वेत मन्दगामिनी धारा मन्दाकिनीकी

है जो दूरसे पतली दीख पड़नेवाली वैसी ही लगती है जैसी भूमिरूपी नायिका के गलेमें पड़ी मोतीकी एकलड़ी माला—

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥४८॥

नीचे यह वही श्याम वटवृक्ष है, जिसकी तुमने कभी पूजा की थी। उसके लाल-लाल गोदे ऐसे लग रहे हैं जैसे नीलमोंकी ढेरमें लालोंकी राशि डाल दी गई हो—

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥५३॥

आगे गंगा-यमुनाके संगमका वर्णन है। कहीं तो यमुनाकी श्याम और गंगाकी श्वेत लहरें आपसमें मिली इन्द्रनील और मोती गुँथी माला-सी लगती हैं, कहीं श्वेत और नीले कमलोंकी माला-सी। कहीं तो वही छटा श्याम और श्वेत राजहंसोंकी मिली पंक्ति-सी लगती है और कहीं श्वेत चंदनके बीच-बीच श्याम अगरसे चिती भूमिके भाल पर भक्ति-विशेषक-सी। कहीं तो ये लहरें वृक्षकी पत्तियोंके बीचसे नीचे झाँकती तमोन्मीलित चाँदनी-सी लगती है, कहीं शरद्के उन श्वेत बादलोंकी तरह जिनके बीच नील गगन झलक जाया करता है, और कहीं-कहीं वही धाराएँ उस भस्मावृत श्वेत शिव-शरीर-सी लगती हैं जिसपर काले-काले भुजंग भूषण बनकर लिपटे हों—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥५४॥

क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥५५॥

क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शवलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥५६॥

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥५७॥

इसी प्रकार यमुनाकी श्याम लहरोंसे गंगाकी श्वेत धारा साफ भिन्न हो गई है ।

'रघुवंश'के अंतिम सर्गमें सूर्यवंशके अंतिम विषयी राजा अग्निवर्णके निधनका वर्णन करते हुए उस विनष्ट राजकुलकी दशा नितान्त सार्थक और रुचिर उपमाओंसे उपमित की है—

व्योम पश्चिमकला स्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव धर्मपल्वलम् ।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥५१॥

राजा अग्निवर्णके क्षयरोगसे ग्रसित हो मरणोन्मुख हो जाने पर सूर्यकुलकी वही दशा हो चली जो चतुर्दशीकी बची एक कला वाले चंद्रमासे आकाशकी होती है, जो कड़ी गर्मीमें घामसे सूखी कीचड़ मात्र अवशेष तालाबकी होती है, जो तेल चुक जाने पर सर्वथा छीजकर छोटी हो गई वत्तीकी लुप्तप्राय लौसे दीपककी होती है ।

हिमालयका वर्णन करते समय कालिदासने 'कुमारसंभव'के पहले श्लोक में ही प्रौढ़ उपमाका उपयोग किया है । कहते हैं कि हिमालय नामका यह पर्वतोंका राजा देवभूमि उत्तर दिशामें पूर्व और पश्चिम समुद्रोंमें प्रविष्ट-सा पृथ्वीको नापनेका लट्ठा (मानदंड) बना पूरबसे पश्चिम पड़ा हुआ है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥१,१॥

उमाके विवाहके समय गुरु द्वारा बताये जाने पर जब खीलोंसे उठा धुआँ अंजलिबद्ध करोंसे उसने सूँघा तब कपोलोंकी ओर बढ़ता वह घूंघरदार धुआँ उसके कानोंको स्पर्श कर क्षण भर उसका कर्णफूल बन गया ।

सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्वदनं निनाय ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥७,८१॥

'अभिज्ञान शाकुन्तल'में राजाने जब कण्वाश्रमसे दरबारमें लाई शकुन्तलाको घूँघट काढ़े (अवगुंठनवती) ऋषिकुमारोंके बीच देखा तब स्वतः ही उसे तथ्य जाननेकी उत्कंठा हुई और उसने अपने आपसे पूछा—यह कौन है घूँघट काढ़े तपोधनोंके बीच चलती, जिसका लावण्य घूँघटके कारण पूरा-पूरा खुल नहीं पा रहा है, जो वस्तुतः पीले पत्तोंके बीच अधढकी कली-सी दीख रही है। तपस्वियोंकी साधना उनका रंग पीताभ कर रही थी, उनकी तुलना पीले सूखे पत्तोंसे देना बड़ा सार्थक है, और उनके बीचकी शकुन्तलाकी उपमा कलीसे भी—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनाना किसलियमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥५,१३॥

'विक्रमोर्वशीय'के पाँचवें अंकमें पक्षी जब हेमसूत्र (सोनेकी जंजीर)को लेकर उड़ जाता है उसकी चोंचसे लगी स्वर्ण जंजीर और उसमें पिरोई मणिके रूपका तब कविने सुन्दर वर्णन किया है, उससे निकलती आभाका चित्र प्रस्तुत कर दिया हैं—

असौ मुखालम्बितहेमसूत्रं
बिभ्रन्मणिं मण्डलशीघ्रचारः।
अलातचक्रप्रतिमं विहङ्ग-
स्तद्रागलेखावलयं तनोति ॥२॥

अपनी चोंचसे हेमसूत्र लटकाये स्वयं तेज़ीसे चक्कर काटते समय यह विहग जो सूत्रकी मणि द्वारा प्रकाशमंडल बना रहा है, जैसे कोई आगका लूक लेकर उससे लपटका लाल चक्कर खींचे दे रहा हो।

कालिदासकी उपमाएँ साहित्य प्रसिद्ध हैं। उपमाएँ तो छंद-छंदमें है, पर उन सबोंको उद्धृत कर सकना यहाँ संभव नहीं। इससे यहाँ केवल कुछकी ओर संकेत किया गया है।

●

: अध्याय ७ :

कहावतें

साहित्यके समीक्षकोंने कहा है कि साहित्यकार उसी मात्रामें महान् होता है जिस मात्रामें उसमें अपनी उक्तियोंको कहावतोंके रूपमें प्रचलित कर देनेकी क्षमता होती है। वाल्मीकि और व्यासकी अनेक सूक्तियाँ इस प्रकार प्रचलित हो गई हैं। शेक्सपियर और आस्कर वाइल्डकी भी अनेक सूक्तियाँ आज लोगोंकी ज़बानपर हैं। गोस्वामी तुलसीदास तो इस दिशामें सर्वथा बेजोड़ हैं। पर कहावतोंके प्रचलन और उनकी सुष्ठु विलक्षणतामें संसारके कवियोंमें कालिदासका सानी पाना प्रायः असंभव है। सदियों-सहस्राब्दियों संस्कृत में और संस्कृतके माध्यमसे प्रांतीय भाषाओं हिन्दी आदिमें वे कहावतें किसी न किसी रूपमें प्रचलित रही हैं। नीचे कालिदास के ग्रन्थोंसे संकलित कहावतें दी जाती हैं।

मानवीय जीवनकी असारता, उसके अनिश्चित प्रारब्ध और सुख-दुःख की अनेकांततापर कालिदासके अनेक सुभाषित हैं जो कहावतोंकी तरह प्रचलित हो गये हैं। आदमी कभी दुःख झेलता है कभी सुख भोगता है कवि पूछता है भला कौन है ऐसा जिसने सदा सुख ही देखा या एकान्तिक दुःख ही झेला? अरे यह तो संसार है जहाँ सुख और दुःख (रथके) चक्केकी तरह कभी ऊपर कभी नीचे होते रहते हैं—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।।उत्तरमेघ, ४८।।

अपनी पत्नी इंदुमतीके मर जानेपर प्रियाको मारनेवाली माला अपने गले में डाल राजा अज कहते हैं—यह माला यदि जीवन हरनेवाली है तो भला मेरे पहन लेनेपर मुझे क्यों नहीं मार डालती, अरे बात तो असल यह

है कि कहीं विष भी ईश्वरेच्छासे अमृत हो जाता है कहीं अमृत ही विष—

विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥रघु०८,४६॥

उसी प्रसंगमें अज अपनी मृत प्रियाका संबोधन कर कहते हैं कि अभी तुम्हारे मुखपर सुरतजनित पसीनेकी बूँदे तक नहीं सूखीं और तुम चल बसीं ! धिक्कार है देहधारियोंकी इस असारताको !

धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥५१॥

तप करती हुई उमा ब्राह्मणरूपी शिवके पूछनेपर कहती है कि वेदोंके महान् ज्ञाता वरेष्ठ, सही सुना है आपने । यह तपकी साधना मैं उन्हीं शिवकी प्राप्तिके लिए कर रही हूँ । जानती हूँ कि साध मेरी बड़ी है फिर भी इस असाधारण पदके लिए उत्सुक हूँ, आखिर मनोरथोंकी तो सर्वत्र गति है, कोई दूरी नहीं जिसे वे सर न कर सकते हों, साधोंकी कोई सीमा नहीं होती—

मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥कुमार०,६४॥

जब शिवने अपना प्रकृत दर्शन उमाको देकर कहा कि हे अवनतांगि, आजसे मैं तुम्हारा दास हुआ, तुमने मुझे अपने तपसे खरीद लिया, तब उमाका सारा तपजनित कष्ट जाता रहा । कारण कि सफलता अपने साधक क्लेशका मार्जन कर देती है, फल प्राप्त हो जानेसे क्लेश नष्ट हो जाता है, शरीर फिर नवताको प्राप्त होता है—

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥८६॥

कुछ नीति-उपदेशपरक उक्तियाँ भी कहावत बन गई हैं । 'रघुवंश'के दूसरे सर्गमें गायकी रक्षामें संन्नद्ध राजा दिलीप और सिंहके वार्तालापके प्रसंगमें सिंह राजासे कहता है कि तुम तो मुझे विचारमूढ़ लगते हो जो एक तुच्छ गायके बदले अपने इतने बड़े राज्य, नवयौवन और सुंदर शरीर-को छोड़नेको तैयार हो गये हो । यह तो थोड़ेके बदले अधिक की हानि करनी है—

अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्—४७॥

इसलिए तुम कल्याणकी परम्परा सिरजने वाली अपनी इस ऊर्जस्वित सुंदर देह की रक्षा करो और जानो कि समृद्ध राज्य ही इंद्रपद है, स्वर्ग बन जाता है—

ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

उसी काव्यके चौदहवें सर्गमें सीताको वनमें छोड़ आनेकी अग्रजकी आज्ञा लक्ष्मण यह सोचकर चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं कि आज्ञाकरणका कार्य बड़ा कठिन होता है, परशुरामको पिताकी आज्ञासे अपनी माताकी हत्या करनी पड़ी थी और पिताकी मृत्युके बाद राम ही उनके स्थान पर हैं इससे उनकी आज्ञा अनुल्लंघनीय है, माननी पड़ेगी। बड़ोंकी आज्ञामें छोटे गुण-दोष नहीं निकाल सकते—

आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥४६॥

कालिदास हिमालयकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं, उसकी गुणराशिमें यह एक दोष जरूर है कि वह हिमाच्छादित है, बर्फसे भरा। पर एक दोष तो गुणोंकी राशिमें खो ही जाता है जैसे चन्द्रमाकी अनन्त किरणोंमें उसका धब्बा रूप कलंक—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥
कु० १, ३॥

जब तपके लिए उमा स्नानान्तर वल्कल पहन कठोर तपकर्ममें निरत हुई तब बड़े-बड़े ऋषि मुनि उसके दर्शनोंके लिए आने लगे। कारण कि जो ज्ञान और धर्मसे वृद्ध है वही युवा होते हुए भी महान् है, धर्मवृद्धों की आयु नहीं देखी जाती—

न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥कुमार० ५, १६॥

ब्रह्मचारी रूपधारी शिव जब उमाके निकट आते हैं तब पूछते हैं, धर्म-

क्रियाओंके लिए समिधा (ईंधन) कुश आदि और स्नानके लिए जल तो यहाँ सुलभ है ? और भला अपनी शक्तिके अनुकूल ही तो तप करती हो ? क्योंकि यह कभी न भूलना कि धर्मकी क्रियाएँ करनेमें पहला साधन शरीर है, वह बना रहेगा तभी धर्म सधेगा—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥५,३३॥

नारियोंके सम्बन्धमें भी कालिदासके कुछ उद्‌गार हैं, साधारण उदार और उनके नायक सामान्यत: उनमें और पुरुषोंमें भेदभाव नहीं करते। सप्तर्षियोंके साथ जब वसिष्ठकी पत्नी अरुन्धती भी शिवके पास आती हैं तब शिव उन्हें उन्हीं ऋषियोंकी तरह आदर देते हैं, स्त्री-पुरुषमें भेद नहीं करते क्योंकि सज्जनोंमें तो चरित्र ही पूजनीय होता है—पुरानी परम्परा है—*गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः*। गुणियोंमें पूजाकी वस्तु उनके गुण होते हैं, न लिंग न आयु। सो कालिदास भी कहते हैं—

स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥कुमार० ६, १२॥

उस अरुंधतीको देखकर शम्भुके मनमें पत्नीके प्रति आदर हुआ। वे जानते थे कि आखिर धार्मिकोंकी धार्मिक क्रियाओंकी मूलप्रेरक और कारण सत्पत्नी या पतिव्रता धर्मपत्नी ही होती है—

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥कुमार०,६,१३॥

'कुमारसंभव' के चौथे सर्गमें पतिके लिए विलाप करती हुई मदनकी विधवा रति कहती है कि चाँदनी चन्द्रमाके साथ ही चली जाती है, बादलके साथ ही उसकी बिजली भी लुप्त हो जातो है, फिर जब इस तरहका अचेतन पदार्थों तकमें व्यवहार होता है तब भला चेतन होकर मैं अपने पतिके शवके साथ सती क्यों न हो जाऊँ ? प्रमदाएँ तो आखिर पतिकी राह हीं पकड़ती हैं—

प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

समूचा श्लोक असाधारण सुंदर है, ललितपदोंसे समन्वित, इससे उसका यहाँ पूरा उद्धरण समीचीन होगा—

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ।।३३।।

नारीके रूपमण्डनका उद्देश्य बताते समय कालिदासने पार्वतीके प्रसाधनका प्रसंग चुना है। पार्वती अपने विवाहार्थ उपयुक्त प्रसाधनसे मण्डित हो चुकी है। अब जो वह अपना अनिन्द्य रूप दर्पणमें देखती है तो उसे शिवको दिखानेके लिए आतुर हो उठती हैं क्योंकि, कवि कहता है, नारीके वेश और शृंगारका उद्देश्य यही है कि उसका प्रिय पुरुष उसे भर नज़र देख ले—

स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः ।।७,२२।।

उसी स्थितिको उसी 'कुमारसंभव' के पाँचवें सर्गमें विशेष रूपसे अभिव्यक्त किया है। अपने सारे कामोद्दीपक रूप और वेशके बावजूद जब पार्वतीने स्वयं कामदेवको पिताकी क्रोधाग्निमें अपने सामने हो जलते देखा तब रूपकी शक्तिसे उसकी आस्था हट गई, वह हृदयसे रूपकी निन्दा करने लगी, क्योंकि आखिर सौन्दर्यकी सफलता तो प्रियको रिझा लेनेमें ही है न। उसका सौभाग्य तो प्रियको आकृष्ट करके ही फलता है, फिर भला उस सुघराईका अर्थ क्या जो प्रियाको रिझा न सकी?

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।।७,१।।

'रघुवंश' के छठे सर्गमें स्वयंबरके प्रसंगमें जब इन्दुमती अजके समक्ष जाकर खड़ी होती है तब कालिदास उसकी उपमा रत्नसे और अजकी रत्न जड़नेकी भूमि स्वर्णसे देते हैं। सुनन्दा इन्दुमतीको अजके सामने खड़ीकर उससे कहतीं है—कुलसे, रूपसे, नई आयुसे सभी प्रकार अज तुम्हारे योग्य है, इन्हें वरो, जिससे कंचन रत्नको प्राप्त करे—

रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ।।७९।।

'कुमारसंभव' के पाँचवें सर्गमें ब्रह्मचारी उमाके तपका उद्देश्य अनुमित करता हुआ पूछता है—यदि स्वर्गकी इच्छासे तुम्हारा यह तप है तो व्यर्थ ही है क्योंकि देवताओंकी वासभूमि तो तुम्हारे पिता हिमालयका शरीर ही है, और यदि पतिके लिए यह तप है तब भी व्यर्थ ही है, विरमो इससे, काफी हो चुका, क्योंकि आखिर रत्न खोजा जाता है, रत्न स्वयं अपने पाने वालेको नहीं खोजता फिरता—

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥४५॥

इसी दृष्टिकोणको कविने अन्यत्र (शाकुन्तल, ३, ११,) अभिव्यक्त किया है। राजा कहता है, हे भीरु, जिससे तुम अनादृत होनेकी शंका करती हो वह स्वयं तुमसे मिलनेको अतीव आतुर और उत्कंठित है। जो लक्ष्मी को खोज रहा हो संभव है उसे लक्ष्मी न मिले, पर जिसे स्वयं लक्ष्मी खोज रही हो भला कैसे हो सकता है कि वह लक्ष्मीको न मिले ?

लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥

रूढ़िवादी परंपराको ध्वनित करते हुए एक स्थानपर कालिदासने नारीको स्वभावसे ही चतुर और अपना काम निकालनेवाली कहा है। वैसे यह स्थल उदारचेता कविने केवल नाटकीय व्यंग्य और सामाजिक अनीति बढ़ानेके लिए ही सिरजा है। दुष्यंत गौतमीसे कहता है कि जो मानवी न होकर साधारण चेतन विहगी तक हैं उनमें भी स्वभावसे ही चालाकी भर जाती है। उन्हें कुछ सिखाना नहीं पड़ता। देखिए न कोयल को ही, जब तक उसके बच्चे आकाशमें उड़ने योग्य नहीं हो जाते तबतक वह उन्हें अन्य पक्षियोंसे ही पोसवाती है। फिर मानव नारीके क्या कहने ?

प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥५, २२॥

कुछ युक्तियाँ कविकी मंगलात्मक और स्वस्तिवाचक भी हैं जो अब

कहावत बन गई हूँ और जिनका प्रयोग लोग प्रसंगतः करते हैं। उदाहरणार्थ 'कुमारसंभव' के सातवें सर्गमें उमाको दिया हुआ आशीर्वाद—*अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः* (२८)—अक्सर सुननेमें आता है। 'पतिका अखंडित प्रेम प्राप्त करो'—यह आशीर्वाद कानोंको जितना प्रिय लगता है जीवनमें श्रेयस्कर भी उतना ही है। विवाहके प्रसंगमें इससे अधिक कल्याणकर आशीर्वाद नहीं हो सकता, न कोई इससे अधिक प्रेय मंगलकामना ही कर सकता है। जीवनकी अनेक गुत्थियाँ अनायास सुलझ जायँ अगर नारीको उसके पतिका अखंड प्रेम प्राप्त होता रहे।

इसी प्रकार महर्षि कण्वकी पतिके घर जाती हुई शंकुतलाके प्रति उसकी विदाके समयकी मंगलकामना—*शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः*—शान्त और अनुकूल पवन हो, तुम्हारी यात्रा निर्विघ्न हो, राह कल्याणकर निष्कंटक हो—*'शिवास्ते पन्थानः सन्तु'* की ही भाँति साधारण व्यवहारकी उक्ति बन गई है। वास्तवमें समूचा श्लोक ही उस अवसरके लिए पुनीत कल्याणकर विदाकामनाका प्रतीक है—

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥४,१०॥

इस शकुन्तलाके मार्गमें थोड़ी थोड़ी दूर पर नील कमलोंसे श्यामल सरोवर हों, सूर्यकी प्रखर धूपको सह्य और निष्फल बनाने वाले, उससे पनाह देनेवाले, घनी छायावाले वृक्ष हों, राहकी धूल कमलके पराग-सी कोमल हो जाय, शांत और शीतल बयार बहे, यात्रा निर्विघ्न हो !

अत्यन्त शिष्ट और कोमल भावनासे युक्त यह अनुग्रह-ज्ञापिका वाणी है—*तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः*—सारी संपदाएँ आपकी कृपाके आगे-आगे चलती हैं। दुष्यंत मरीचिके आश्रममें शकुन्तलासे मिलने जाते हैं,

वहीं महर्षिके स्वस्तिवचनके उत्तरमें परम अनुग्रहीत प्रतिवचन बोलते हैं—भगवन्, आपकी कृपाका परिणाम अनुग्रहसे पूर्व ही दिखने लगता है। संसारका साधारण नियम है कि फूल पहले लगता है फल पीछे, पहले बादल आते हैं फिर जल बरसता है, कारण और कार्यका यही साधारण नियम है, पर आपके प्रसादने अपने सम्बन्धमें वह नियम बदल दिया है क्योंकि प्रसाद (कृपा) आपका पीछे होता है पर उससे उत्पन्न होनेवाली समूची संपदा, सारा सुख, पहले ही आ उपस्थित होता है। महर्षिके दर्शनसे पूर्व ही दुष्यंतका जो शकुन्तलासे साक्षात्कार हो गया था उसीके प्रति यह संकेत है—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ॥शाकु०७,३०॥

औदार्यादि शालीन गुणोंकी प्रतिष्ठा करते हुए कालिदासने राजा दिलीपके लिए लिखा है कि औरोंके लिए तो महज़ कहनेकी बात है पर उस राजाको तो निश्चय ब्रह्माने "क्षिति जल पावक गगन समीरा" पंचभूतों प्रकृति (महाभूत) की समाधियों (उपकरणों) से बनाया था—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ॥ (रघु०,१, २९) ॥

और यह पंक्ति महामना प्राणियोंके स्वभाव-परिचयके लिए आज रूढ़ि हो गई है। इसी प्रकार मगधराजकी प्रशंसा करते हुए कविने जो कहा है—सही, संसारमें राजा तो हज़ारों हैं पर पृथ्वी राजन्वती इन्हींके संपर्कसे हुई है, जैसे ग्रह, नक्षत्र और असंख्य तारोंके होते भी चाँदनी रात तो चंद्रमासे ही संभव होती है—वह सभी साधारण व्यक्तित्वोंके संबंधमें चरितार्थ होता है—

नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥

रघु० ६, २२॥

"समरथको नहीं दोस गोसाईं" का एक रूप कालिदासने समाधिस्थ शिवकी निर्विघ्नतामें चरितार्थ किया है—

आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥

कु० ३, ४०॥

कहावत बन जानेवाली कविकी उक्तियोंमें एक वह है जो ब्रह्मचारी रूप शिवने उमासे कहा है—आपके अतिथि सत्कारसे ही आपका और मेरा संबंध स्थापित हो गया है, इसीसे तो मनीषियों (विचारवानों) ने कहा है कि सज्जनोंकी मित्रता सात शब्द बोलने (या साथ-साथ सात पग चलने) मात्रसे, मिलन मात्रसे हो जाती है—

यतः सतां सन्नतगात्रि सङ्गतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥

कुमार०, ५, ३९॥

इसी प्रकार कविकी यह सूक्ति भी सुभाषित बन गई है—

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥

वही ७५॥

मन्दबुद्धि ओछे लोग तो महात्माओंके जिन अलौकिक कार्योंको समझने तककी योग्यता नहीं रखते उनकी भी निन्दा करते हैं। फिर उसी प्रसंगमें कविने उमाके मुँहमें जी बड़ोंकी निन्दा सुनकर पापका भागी होनेकी बात रखी है वह भी आम दृष्टान्त बन गई है—

न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्

॥८३॥

केवल वही पापका भागी नहीं होता जो बड़ोंकी निन्दा करता है वरन् वह भी होता है जो उस निन्दाको सुनता है। नीचेके श्लोकके तो तीन-तीन

चरण, एक साथ और अकेले-अकेले भी कहावत बन गये हैं, और लगते भी सर्वथा नीतिके श्लोक जैसे हैं--

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥शाकु०५,१२॥

फलोंसे लदकर वृक्ष सिरसे झुक जाते हैं, नये जलसे भरे घन बहुत नीचे लटक आते हैं, सज्जन समृद्धियोंके कारण विनम्र हो जाते हैं, घमंड नहीं करने लगते, परोपकारियोंका यह स्वभाव ही होता है। महात्माओंके विपरीत रीते लोगोंकी जो व्याख्या कालिदासने पूर्वमेधमें की है वह भी उस दिशामें दृष्टांत बन गया है—मेघ बरस जानेसे तुम हलके हो जावोगे, इससे जामुनोंके वनसे होकर रुक-रुककर बहने वाली मस्त हाथियोंके तीते जलसे सुवासित नर्मदाका जल पीकर अपने उद्दिष्ट पथ पर चलना। तब हवा भी तुम्हें भारी होनेके कारण इधर-उधर पटकती नहीं चलेगी, क्योंकि रीता, सारहीन, जानते ही हो, सर्वत्र छोटा होता है और पूर्ण इसके विपरीत गौरवान्वित—

रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥२०॥

'लोगोंकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है'—*भिन्नरुचिर्हि लोकः*—यह वाक्य सर्वथा साधारणीकृत कहावत बन गया है। अंगराजसे स्वयंवरमें दृष्टि हटाकर जब इन्दुमती कहती है, आगे चल, तब सुनन्दा कहती है, ऐसा नहीं कि वह राजा सुंदर न रहा हो, ऐसा भी नहीं कि पतिवराने उसे समुचित रूपसे देखा न हो, पर बात असल यह है कि सबको सब नहीं रुचते, भिन्न-भिन्न रुचि होती है—

नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥
रघु०६,३०॥

'मुँहमें राम बगलमें छुरी' की पूर्ववर्ती कहावत कालिदासने ही अपने 'रघु-

वंश'के सातवें सर्गमें स्वयंवरमें हारे राजाओंके संबंधसे लिख दी है—सरोवरकी तरह जिसकी सतह शान्त सुस्थिर सुंदर होती है पर जिसके नीचे भयानक क्रूर मगर छिपे रहते हैं—

ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ॥३०॥

जानेके लिए तत्पर पर सकारण पाँव न रख पानेसे किंकर्तव्यविमूढ़ व्यक्तिके पाँव उठे रह जानेको कविने जिस कुशलतासे व्यक्त किया है वह स्वयं असाधारण उदाहरण बन गया है—*न ययौ न तस्थौ*—न जा सकी न रुक सकी। समूचा भाव और भारतीमें अनूठा वह श्लोक इस प्रकार है—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥कुमार०,५,८५

ब्रह्मचारीने जब अपना स्वाभाविक शिवका रूप धारण कर लिया तब तो पार्वतीके कँपकँपी हो आई, पसीना छूट चला, और जानेके लिए जो उसने पैर उठाया तो उसे वह रख न सकी, मार्गमें आगये पहाड़से रुक जानेवाली नदीकी तरह पर्वतराजकी कन्या न तो जा ही सकी न रुक ही सकी। कविकी अनेक नीतिपरक कहावतोंमें एक यह है—

न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते (कुमार०, ५,८२)—

जब किसीका मन किसीमें रम जाता है तब वह किसीकी सलाह नहीं सुनता। कई बार तो उचित-अनुचितका मान भी नहीं होता और मन विवेकाविवेककी दुविधामें पड़ जाता है। ऐसी ही स्थितिमें शकुन्तलाको देखकर दुष्यन्त दुविधामें पड़ गया है, वह कहता है—यह जो अति मनहर रूप वाली सुन्दरी मेरे सामने है। इससे पहले मैंने विवाह किया हो यह याद नहीं आता। स्थिति मेरी ठीक उस भौंरे की-सी हो गई है जो प्रातः-

कालीन ओससे भरे कुन्दके फूल पर न तो बैठ ही पाता है, न उसे छोड़कर जा ही पाता है—

भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्दस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥शाकु० ५,१६॥

फिर क्या करे आदमी, जब मन कहीं रम जाय, प्रमाण किसे माने ? संभवत: उसे ही जिसे दुष्यन्तने माना और जो उसका वक्तव्य लोगोंके लिए स्वयं प्रमाण बन गया—अन्तःकरण। जहाँ संदेहकी बात हो जाय, विवेकाविवेक की बात आ पड़े वहाँ सज्जन अपने अन्तःकरणकी रुझानको ही प्रमाण मानते हैं—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥शाकु० १,१९॥

प्रसाधन और अलंकरण सुन्दरको सुन्दरतर कर देते है पर जो आकृतिवान हैं, सुघड़ हैं उनके रूपके मण्डनके लिए मूल्यवान वेशभूषाकी आवश्यकता नहीं होती, रूपवानोंके लिए तो साधारणसे साधारण अलंकरण भी छविपरक बन जाता है, जभी तो शकुन्तला वल्कल तकसे चमक उठती है—

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥शाकु० १,१७॥

समय पर बोई हुई भूमि अन्न उपजाती है इस तथ्यको कालिदासने नीचेके चरणमें ढाल दिया है—

वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ॥वही ६,२४॥

एक स्थल पर (शकु० ५, ६) कालिदासने अत्यन्त हास्यमय व्यंग्य द्वारा स्पष्ट किया है कि वस्तुको पानेकी उत्सुकता उसको पा लेनेसे बड़ी होती है, राज्यकी कामना उसके दायित्वसे कहीं अधिक मधुर है, वरना उसकी रक्षा की परेशानी तो उस छाते की तरह है जो इतना धूपका निवारण

नहीं करता जितना उसका डंडा कभी कन्धे कभी हाथोंको कष्ट पहुँचाता है। सभी छाता लगाने वाले इस वक्तव्यकी सार्थकताको समझेंगे जो कहावत बन गया है—

नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥

महाभारतकी उक्ति—राजा ही युगका निर्माता है—को 'विक्रमोर्वशीय' में दुहरा कर कालिदासने उसे और प्रचलित कर दिया है। *'राजा कालस्य कारणम्'*—विज्ञोंके लिए स्मरणीय हैं।

नीतिपरक उपदेशका एक उदाहरण कविके नीचेके श्लोकमें है—

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरो-
स्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवलजीविकायै
तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥ मालविका०,१,१७॥

आचार्यपद पा लेने पर जो शास्त्रार्थसे भागता है, दूसरोंकी निन्दा भी सह लेता है और केवल जीविकाके लिए अध्यापन कार्य करता है उसको लोग ज्ञान बेचनेवाला बनिया कहते हैं। श्लोकके दोनों पिछले चरण उद्धरणीय हैं। इसी प्रकार निरन्तर कहावतकी तरह उद्धृत किया जाने वाला कविका वह श्लोक है जिसके ज़रिये कालिदासने रूढ़िवादिताको धिक्कारा है, परम्परागत आलोचनाको हेय माना है और उचित सावधिको अनुचित अतीतके ऊपर प्रतिष्ठित किया है—पुराना सभी अच्छा नहीं है, न आधुनिक काव्य केवल आधुनिक कहलानेसे निन्द्य है, समझदार पुराने और नये काव्योंके गुण-दोष परख कर उन्हें सराहते-ठुकराते हैं, मूर्ख दूसरोंकी कही बात ही परम्परया दुहराते हैं—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ वही, १, २ ॥

सरस्वती श्रुतिमहतां महीयसाम्'—विद्वान् कवियोंकी भारतीका सर्वत्र आदर हो ! कविका यह मंगलात्मक वचन साधारण कथन-श्रवणका विषय बन गया है, अनेक सहृदयोंके पत्रशीर्षकोंका भी अलंकरण करता हैं। पूरा श्लोक, जिससे कालिदास अपनी अमर रचना 'अभिज्ञान शाकुन्तल' समाप्त करते हैं, इस प्रकार है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतमहतां महीयसाम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥

राजा सदा अपनी प्रजाका हित साधते रहें, महान् कवियोंकी गरिम वाणीकी सर्वत्र पूजा हो, और अपने आप उत्पन्न होकर सर्वत्र अपनी शक्तिका प्रसार करने वाले नीलकंठ भगवान् मेरा भी आगेका जन्म-बन्धन काटें !

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोकहितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

मुद्रक—सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५.